सचित्र

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अरण्यकाण्ड—४

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए० एस०,

प्रकाशक

रामनारायण लाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००] [मूल्य २)

विषय-सूची

अरण्यकाण्ड

इति

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—:*:—

अरण्यकाण्डः

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्[1] ।
ददर्श रामो दुर्धर्षस्तापसाश्रममण्डलम् ॥ १ ॥

धैर्यवान् और दुर्द्धष श्रीरामचन्द्र जी ने दण्डक नामक महावन में प्रवेश कर, तपस्वियों के आश्रम देखे ॥ १ ॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्मया लक्ष्म्या[2] समावृतम् ।
यथा प्रदीप्तं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम् ॥ २ ॥

इन आश्रमों में जगह जगह यज्ञ में काम आने वाले कुशों के ढेर लगे थे । आश्रमवासियों के चीर जगह जगह सूखने के लिये फैलाये हुए थे । वेदाध्ययन और वैदिक कर्मानुष्ठान के कारण, इन आश्रमों में एक प्रकार का ऐसा तेज व्याप्त था, जिसे राक्षसादि उसी प्रकार नहीं सहन कर सकते थे, जिस प्रकार आकाशस्थ सूर्य का तेज सहन नहीं किया जाता ॥ २ ॥

शरण्यं सर्वभूतानां सुसंमृष्टाजिरं सदा ।
मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसङ्घैः समावृतम् ॥ ३ ॥

---

१ आत्मवान्—धैर्यवान् । (गो०) २ ब्राह्मालक्ष्म्या—ब्राह्मीलक्ष्मीः ब्रह्म-व्याभ्यास जनितस्तेजो विशेषः । (रा०)

ये आश्रम प्राणि मात्र के लिये सुखप्रद आश्रयस्थल थे और स्वच्छ स्थानों से सुशोभित थे। इन आश्रमों में बहुत से हिरन निर्भय घूमा फिरा करते थे और पक्षियों की टोलियां, आश्रमों के वृक्षों पर रहा करती थीं ॥ ३ ॥

पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः।
विशालैरग्निशरणै[1]: स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः ॥ ४ ॥

इन आश्रमों में अप्सराएँ आ कर नृत्य किया करती थीं। वे इन आश्रमों का सम्मान करती थीं, यहां बड़ी लंबी चौड़ी यज्ञशालाएँ बनी थीं; जिनमें अग्निकुण्ड के समीप स्रुवा, यज्ञपात्र, मृगचर्म और कुश रखे हुए थे ॥ ४ ॥

समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम्।
आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥ ५ ॥

इन आश्रमों में समिधाएँ, जल से भरे घड़े, और कन्द मूल फल रखे थे। वनैले बड़े बड़े पेड़ों में स्वादिष्ट और खाने योग्य पवित्र फल लगे थे ॥ ५ ॥

बलि[2]होमार्चितं[3] पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्।
पुष्पैर्वन्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया ॥ ६ ॥

इन सब आश्रमों में नित्य ही बलिवैश्वदेव होता और पवित्र वेद-ध्वनि हुआ करती थी। वहां देवताओं पर चढ़े हुए वनैले फूल बिखरे हुए थे और खिले हुए कमल के फूलों से परिपूर्ण तलैयों से ये सब आश्रम सुशोभित थे ॥ ६ ॥

---

१ अग्निशरणैः—अग्निहोत्रगृहैः। (गो०) २ बलिभिः—भूतबलिप्रभृतिभिः। (गो०) ३ होमैर्वैश्वदेवादिहोमैश्च। (गो०)

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः ।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्[1]मुनिभिर्वृतम् ॥ ७ ॥

इन सब आश्रमों में कन्दमूल फल खाने वाले, चीर और मृगचर्म धारण करने वाले, जितेन्द्रिय, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, तथा वृद्ध मुनिगण वास करते थे ॥ ७ ॥

पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः[2] ।
तद्ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ॥ ८ ॥

ये आश्रम, नियताहारी और पवित्र परमर्षियों से सुशोभित और सदा वेदों के पढ़ने का शब्द होते रहने के कारण, ब्रह्मलोक के समान प्रसिद्ध थे ॥ ८ ॥

ब्रह्मविद्भिर्[3]महाभागैर्ब्राह्मणैरुपशोभितम् ।
स दृष्ट्वा राघवः श्रीमांस्तापसाश्रममण्डलम् ॥ ९ ॥

परब्रह्म का ज्ञान रखने वाले महाभाग ब्राह्मणों से सुशोभित इन आश्रमों को देख, श्रीमान् रामचन्द्र जी ने ॥ ९ ॥

अभ्यगच्छन्महातेजा विज्यं कृत्वा महद्धनुः ।
दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः ॥ १० ॥

अपने बड़े धनुष का रोदा उतार कर, उन आश्रमों की ओर गमन किया। दिव्यज्ञानसम्पन्न महर्षियों ने जब श्रीरामचन्द्र जी को आते हुए जाना ॥ १० ॥

---

१ पुराणैः—वृद्धैः । (गो०) २ परमर्षिभिः—उत्तममुनीनामभिपूजनीयैः । (गो०)
३ ब्रह्मविद्भिः—परब्रह्मज्ञानिभिः । (गो०)

अभ्यगच्छंस्तथा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
ते[1] तं सोममिवोद्यन्तं[2] दृष्ट्वा वै धर्मचारिणः ॥ ११ ॥

तब प्रसन्न हो, वे त्रिकालज्ञ महर्षि श्रीरामचन्द्र और यशस्विनी जानकी जी की ओर चले। उन लोगों ने अन्धकारनाशक चन्द्रमा के समान श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ ११ ॥

लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम् ।
मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन्[3] दृढव्रताः ॥ १२ ॥

साथ में लक्ष्मण तथा यशस्विनी सीताजी को देख, उन दृढ़ व्रतधारी महर्षियों ने तीनों को मङ्गलाशीर्वाद दिया और उनको अपनी रक्षा करने वाले देवता समझ, उनका यथाविधि आदर सत्कार किया ॥ १२ ॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ।
ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥ १३ ॥

वे सब वनवासी ऋषि गण, रामचन्द्र जी के रूप का सौन्दर्य, लावण्य, सुकुमारता और सुवेष को देख, अत्यन्त विस्मित हुए ॥ १३ ॥

[नोट—श्रीरामचन्द्र जी के शरीर और रूप को देख उन महर्षियों को इस लिये विस्मय हुआ कि, ऐसे सुकुमार इस महाघोर वन में क्यों आये हैं।]

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव ।
आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनचारिणः ॥ १४ ॥

---

१ ते—त्रिकालज्ञाः। (गो०) २ उद्यन्तं—सोममिव स्थितं अन्धकारनिवर्तन-प्रवृत्तचन्द्रमिवस्थितं। (गो०) ३ प्रत्यगृह्णन्—संरक्षकेष्टदेवता बुद्ध्याप्रतिगृहीतवन्तः। (शि०)

वे वनचारी ऋषिगण आश्चर्य में आ, श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी जी को बिना पलक झपकाये इकटक निहारते रहे ॥ १४ ॥

अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रतम् ।
अतिथिं पर्णशालायां[1] राघवं संन्यवेशयन् ॥ १५ ॥

तदनन्तर प्राणी मात्र के हित में तत्पर उन महाभाग ऋषियों ने अपूर्व अतिथि श्रीरामचन्द्र जी को लेजा कर अपनी पर्णकुटी में ठहराया ॥ १५ ॥

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः ।
आजहुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः ॥ १६ ॥

अग्नि के समान तेजस्वी, महाभाग एवं धर्मचारी ऋषियों ने यथाविधि श्रीरामचन्द्र का सत्कार कर, हाथ पैर धोने के लिये जल दिया ॥ १६ ॥

मूलं पुष्पं फलं वन्यमाश्रमं च महात्मनः ।
निवेदयित्वा धर्मज्ञास्ततः प्राञ्जलयोऽब्रुवन् ॥ १७ ॥

अनन्तर उन धर्मज्ञ, महात्मा और वन में रहने वाले ऋषियों ने कन्दमूल फल और फूल ला कर अर्पण किये और वे हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ १७ ॥

धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यस्त्वं महायशाः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः ॥ १८ ॥

हे रामचन्द्र ! आप वर्णाश्रम धर्म के पालनकर्त्ता और जनों के रक्षक तथा महायशस्वी हैं। शासनदण्ड धारण करने वाला राजा, गुरुवत् पूज्य और मान्य है ॥ १८ ॥

---

१ पर्णशालायां—स्वपर्णशालायां । (गो०)

इन्द्रस्येह[1] चतुर्भागः[2] प्रजा रक्षति राघव ।
राजा तस्माद्वरान्भोगान्भुङ्क्ते लोकनमस्कृतः ॥ १९ ॥

हे राघव ! राजा इस भूस्वर्ग में इन्द्र का चतुर्थांश है । वह प्रजा की रक्षा करता है, इसीलिये वह सब लोगों का प्रणम्य है और श्रेष्ठ और रमणीय पदार्थों का भोग करता है ॥ १९ ॥

[नोट—राजा को इन्द्र का चतुर्थांश कहने का आधार यह है—

"अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिः कल्पितो नृपः ।"]

ते वयं[3] भवता रक्ष्या भवद्विषयवासिनः ।
नगरस्थो[4] वनस्थो[5] वा त्वं नो राजा जनेश्वरः ॥ २० ॥

हम लोग आपके राज्य में बसने वाले आपकी प्रजा हैं । अतः आपको हमारी रक्षा करनी चाहिये । आप चाहें नगर में रहें, चाहें वन में रहें; आप हमारे राजा हैं । अथवा चाहे आप राजसिंहासनासीन हों या न हों, किन्तु हमारे राजा आप ही हैं ॥ २० ॥

न्यस्तदण्डा[6] वयं राजञ्जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
रक्षितव्यास्त्वया शश्वद्गर्भभूता[7]स्तपोधनाः ॥ २१ ॥

हे राजन् ! हम लोगों ने क्रोध को त्याग कर इन्द्रियों को जीता है । अतः हम शाप द्वारा इन उपद्रवकारियों को दण्ड देने में असमर्थ हैं । अतएव आपको हम सब तपस्वियों की, प्रजा की तरह, सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ २१ ॥

---

१ इह—भूस्वर्गे । (गो०) २ चतुर्भागः—चतुर्थांशः । (गो०) ३ ते वयं—आर्तावयं । (गो०) ४ नगरस्थः—सिंहासनस्थोवा । (गो०) ५ वनस्थः—तद्रहितोवा । (गो०) ६ न्यस्तदण्डा—शापतो निग्रहकरणरहिताः । (गो०) ७ गर्भभूताः प्रजातुल्याः (गो०)

एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैर्वन्यैश्च राघवम्[1] ।
अन्यैश्च विविधाहारैः सलक्ष्मणमपूजयन् ॥ २२ ॥

यह कह कर उन लोगों ने फल फूल कन्द मूल आदि विविध प्रकार के वन में उत्पन्न होने वाले भोज्य पदार्थों से श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण का अतिथि-सत्कार किया ॥ २२ ॥

तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः[2] ।
न्यायवृत्ता[3] यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम् ॥ २३ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

इसी प्रकार वहाँ के उन अन्य सिद्धपुरुषों और तपस्वियों ने जो अपने स्वरूप के विरुद्ध काम्य कर्मों को त्याग चुके थे, और स्वरूपानुरूप कैङ्कर्य करते थे, श्रीरामचन्द्र जी का यथोचित सत्कार कर उनको सन्तुष्ट किया ॥ २३ ॥

अरण्यकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

द्वितीयः सर्गः

—:*:—

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति ।
आमन्त्र्य स मुनीन्सर्वान्वनमेवान्वगाहत ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी अगले दिन सूर्य के उदय होने पर उन सब मुनियों से विदा माँग फिर आगे वन में चले ॥ १ ॥

---

१ राघवमित्यनेन सीतापूजनमप्यर्थं सिद्धः । (गो०) २ वैश्वानरोपमाः—स्वरूपविरुद्धनिषिद्ध काम्यकर्मान्तर त्यागिन इत्यर्थः । (गो०) ३ न्यायवृत्ता—स्वरूपानुरूपकैङ्कर्यवृत्तयः । (गो०)

नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृकसेवितम् ।
ध्वस्तवृक्षलतागुल्मं दुर्दर्शसलिलाशयम् ॥ २ ॥

निष्कूजनानाशकुनि झिल्लिकागणनादितम् ।
लक्ष्मणानुगतो रामो वनमध्यं ददर्श ह ॥ ३ ॥

उस वन में अनेक प्रकार के जीव जन्तु थे तथा शार्दूल और भेड़िया घूमा फिरा करते थे। उस वन में कहीं भी न वृक्ष, न लता, न गुल्म दिखलाई पड़ते थे। तालाबों का जल सूख जाने के कारण वे केवल भयङ्कर ही नहीं देख पड़ते थे, बल्कि जलाभाव के कारण वहाँ किसी पक्षी की बोली भी नहीं सुन पड़ती थी। केवल झिल्ली की झनकार सुनाई देती थी। चलते चलते सीता, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वन के बीच में पहुँच, वहाँ का यह भयङ्कर दृश्य देखा ॥ २ ॥ ३ ॥

वनमध्ये तु काकुत्स्थस्तस्मिन्घोरमृगायुते ।
ददर्श गिरिशृङ्गाभं पुरुषादं महास्वनम् ॥ ४ ॥

जंगली पशुओं से सेवित उस घोर वन के बीच पहुँच, श्रीरामचन्द्र जी ने पहाड़ की चोटी के समान लंबा, नरमांसभक्षी, महाशब्द करनेवाला एक राक्षस देखा ॥ ४ ॥

गम्भीराक्षं महावक्त्रं विकटं[1] विषमोदरम्[2] ।
बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५ ॥

उस राक्षस की आँखें माथे के भीतर बहुत गहरी घुसी हुई थीं, मुँह बहुत लंबा था, उसका शरीर विशाल था, पेट ऊँचा नीचा था,

---

१ विकटं—विशालं। (गो०) २ विषमोदरं—निम्नोन्नतोदरं। (गो०)

उसकी आकृति बड़ी घिनौनी थी। उसका शरीर टेढ़ा मेढ़ा था, ऊँचा नीचा, खाली भरा हुआ था अर्थात् उसके शरीर का एक भी अंग एक सा न था। अतः वह देखने में बड़ा भयङ्कर जान पड़ता था ॥ ५ ॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसार्द्रं रुधिरोक्षितम् ।
त्रासनं सर्वभूतानां व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

वह राक्षस रुधिर से भींगा हुआ व्याघ्र का चमड़ा ओढ़े हुए था। जब वह अपना मुँह फैला कर जमुहाई लेता था, तब वह काल की तरह सब प्राणियों को त्रस्त कर देता था अर्थात् उसका खुला हुआ मुख देख सब प्राणी भयभीत हो जाते थे ॥ ६ ॥

त्रीन्सिंहांश्चतुरो व्याघ्रान्द्वौ वृषौ पृषतान्दश ।
सविषाणं वसादिग्धं गजस्य च शिरो महत् ॥ ७ ॥

अवसज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम् ।
स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां दृष्ट्वाथ मैथिलीम् ॥ ८ ॥

वह तीन शेर, चार व्याघ्र, दो बैल और दस बारहसिंहों तथा दाँतों सहित चर्बी से भरा हुआ एक हाथी का मस्तक, जो लोहे के त्रिशूल में विंधा हुआ था, लिये हुए तथा नाद करता और चिल्लाता हुआ देख पड़ा। वह श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को देख, ॥७॥८॥

अभ्यधावत संक्रुद्धः प्रजाः काल इवान्तकः ।
स कृत्वा भैरवं नादं चालयन्निव मेदिनीम् ॥ ९ ॥

अङ्केनादाय वैदेहीमपक्रम्य ततोऽब्रवीत् ।
युवां जटाचीरधरौ सभार्यौ क्षीणजीवितौ ॥ १० ॥

और महाक्रोध में भर, प्रलयकारी काल के समान उनकी ओर दौड़ा। वह महाभयङ्कर राक्षस गर्जन कर, पृथिवी को कँपाता हुआ, सीता को गोदी में उठा और कुछ दूर जा कर कहने लगा— तुम दोनों जटाचीर धारण किये स्त्रियों सहित इस वन में जो आये हो, सो तुम अपने को कुछ ही क्षणों का महमान समझो अथवा अपने को मरा हुआ ही समझो ॥९॥१०॥

[नोट—मूल में "सभार्यौ" द्विवचन में भार्या शब्द का प्रयोग करने से जान पड़ता है कि विराध ने समझा कि, सीता दोनों की भार्या है।]

प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापासिधारिणौ।
कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह॥ ११ ॥

इस दण्डकवन में (तुम सिर्फ जटा चीर धारी बनकर ही नहीं किन्तु) तीर कमान ले और तलवार बांध कर आये हो। फिर जब तुम तपस्वी का रूप (जटाचीर धारण करने से) धारण किये हो, तब यह तो बतलाओ कि, स्त्री के साथ तपस्वियों का रहना कैसे सम्भव है॥ ११ ॥

अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ।
अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः॥ १२ ॥

अतः बतलाओ तुम दोनों अधर्मी, पापी और मुनियों का नाम धराने वाले कौन हो? मैं विराध नामक राक्षस हूँ और इस दुर्गम वन में॥ १२ ॥

चरामि सायुधो नित्यमृषिमांसानि भक्षयन्।
इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति॥ १३ ॥

शस्त्र लिये ऋषि मुनियों के मांस का भक्षण करता हुआ, नित्य घूमा करता हूँ। यह सुन्दरी नारी मेरी भार्या होगी॥ १३ ॥

युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे ।
तस्यैवं ब्रुवतो धृष्टं विराधस्य दुरात्मनः ॥ १४ ॥

तुम दोनों महापापी हो, अतः तुम दोनों के साथ में युद्ध कर, तुम्हारा दोनों का रुधिर पिऊँगा । जब उस दुरात्मा विराध ने ऐसे धृष्टतापूर्ण वचन कहे ॥ १४ ॥

श्रुत्वा सगर्वं वचनं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा ।
सीता प्रावेपतोद्वेगात्प्रवाते कदली यथा ॥ १५ ॥

तब उसके इन अहङ्कार युक्त वचनों को सुन कर, जानकी जी डरीं और मारे डर के वे वायु के वेग से काँपते हुए, केले के पेड़ की तरह, थर थर काँपने लगीं ॥ १५ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः सीतां विराधाङ्कगतां शुभाम् ।
अब्रवील्लक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १६ ॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी सीता को विराध की गोदी में देख, उदास हो लक्ष्मण से बोले ॥ १६ ॥

पश्य सौम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम् ।
मम भार्यां शुभाचारां विराधाङ्के प्रवेशिताम् ॥ १७ ॥

हे सौम्य ! देखो राजा जनक की बेटी, शुद्धाचरण वाली मेरी भार्या सीता, विराध द्वारा पकड़ ली गयी है ॥ १७ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं मनस्विनीम् ।
यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृतं च यत् ॥ १८ ॥

यह मनस्विनी राजपुत्री बड़े लाड़प्यार से पाली पोसी गयी है। सो इसकी यह दशा हुई। सो जिस उद्देश्य से कैकेयी ने वरदान माँगा था वह उसका उद्देश्य श्राज सफल हुआ ॥ १८ ॥

कैकेय्यास्तु सुसम्पन्नं क्षिप्रमद्यैव लक्ष्मण।
या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थे दीर्घदर्शिनी ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण! कैकेयी बड़ी दूरदर्शिनी है जो अपने पुत्र के राज्य दिला कर भी सन्तुष्ट न हुई (श्रौर हमें इस अभिप्राय से वन में भेजा कि, वन में जब सीता को राक्षस हर लेंगे श्रौर राम उस दुःख से मर जांयगे तब मेरे बेटे का राज्य निष्कण्टक हो जायगा) इतनी जल्दी उसी कैकेयी की मनोभिलाष श्राज पूरी हुई ॥ १९ ॥

ययाहं सर्वभूतानां हितः प्रस्थापितो वनम्।
अद्येदानीं सकामा सा या माता मम मध्यमा ॥ २० ॥

जिस कैकेयी ने मुझ जैसे सब प्राणियों के हितैषी को वन में निकलवा दिया उस मेरी मझली माता कैकेयी का इस घड़ी मनोरथ पूर्ण हुआ ॥ २० ॥

[नोट — जिस कैकेयी के श्रीरामचन्द्र ने पहिले "कनीयसी" छोटी माता कहा था अब उसीको "मध्यमा माता" क्यों कहा — इसका समाधान भूषणटीकाकार ने इस प्रकार किया है। "यद्यपि पूर्वं मम माता कनीयसीत्युक्तं तथापि महिषी-त्रयोपेक्षया कनीयसीत्वं, सर्वदशरथपत्न्यपेक्षया मध्यमत्वं। त्रिशतं पञ्चाशच्च दशरथपत्न्यः सन्तीति पूर्वमेवोक्तं।]

परस्पर्शात्तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे।
पितुर्वियोगात्सौमित्रे स्वराज्यहरणात्तथा ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण! इस समय सीता का राक्षस द्वारा छुआ जाना देख, मुझको जैसा दुःख हो रहा है वैसा दुःख मुझे न तो पिता के मरने पर हुआ और न राज्य छूटने पर हुआ ॥ २१ ॥

इति ब्रुवति काकुत्स्थे वाष्पशोकपरिप्लुते।
अब्रवील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब आँखों में आंसु भर और शोकाकुल हो लक्ष्मण जो मंत्रमुग्ध सर्प की तरह क्रोध में भर फुँफकार मारते हुए, यह बोले ॥ २२ ॥

अनाथ इव भूतानां नाथस्त्वं वासवोपमः।
मया प्रेष्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! मेरे जैसे सेवक के साथ होते हुए और इन्द्र की तरह सब प्राणियों के स्वयं स्वामी हो कर भी, आप एक अनाथ की तरह क्यों सन्तप्त हो रहे हैं? ॥ २३ ॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः।
विराधस्य गतासोर्हि मही पास्यति शोणितम् ॥ २४ ॥

मैं क्रुद्ध हो, अभी इस राक्षस को बाण से मार इसका रुधिर पृथिवी को पिलाता हूँ ॥ २४ ॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो बभूव ह।
तं विराधे प्रमोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥ २५ ॥

राज्य की कामना रखने वाले भरत पर मुझे जो क्रोध आया था, वह क्रोध आज मैं इस विराध पर उसी तरह उतारूँगा, जैसे इन्द्र वज्र का प्रहार कर पहाड़ों पर अपना क्रोध उतारते हैं ॥ २५ ॥

मम भुजबलवेगवेगितः

पततु शरोऽस्य महान्महोरसि ।

व्यपनयतु तनोश्च जीवितं

पततु ततः स महीं विघूर्णितः ॥ २६ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे राम ! मेरी भुजाओं के बल के वेग से चलाया हुआ महाबाण इसके हृदय को विदीर्ण कर इसको मार डालेगा और यह घुमरी खाता हुआ पृथिवी पर गिरेगा ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

तृतीयः सर्गः

—:※:—

इत्युक्त्वा लक्ष्मणः श्रीमान्राक्षसं प्रहसन्निव ।

को भवान्वनमभ्येत्य चरिष्यति यथासुखम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी से यह कह श्रीमान् लक्ष्मण ने (तिरस्कार सूचक) मुसक्या कर राक्षस से पूछा कि, आप कौन हैं जो इस प्रकार स्वेच्छाचारी हो इस वन में घूमा करते हैं ॥ १ ॥

अथोवाच पुनर्वाक्यं विराधः पूरयन्वनम् ।

आत्मानं पृच्छते ब्रूतं कौ युवां क गमिष्यथः ॥ २ ॥

इसके उत्तर में विराध अपनी गम्भीर वाणी से उस वन को फिर पूर्ण करता हुआ बोला—मैं जो तुमसे पूँछता हूँ उसका उत्तर दो कि, तुम दोनों कौन हो और कहाँ जा रहे हो ॥ २ ॥

तमुवाच ततो रामो राक्षसं ज्वलिताननम् ।
पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥ ३ ॥

यह सुन अंगार के समान जलते हुए भयङ्कर मुख वाले राक्षस को श्रीरामचन्द्र जी ने अपने इक्ष्वाकुवंश का नाम बतलाया ॥ ३ ॥

क्षत्रियौ वृत्तसम्पन्नौ विद्धि नौ वनगोचरौ ।
त्वां तु वेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥ ४ ॥

और कहा कि, हम क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय वर्णोचित वृत्ति सम्पन्न हैं और वन में आये हैं, यह तुझे जान लेना चाहिये। हम तेरा परिचय भी चाहते हैं कि, इस दण्डक वन में घूमने वाला तू कौन है ॥ ४ ॥

तमुवाच विराधस्तु रामं सत्यपराक्रमम् ।
हन्त वक्ष्यामि ते राजन्निबोध मम राघव ॥ ५ ॥

यह सुन विराध ने सत्यपराक्रम श्रीराम से कहा—हे राघव! मैं अपना वृत्तान्त कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ५ ॥

पुत्रः किल जयस्याहं मम माता शतह्रदा ।
विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥ ६ ॥

मैं निश्चय ही जय का पुत्र हूँ और शतह्रदा मेरी माता है। इस पृथिवी के सब राक्षस मुझे विराध नाम से पुकारते हैं ॥ ६ ॥

तपसा चापि मे प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा ।
शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥ ७ ॥

मैंने अपनी तपस्या के बल से ब्रह्मा जी को प्रसन्न कर, उनसे यह वरदान पाया है कि, मैं किसी शस्त्र से न तो घायल होऊँ और न मारा ही जा सकूँ ॥ ७ ॥

उत्सृज्य प्रमदामेनामनपेक्षौ यथागतम् ।
त्वरमाणौ पलायेथां न वां जीवितमाददे ॥ ८ ॥

अतः तुम इस स्त्री को और मेरे साथ लड़कर विजय प्राप्त करने की इच्छा को त्याग कर जहां से आये हो वहीं को भाग जाओ। मेरी इच्छा नहीं कि मैं तुम्हारा वध करूँ ॥ ८ ॥

तं रामः प्रत्युवाचेदं कोपसंरक्तलोचनः ।
राक्षसं विकृताकारं विराधं पापचेतसम् ॥ ९ ॥

विराध के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्रजी क्रोध में भर लाल लाल आंखे कर, उस पापी और विकट शरीर वाले विराध राक्षस से बोले ॥ ९ ॥

क्षुद्र धिक्त्वां तु हीनार्थं मृत्युमन्वेषसे ध्रुवम् ।
रणे संप्राप्स्यसे तिष्ठ न मे जीवन्गमिष्यसि ॥ १० ॥

हे अधम ! तुझको धिक्कार है । तू बड़ी ओछी जाति का है । तू निश्चय ही अपनी मौत को खोज में है। सो खड़ा रह, तू आज मुझसे युद्ध कर, जीता बच कर न जा पावेगा ॥ १० ॥

ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशिताञ्शरान् ।
सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजघान ह ॥ ११ ॥

यह कह श्रीरामचन्द्र जी ने उस राक्षस को लक्ष्य कर शीघ्र धनुष पर रोदा चढ़ाया और उस पर बड़े पैने बाण रखकर चलाये ॥ ११ ॥

धनुषा ज्यागुणवता सप्त बाणान्मुमोच ह ।
रुक्मपुङ्खान्महावेगान्सुपर्णानिलतुल्यगान् ॥ १२ ॥

उन्होंने धनुष पर रोदा चढ़ा सुनहले पुंखों से युक्त पवन और गरुड़ के समान शीघ्रगामी सात बाण चलाये ॥ १२ ॥

ते शरीरं विराधस्य भित्त्वा वर्हिणवाससः।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां पावकोपमाः॥ १३॥

वे बाण जिनमें मोर के पंख लगे हुए थे विराध के शरीर को फोड़ खून से सने, अग्नि की तरह लाल लाल पृथिवी पर जा गिरे॥ १३॥

स विद्धो न्यस्य वैदेहीं शूलमुद्यम्य राक्षसः।
अभ्यद्रवत्सुसंक्रुद्धस्तदा रामं सलक्ष्मणम्॥ १४॥

बाणों से विद्ध हुआ विराध, सीता जी को छोड़, और हाथ में त्रिशूल ले क्रोध में भर श्रीराम लक्ष्मण की ओर झपटा॥ १४॥

स विनद्य महानादं शूलं शक्रध्वजोपमम्।
प्रगृह्याशोभत तदा व्यात्तानन इवान्तकः॥ १५॥

उस समय वह बड़ा नाद करता और इन्द्रध्वज के समान शूल को हाथ में लिये हुए ऐसा जान पड़ता था, मानों मुख फैलाये साक्षात् काल दौड़ा हुआ आता हो॥ १५॥

अथ तौ भ्रातरौ दीप्तं शरवर्षं ववर्षतुः।
विराधे राक्षसे तस्मिन्कालान्तकयमोपमे॥ १६॥

उस राक्षस को अपनी ओर आता देख दोनों भाई, उस यमराज की समान विराध राक्षस पर चमकते हुए तीरों की वर्षा करने लगे॥ १६॥

स प्रहस्य महारौद्रः स्थित्वाऽजृम्भत राक्षसः।
जृम्भमाणस्य ते बाणाः कायान्निष्पेतुराशुगाः॥ १७॥

तव वह महाभयङ्कर राक्षस हँसा और खड़े हो कर उसने जमुहाई ली। उसके जमुहाई लेते ही वे शीघ्रगामी बाण उसके शरीर से निकल कर पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

बलात्तु वरदानस्य प्राणान्संरोध्य राक्षसः ।
विराधः शूलमुद्यम्य राघवावभ्यधावत ॥ १८ ॥

यद्यपि विराध उन बाणों के आघात से अति पीड़ित था; तथापि वरदान के बल से वह मरा नहीं और जीता रहा और शूल उठा दोनों भाइयों की ओर दौड़ा ॥ १८ ॥

तच्छूलं वज्रसङ्काशं गगने ज्वलनोपमम्[1] ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १९ ॥

तब शस्त्रधारण करने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने वज्र और आकाशस्थ अग्नि के समान उसके शूल को दो बाणों से काट कर गिरा दिया ॥ १९ ॥

तद्रामविशिखच्छिन्नं शूलं तस्य कराद्भुवि ।
पपाताशनिना च्छिन्नं मेरोरिव शिलातलम् ॥ २० ॥

विराध के हाथ से वह शूल श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कट टुकड़े टुकड़े हो उसी तरह पृथिवी पर गिरा, जिस प्रकार वज्र के आघात से मेरुपर्वत की शिलाएँ टुकड़े टुकड़े हो गिरती हैं ॥ २० ॥

तौ खड्गौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पोपमौ शुभौ ।
तूर्णमापततस्तस्य तदा प्राहरतां बलात् ॥ २१ ॥

जब उसका शूल कट गया, तब श्रीराम और लक्ष्मण अपनी अपनी तलवारों को ले, अति शीघ्र काटने को तैयार नाग की तरह

---

१ गगने ज्वलनः—आकाशस्थाग्निः । (गो०)

उस पर झपटे और उस पर बल पूर्वक तलवारों का वार करने लगे ॥ २१ ॥

स वध्यमानः सुभृशं बाहुभ्यां परिरभ्य तौ ।
अप्रकम्प्यौ नरव्याघ्रौ रौद्रः प्रस्थातुमैच्छत ॥ २२ ॥

जब वह राक्षस तलवारों के आघात से अत्यन्त पीड़ित हुआ, तब दोनों पुरुषश्रेष्ठों को जो बड़ी धीरता से लड़ रहे थे, और जिन्हें कोई हरा नहीं सकता था, विराध दोनों हाथों से पकड़ और अपने कंधों पर रख, ले चला (इस लिये कि दूर लेजा कर दोनों को ज़मीन पर पटक कर मार डालें) ॥ २२ ॥

तस्याभिप्रायमाज्ञाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
वहत्वयमलं तावत्पथाऽनेन तु राक्षसः ॥ २३ ॥
यथा चेच्छति सौमित्रे तथा वहतु राक्षसः ।
अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥ २४ ॥

उसके अभिप्राय को समझ श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—बड़ी अच्छी बात है कि, यह हमें कंधे पर चढ़ा ले जा रहा है। अतः हे लक्ष्मण ! जहां इसकी हमें ले जाने कि इच्छा हो इसे ले चलने दो, क्योंकि इसी मार्ग से जिससे यह हमको लिये जा रहा है—हमें जाना है ॥ २३ ॥ २४ ॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः ।
बालाविव स्कन्धगतौ चकारातिबलो ततः ॥ २५ ॥

उस अतिबली विराध राक्षस ने अपने बल पराक्रम से श्रीराम और लक्ष्मण को दो बालकों की तरह अपने दोनों कंधों पर बिठा लिया ॥ २५ ॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।
विराधो विनदन्घोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥ २६ ॥

वह विराध राक्षस श्रीराम लक्ष्मण को अपने कंधों पर रख, बड़े ज़ोर से चिल्लाता हुआ वन की ओर चला ॥ २६ ॥

वनं महामेघनिभं प्रविष्टो
द्रुमैर्महद्भिर्विविधैरुपेतम् ।
नानाविधैः पक्षिशतैर्विचित्रं ।
शिवायुतं व्यालमृगैर्विकीर्णम् ॥ २७ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

फिर वह राक्षस महामेघ के तुल्य अनेक प्रकार के बड़े बड़े वृक्षों से युक्त विविध प्रकार के पक्षियों के समूह से परिपूर्ण, सियार, अजगरों और मृगों से युक्त वन में उन दोनों को ले चला ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चतुर्थः सर्गः

—*—

ह्रियमाणौ तु तौ दृष्ट्वा वैदेही रामलक्ष्मणौ ।
उच्चैःस्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य[1] सुभुजा भुजौ ॥ १ ॥

जब विराध श्रीराम और लक्ष्मण को हरण कर ले चला, तब यह देख जानकी जी अपनी बड़ी बड़ी भुजाएं उठा ज़ोर ज़ोर से रो कर कहने लगीं ॥ १ ॥

---

१ प्रगृह्य—उद्यम्य । (रा०)

एष दाशरथी रामः सत्यवा[१]ञ्शीलवा[२]ञ्शुचिः[३] ।
रक्षसा रौद्ररूपेण ह्रियते सहलक्ष्मणः ॥ २ ॥

हा! यह भयानक राक्षस, महाराज दशरथ के सत्यभाषी, सदाचारी और सीधे सादे पुत्र श्रीरामचन्द्र को, लक्ष्मण सहित हरे लिये जाता है ॥ २ ॥

मां वृका भक्षयिष्यन्ति शार्दूला द्वीपिनस्तथा ।
मां हरोत्सृज्य काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥ ३ ॥

अब मुझे ये वनैले जन्तु शेर चीते खा डालेंगे। हे राक्षसोत्तम! मैं तुझे नमस्कार करती हूँ। तू इन दोनों काकुत्स्थ-राजकुमारों को छोड़ दे और इनके बदले मुझे हर ले ॥ ३ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वेगं[४] प्रचक्रतुर्वीरौ वधे तस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

सीता का ऐसा वचन सुन दोनों वीर भाई श्रीराम और लक्ष्मण, उस दुरात्मा के घात के लिये उद्यत हो, शीघ्रता करने लगे ॥ ४ ॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिर्बाहुं सव्यं बभञ्ज ह ।
रामस्तु दक्षिणं बाहुं तरसा[५] तस्य रक्षसः ॥ ५ ॥

उस भयङ्कर राक्षस की बाईं भुजा लक्ष्मण जी ने और दहिनी भुजा श्रीरामचन्द्रजी ने बल लगा कर तोड़ डाली ॥ ५ ॥

---

१ सत्यवान् – सत्यवचनवान्। (गो०) २ शीलवान—सदाचारसम्पन्नः। (गो०) ३ शुचिः—ऋजुबुद्धिः। (गो०) ४ वेगं—त्वराम्। (रा०) ५ तरसा—बलेन। (गो०)

स भग्नबाहुः संविग्नो[1] निपपाताशु राक्षसः ।
धरण्यां मेघसङ्काशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ६ ॥

जब उस राक्षस की दोनों बाँहें टूट गयीं तब वह मेघ के समान काला राक्षस भयभीत हो तुरन्त ज़मीन पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे वज्र के आघात से पर्वत टूट कर गिरता है ॥ ६ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिः पद्भिः सूदयन्तौ तु राक्षसम् ।
उद्यम्योद्यम्य चाप्येनं स्थण्डिले निष्पिपेषतुः ॥ ७ ॥

उस समय वे दोनों भाई उस राक्षस को घूंसों से मारते, पैरों से ठुकराते और उठा उठा कर ज़मीन पर पटकते हुए उसे चूर्ण किये डालते थे ॥ ७ ॥

स विद्धो बहुभिर्बाणैः खड्गाभ्यां च परिक्षतः ।
निष्पिष्टो बहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥ ८ ॥

यद्यपि उस राक्षस के शरीर में अनेक तीर विधे हुए थे और वह तलवारों के अनेक घाव खाये हुए था, तथा कई बार ज़मीन पर उसने पटकी भी खायी थी, तथापि वह मरा नहीं था ॥ ८ ॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमचलोपमम् ।
भयेष्वभयदः[2] श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

भय के समय, स्वगुणों के कीर्त्तन, स्मरणादि करने पर अभय देने वाले श्रीरामचन्द्र ने उस पर्वत के समान सर्वथा अवध्य राक्षस का दोष लक्ष्मण से कहा ॥ ९ ॥

---

१ संविग्नः—भीतः । (गो०) २ भयेषु अभयदः—भयकालेषु अभयदः । स्वगुणादि श्रवण स्मरण कीर्तिनादिना । (रा०)

तपसा पुरुषव्याघ्र राक्षसोऽयं न शक्यते ।
शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निखनावहे ॥ १० ॥

हे पुरुषसिंह ! यह राक्षस अपने तपोबल से शस्त्र द्वारा नहीं जीता जा सकता, अतः आओ इसे पृथिवी में गाढ़ दें ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रश्रितं[१] वचः ।
इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराधः पुरुषर्षभम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी का वचन सुन वह राक्षस विनय पूर्वक पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्र शक्रतुल्यबलेन वै ।
मया तु पूर्वं त्वं मोहान्न ज्ञातः पुरुषर्षभः ॥ १२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे पुरुषसिंह ! मैं आपके इन्द्र तुल्य पराक्रम से अधमरा हो गया हूँ । मैंने अब तक अज्ञान से आपको नहीं पहचाना था ॥ १२ ॥

कौसल्या सुप्रजा तात रामस्त्वं विदितो मया ।
वैदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशाः ॥ १३ ॥

हे तात ! अब इस समय मैंने जाना कि, आप श्रीराम हैं और आपके कारण देवी कौशल्या सुपुत्रवती हुई हैं । इन सौभाग्यवन्ती सीता और महायशस्वी लक्ष्मण को भी मैंने भली भांति पहचान लिया है ॥ १३ ॥

अपि शापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम् ।
तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः शप्तो वैश्रवणेन ह ॥ १४ ॥

---

१ प्रश्रितं—विनयान्वितं । (गो०)

हे राम ! मैंने शापवश यह घोर राक्षसशरीर पाया है। मैं पहले तुम्बरु नाम का गन्धर्व था। मुझे कुवेर ने शाप दिया था ॥ १४ ॥

प्रसाद्यमानश्च मया सोऽब्रवीन्मां महायशाः ।
यदा दाशरथी रामस्त्वां वधिष्यति संयुगे ॥ १५ ॥

शाप देने के बाद जब मैंने उनको प्रसन्न किया, तब वे महायशस्वी मुझसे बोले कि, जब दशरथनन्दन श्रीराम तुझे युद्ध में मारेंगे ॥१५॥

तदा प्रकृतिमापन्नो[1] भवान्स्वर्गं गमिष्यति ।
इति वैश्रवणो राजा रम्भासक्तं पुराऽनघ ॥ १६ ॥

तब तू फिर अपने पूर्ववत् शरीर को प्राप्त कर स्वर्ग को जायगा। हे अनघ ! मुझे राजा वरुण जी ने यह शाप इस लिये दिया था कि, रम्भा पर मैं आसक्त हो गया था ॥ १६ ॥

अनुपस्थीयमानो मां संक्रुद्धो व्याजहार ह ।
तव प्रसादान्मुक्तोऽहमभिशापात्सुदारुणात् ॥ १७ ॥

अतः मैं समय पर वरुण जी के पास उपस्थित न हो सका। इस पर अप्रसन्न हो उन्होंने शाप दिया। अब मैं आपकी कृपा से उस दारुण शाप से छूट गया ॥ १७ ॥

भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परन्तप ।
इतो वसति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान् ॥ १८ ॥

हे परन्तप ! आपका मङ्गल हो, मैं अब अपने लोक को जाऊँगा। इसी वन में प्रतापी एवं धर्मात्मा शरभङ्ग जी का आश्रम है ॥ १८ ॥

---

१ प्रकृतिं—स्वरूपं। (गो०)

अध्यर्धयोजने तात महर्षिः सूर्यसन्निभः ।
तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयो विधास्यति ॥ १९ ॥

हे तात ! सूर्य के समान उन महर्षि का आश्रम यहां से डेढ़ योजन की दूरी पर है । उनके समीप आप शीघ्र जांय । वे आपका भला करेंगे ॥ १९ ॥

अवटे चापि मां राम प्रक्षिप्य कुशली व्रज ।
रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

हे राम ! आप मुझे गड्ढे में डाल कुशल पूर्वक चले जाइये । मरे हुए राक्षसों को ज़मीन में गाड़ना, यह प्राचीन प्रथा है ॥ २० ॥

अवटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः ।
एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः ॥ २१ ॥

क्योंकि जो मरे हुए राक्षस गड्ढा खोद कर गाड़ दिये जाते हैं, उनको सनातन लोक प्राप्त होते हैं । इस प्रकार विराध राक्षस, जो शरपीड़ित था, श्रीरामचन्द्र जी से कह ॥ २१ ॥

बभूव स्वर्गसंप्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः ।
तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मणं व्यादिदेश ह ॥ २२ ॥

और शरीर को त्याग, स्वर्ग में चला गया । श्रीरामचन्द्र जी ने राक्षस के ये वचन सुन लक्ष्मण जी को आज्ञा दी ॥ २२ ॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।
वनेऽस्मिन्सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रकर्मणः ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण! तुम इन वन के बीच, प्रचण्ड हाथी की तरह भीमकर्मा इस राक्षस के शरीर को गाड़ने के लिये, एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदो ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।
तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ २४ ॥

लक्ष्मणजी को गड्ढा खोदने की आज्ञा दे, पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी स्वयं भी अपने पैरों से विराध का गला दबा खड़े रहे ॥ २४ ॥

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः श्वभ्रमुत्तमम् ।
अखनत्पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः ॥ २५ ॥

तब लक्ष्मण ने खंता ले, विराध के पास ही एक गड्ढा खोदा ॥ २५ ॥

तं मुक्तकण्ठं निष्पिष्य शङ्कुकर्णं[1] महास्वनम् ।
विराधं प्राक्षिपच्छ्वभ्रे नदन्तं भैरवस्वनम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने गधे जैसे कान वाले विराध के गले से अपने पैर हटा लिये और उसको उठा कर उस गड्ढे में डाल दिया। उस समय विराध अति घोर शब्द करने लगा ॥ २६ ॥

तमाहवे निर्जितमाशुविक्रमौ
स्थिरावुभौ संयति[2] रामलक्ष्मणौ ।
मुदान्वितौ चिक्षिपतुर्भयावहं
नदन्तमुत्क्षिप्य बिले तु राक्षसम् ॥ २७ ॥

---

1 शङ्कुकर्णं—शङ्कुः कीलंतत्सदृशं गर्दभाकारंवा। (गो०) 2 संयति—युद्धस्थिरौ। (गो०)

युद्ध में स्थिर चित्त और सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र व लक्ष्मण ने प्रसन्न हो विकटाकार उस प्रकाण्ड राक्षस को, युद्ध में पराजित किया और अपने भुजबल से उठा कर, उस शोर करते हुए राक्षस को गड्ढे में डाल कर, ऊपर से वह गड्ढा मिट्टी से पाट दिया ॥ २७ ॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महासुरस्य तौ
शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ ।
समर्थ्य चात्यर्थविशारदावुभौ
बिले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः ॥ २८ ॥

पैने से पैने शस्त्र से भी उस महाअसुर को मरते न देख, और उसके वध का एक मात्र उपाय गढ़े में गाढ़ना निश्चित कर उन दोनों चतुर भाइयों ने उसे गढ़े में गाढ़ कर उसका वध किया ॥ २८ ॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युरात्मनः
प्रसह्य रामेण वधार्थमीप्सितः ।
निवेदितः काननचारिणा[1] स्वयं
न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति ॥ २९ ॥

विराध ने बरजोरी अपनी मौत के लिये श्रीरामचन्द्रजी से इच्छा प्रकट की, क्योंकि उसने स्पष्ट अपने मुख से कहा कि, मैं किसी भी शस्त्र से नहीं मारा जा सकता ॥ २९ ॥

[नोट—आदिकाव्यकार ने यह श्लोक इस लिये लिखा है कि, जिससे लोग श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर यह दोष न लगावें कि, उन्होंने विराध को

---

१ काननचारिणा—विराधेन । (रा०)

जीवित ज़मीन में गाड़ दिया। इसका समाधान करने ही को इस श्लोक में कहा गया है कि, विराध ने अपने आप अपनी मौत बुलाई और वरदान द्वारा अस्त्र शस्त्र से अवध्य होने के कारण, उसका वध करने के लिये श्रीरामचन्द्र को उसे ज़िन्दा ज़मीन में गाड़ना पड़ा।]

तदेव रामेण निशम्य भाषितं
कृता मतिस्तस्य बिलप्रवेशने।
बिलं च रामेण बलेन रक्षसा
प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम्॥ ३०॥

विराध का कहना मान कर ही श्रीरामचन्द्र ने उसको गड्ढे में डाला था। जिस समय वह गड्ढे में पटका गया, उस समय वह ऐसा गरजा कि, उसके चोत्कार से सारा वन प्रतिध्वनित हो गया॥ ३०॥

प्रहृष्टरूपाविव रामलक्ष्मणौ
विराधमुर्व्यां प्रदरे निखाय तम्।
ननन्दतुर्वीतभयौ महावने
शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम्॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण उस विराध राक्षस को पृथिवी में गाड़ और उस महावन में भय रहित हो अत्यन्त प्रसन्न हुए॥ ३१॥

ततस्तु तौ काञ्चनखड्गधारिणौ
निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम्।
विजह्रतुस्तौ मुदितौ महावने
दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव॥ ३२॥

इति चतुर्थः सर्गः॥

तदनन्तर धनुष और तलवार धारी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस राक्षस का वध कर और जानकी जी को ले उस महावन में प्रसन्न हो उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार आकाश में चन्द्र और सूर्य शोभित होते हैं ॥ ३२ ॥

अरण्यकाण्ड का चौथा सर्ग पूरा हुआ ।

पञ्चमः सर्गः

हत्वा तु तं भीमबलं विराधं राक्षसं वने ।
ततः सीतां परिष्वज्य समाश्वास्य च वीर्यवान् ॥ १ ॥

इस प्रकार पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने उस भयङ्कर राक्षस का वध कर, और सीता जी को गले लगा उनको बहुत कुछ ढाँढस बँधाया ॥ १ ॥

[नोट—सीता जी विराध द्वारा पकड़ी जाने से बहुत दुःखी और लज्जित थीं । अतः श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें बड़े प्यार से समझाया ।]

अब्रवील्लक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
कष्टं वनमिदं दुर्गं न च स्म वनगोचराः[1] ॥ २ ॥

और अपने तेजस्वी भाई लक्ष्मण से बोले—यह वन बड़ा दुर्गम और कष्टदायी है । हम लोगों ने ऐसा विकट वन इसके पूर्व कभी नहीं देखा था ॥ २ ॥

---

१ वयंचेतः पूर्वं कदापि ईदृशं वनं न दृष्टं । (रा०)

अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोधनम् ।
आश्रमं शरभङ्गस्य राघवोऽभिजगाम ह ॥ ३ ॥

इसलिये आओ शीघ्र शरभङ्ग के आश्रम में चलें। यह कह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर चले ॥ ३ ॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा[1] भावितात्मनः ।
समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्भुतम् ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँच कर, उन देवतुल्य प्रभाव वाले और तपस्या द्वारा ब्रह्म का साक्षात् किये हुए, शरभङ्ग के आश्रम में दूर से एक बड़ा चमत्कार देखा ॥ ४ ॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरोपमम् ।
अवरुह्य रथोत्सङ्गात्सकाशे विबुधानुगम् ॥ ५ ॥

कि सूर्य और अग्नि के समान प्रकाशमान, देवराज इन्द्र अपने शरीर की प्रभा से प्रकाशित हो, देवताओं के साथ श्रेष्ठ रथ पर चढ़े हुए हैं ॥ ५ ॥

असंस्पृशन्तं वसुधां ददर्श विबुधेश्वरम् ।
सुप्रभाभरणं देवं विरजो[2]ऽम्बरधारिणम् ॥ ६ ॥

श्याम रंग के घोड़ों से युक्त उनका रथ पृथिवी का स्पर्श न कर आकाश में चलता था, उनके सब आभूषण चमक रहे थे और पहिनने के वस्त्र भी उजले थे ॥ ६ ॥

तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।
हरिभि[3]र्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥

---

१ तपसा भवितात्मनः—साक्षात्कृत परब्रह्मणः "तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व" इति श्रुतेः । (गो०) २ विरजो—निर्मलं । (गो०) ३ हरिभिः—श्यामैः । (गो०)

ददर्शादूरतस्तस्य तरुणादित्यसन्निभम् ।
पाण्डुराभ्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसन्निभम् ॥ ८ ॥

अपश्यद्विमलं छत्रं चित्रमाल्योपशोभितम् ।
चामरव्यजने चाग्र्ये रुक्मदण्डे महाधने ॥ ९ ॥

गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि ।
गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥ १० ॥

अन्तरिक्षगतं देवं वाग्भिरग्र्याभिरीडिरे ।
सह सम्भाषमाणे तु शरभङ्गेण वासवे ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दूर से देखा कि, उनके मस्तक पर तरुण सूर्य (मध्यान्ह के सूर्य) के समान अथवा सफेद मेघ के तुल्य अथवा चन्द्रमण्डल के सदृश निर्मल छत्र, जो चित्र विचित्र मालाओं से सुशोभित था, लगा हुआ है। उनके आगे सोने की डंडी के और मूल्यवान चवर और पंखा लिये हुए दो सुन्दरी स्त्रियाँ उन्हें उनके मस्तक पर डुला रही थीं। बहुत से देव गन्धर्व और सिद्ध और देवर्षिश्रेष्ठ शब्दों से युक्त स्तुति-पाठ करते जाते थे। उस समय इन्द्र शरभङ्ग जी से कुछ वार्त्तालाप कर रहे थे ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा शतक्रतुं तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
रामोऽथ रथमुद्दिश्य लक्ष्मणाय प्रदर्शयन् ॥ १२ ॥

वहाँ पर इन्द्र को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने, लक्ष्मण का ध्यान उस रथ की ओर आकृष्ट कर, लक्ष्मण से कहा ॥ १२ ॥

अर्चिष्मन्तं[१] श्रिया[२] जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण ।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! परम दीप्तमान, कान्तियुक्त, तपते हुए सूर्य की तरह चमकीले इस अद्भुत एवं आकाशचारी रथ को देखो ॥ १३ ॥

ये हयाः पुरुहूतस्य[३] पुरा शक्रस्य नः श्रुताः ।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥ १४ ॥

मैंने पहले अनेक यज्ञ करने वाले इन्द्र के घोड़ों के विषय में सुना था, सो निश्चय ही आकाशचारी श्याम रंग के दिव्य घोड़े वे ही हैं ॥ १४ ॥

इमे च पुरुषव्याघ्रा ये तिष्ठन्त्यभितो रथम् ।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः ॥ १५ ॥
विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतबाहवः ।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ १६ ॥
उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसन्निभाः ।
रूपं बिभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस रथ के चारों ओर जो सैकड़ों युवा पुरुष कानों में कुण्डल पहिने कमर में तलवार बाँधे विशाल वक्षःस्थल और विशाल भुजा वाले, लाल पोशाक पहिने हुए, व्याघ्र के समान दुर्द्धर्ष और गले में अग्नि तुल्य हार पहिने हुए हैं, सब के सब पच्चीस वर्ष की उमर के जान पड़ते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ अर्चिष्मन्तं—सतेजस्कं । (गो०) २ श्रिया—कान्त्या । (गो०) ३ पुरुहूतस्य—यज्वभिर्बहुशो । (गो०)

एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा ।
यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह ! देवताओं की उम्र और सौन्दर्य निश्चय ही सदा ऐसा ही बना रहता है, जैसे कि ये अब देख पड़ते हैं ॥ १८ ॥

इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण ।
यावज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष द्युतिमान्रथे ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! जब तक मैं जाकर यह जान लूँ कि, यह बैठा हुआ द्युतिमान पुरुष कौन है, तब तक तुम मुहूर्त भर सीता जी के साथ यहीं खड़े रहो ॥ १९ ॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिमिहैव स्थीयतामिति ।
अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ २० ॥

लक्ष्मण जी से यह कह कि, तुम यहीं खड़े रहो, श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर बढ़े ॥ २० ॥

ततः समभिगच्छन्तं प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः ।
शरभङ्गमनुप्राप्य विविक्त इदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

शचीपति इन्द्र ने श्रीराम को आते देख, शरभङ्ग से विदा माँगी और देवताओं से गुप्त रीति से यह बोले ॥ २१ ॥

इहोपयात्यसौ रामो यावन्मां नाभिभाषते ।
निष्ठां नयतु तावत्तु ततो मां द्रष्टुमर्हति ॥ २२ ॥

देखो श्रीरामचन्द्र इधर ही चले आ रहे हैं। सो उनको मुझसे बातचीत करने का अवसर न दे [illegible] उनके यहाँ पहुँचने के पूर्व ही, यहाँ से हमें अन्यत्र ले चलो, जिससे वे हमें देख भी न पावें ॥ २२ ॥

जितवन्तं कृतार्थं च द्रष्टाऽहमचिरादिमम् ।
कर्म ह्यनेन कर्तव्यं महदन्यैः सुदुष्करम् ॥ २३ ॥
निष्पादयित्वा तत्कर्म ततो मां द्रष्टुमर्हति ।
इति वज्री तमामन्त्र्य मानयित्वा च तापसम् ॥ २४ ॥
रथेन हरियुक्तेन ययौ दिवमरिन्दमः ।
प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदम् ॥ २५ ॥

अभी इनको ऐसा बड़ा दुष्कर कार्य करना है, जो दूसरों से हो ही नहीं सकता । जब यह थोड़े दिनों बाद राक्षसों को जीत कर कृतकार्य होगें, तब मैं इनके दर्शन करूँगा । उस कार्य को कर चुकने पर ही यह मुझे देख सकेंगे । तदनन्तर इन्द्र महर्षि शरभङ्ग से विदा माँग और उनका विशेष सन्मान कर, घोड़े जुते हुए रथ में बैठ स्वर्ग को चले गये । इन्द्र के जाने के बाद, श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण सहित ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागतम् ।
तस्य पादौ च संगृह्य रामः सीता च लक्ष्मणः ॥ २६ ॥

अग्निहोत्र में बैठे हुए शरभङ्ग जी के पास गये और श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण ने उनके चरण छुए ॥ २६ ॥

निषेदुः समनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः ।
ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छत्स राघवः ॥ २७ ॥

शरभङ्ग ने उनके टिकने के लिये स्थान बतलाया और भोजन के लिये निमंत्रण दिया । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने वहां इन्द्र के आने का कारण पूछा ॥ २७ ॥

शरभङ्गश्च तत्सर्वं राघवाय न्यवेदयत् ।
मामेष वरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति ॥ २८ ॥

शरभङ्ग ने सब वृत्तान्त कह सुनाया । (शरभङ्ग ने कहा) हे राम ! यह वरदाता इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक में ले जाने के लिये आये थे ॥ २८ ॥

जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः[1] ।
अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः ॥ २९ ॥

मैंने तप द्वारा वह लोक प्राप्त करने का अधिकार सम्पादन कर लिया, जिसे भगवद्-उपासना किये विना पाना कठिन है । हे पुरुष-सिंह ! यह विचार कर कि, आप समीप आ पहुँचे हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम् ।
त्वयाऽहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना ॥ ३० ॥

समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं देवसेवितम् ।
अक्षया नरशार्दूल मया लोका जिताः शुभाः ॥ ३१ ॥

अतः आप सरीखे प्रिय अतिथि के दर्शन किये विना, मुझे ब्रह्मलोक में जाना अभीष्ट नहीं । हे पुरुषसिंह ! अब आप जैसे धर्मनिष्ठ और महात्मा से मिल भेंट कर मैं स्वर्ग या ब्रह्मलोक को चला जाऊँगा । हे नरशार्दूल ! मैंने तपःप्रभाव से जिन अक्षय्य और रम्य लोकों का अधिकार प्राप्त कर रखा है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।
एवमुक्तो नरव्याघ्रः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ३२ ॥

---

[1] अकृतात्मभिः—अननुष्ठितभगवदुपासनैः । (रा०)

ऋषिणा शरभङ्गेण राघवो वाक्यमब्रवीत् ।
अहमेवाहरिष्यामि सर्वलोकान्महामुने ॥ ३३ ॥

सो उन ब्रह्मलोक, और स्वर्ग को प्राप्त के साधन रूप तपःफल को, मैं आपको समर्पित करता हूँ। आप ग्रहण करें। महर्षि शरभङ्ग जी के ऐसा कहने पर सब शास्त्रों के जानने वाले पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग ऋषि से बोले—हे महामुने! मैं स्वयं ही उन सब लोकों को प्राप्त करूँगा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ।
राघवेणैवमुक्तस्तु शक्रतुल्यबलेन वै ॥ ३४ ॥

मैं इस वन में रहना चाहता हूँ। आप मुझे रहने के लिये स्थान बतलाइये। इन्द्र के समान बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस प्रकार कहा ॥ ३४ ॥

शरभङ्गो महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद्वचः ।
इह राम महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः ॥ ३५ ॥

वसत्यरण्ये धर्मात्मा स ते श्रेयो विधास्यति ।
सुतीक्ष्णमभिगच्छ त्वं शुचौ देशे तपस्विनम् ॥ ३६ ॥

तब महाप्राज्ञ शरभङ्ग जी फिर बोले। हे राम! इस वन में महातेजस्वी और धर्मात्मा सुतीक्ष्ण नामक एक ऋषि रहते हैं। वे धर्मात्मा ही आपका कल्याण करेंगे। आप उनके पवित्र आश्रम में जाइये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

रमणीये वनोद्देशे स ते वासं विधास्यति ।
इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिस्रोतामनुव्रज ॥ ३७ ॥

वे आपको रहने के लिये कोई रम्य स्थान इस वनप्रान्त में बतला देंगे। उनके आश्रम में पहुँचने के लिये हे राम! आप इस मन्दाकिनी के बहाव को धर उसके किनारे किनारे चले जांय ॥ ३७ ॥

नदीं पुष्पोडुपवहां तत्र तत्र गमिष्यसि ।
एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम् ॥ ३८ ॥

हे तात! देखो, इस नदी में अनेक बड़े बड़े फूल छोटी छोटी नावों की तरह बहते देख पड़ते हैं। इनको देखते हुए आप चले जांय। मैंने आपको रास्ता बता दिया, किन्तु दो घड़ी मेरी ओर आप देखते रहें या दर्शन दें ॥ ३८ ॥

यावज्जहामि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः ।
ततोऽग्निं सुसमाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवित् ॥ ३९ ॥

शरभङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ।
तस्य रोमाणि केशांश्च ददाहाग्निर्महात्मनः ॥ ४० ॥

जीर्णां त्वचं तथास्थीनि यच्च मांसं सशोणितम् ।
रामस्तु विस्मितो भ्रात्रा भार्यया च सहात्मवान् ॥४१॥

हे तात! सर्प जिस प्रकार पुरानी केंचली छोड़ता है, उसी प्रकार मैं भी इस समय यह पुरानी देह छोड़ना चाहता हूँ। ऐसा कह मंत्रवेत्ता शरभङ्ग मुनि अग्नि को स्थापन कर और उसमें घी की आहुति दे, अग्नि में कूद पड़े। उस समय अग्नि ने उन महात्मा के रोम, केश, जीर्णत्वचा, हड्डियां, और रुधिर सहित मांस को भस्म कर डाला। भाई लक्ष्मण और भार्या सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यह देख विस्मय हुआ कि, ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

स च पावकसङ्काशः कुमारः समपद्यत ।
उत्थायाग्निचयात्तस्माच्छरभङ्गो व्यरोचत ॥ ४२ ॥

उस अग्नि में से शरभङ्ग जी अग्नि तुल्य कान्तिमान् एक कुमार का रूप धारण कर निकले और शोभायमान हुए ॥ ४२ ॥

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम् ।
देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत ॥ ४३ ॥

तदनन्तर शरभङ्ग जी अग्निहोत्रियों, ऋषियों, महात्माओं और देवताओं के लोकों को छोड़ते हुए, ब्रह्मलोक में जा पहुँचे ॥ ४३ ॥

स पुण्यकर्मा भवने द्विजर्षभः
पितामहं सानुचरं ददर्श ह ।
पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं
ननन्द सुस्वागतमित्युवाच ह ॥ ४४ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

पुण्यात्मा, ब्राह्मणश्रेष्ठ शरभङ्ग जी ने ब्रह्मलोक में जा, अनुचरों से घिरे हुए पितामह ब्रह्मा जी के दर्शन किये। ब्रह्मा जी भी शरभङ्ग को देख आनन्दित हुए और उनसे स्वागतवचन बोले ॥ ४४ ॥

अरण्यकाण्ड का पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

षष्ठः सर्गः

—*—

शरभङ्गे दिवं याते मुनिसङ्घाः समागताः।
अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥ १ ॥

शरभङ्ग जी जब ब्रह्मलोक को चले गये, तब दण्डकवन में रहने वाले मुनिगण एकत्र हो तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ १ ॥

[नोट —इन मुनियों का विवरण आगे के चार श्लोकों में दिया है। जो मुनि उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पास आये, वे कैसे कैसे साधक थे यह बात इस विवरण के देखने से अवगत होती है।]

वैखानसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला मरीचिपाः।
अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च धार्मिकाः ॥ २ ॥

दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे।
गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवाभ्रावकाशकाः[1] ॥ ३ ॥

मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे।
आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४ ॥

व्रतोपवासिनो दान्तास्तथार्द्रपटवाससः।
सजपाश्च तपोनित्यास्तथा पञ्चतपोन्विताः ॥ ५ ॥

आये हुए मुनियों में वैखानस (ब्रह्म के नख से उत्पन्न) वालखिल्य (ब्रह्म के रोम से उत्पन्न), सम्प्रक्षाल (ब्रह्म के पैर के धोवन के

---

[1] अभ्रावकाशकाः—वर्षवातातपादिष्वप्यनावृतदेश एव वर्तमानाः। (गो०)

जल से उत्पन्न), मरीचिप (सूर्य व चन्द्र की किरणों को पी कर रहने वाले), अश्मकुट (कच्चे अन्न को पत्थर से कूट कर खाने वाले), पत्राहार (वृक्षों के पत्तों को खाने वाले), दन्तोलूखली (कच्चे अन्न को दांतों से कुचल कर खाने वाले), उन्मज्जका (कण्ठ भर जल में खड़े हो तपस्या करने वाले), गात्रशय्या (बिछौना बिछाये विना ही ज़मीन पर सोने वाले), अशय्य (जो कभी सोते ही न थे), अभ्रावकाशक (वर्षा गर्मी जाड़े की ऋतुओं में खुले मैदान में रहने वाले), सलिलाहारी (पानी पी कर रहने वाले), वायुभक्षी (केवल हवा पी कर रहने वाले), आकाशनिलय (जो विना छाये स्थानों में रहते थे), स्थण्डलशायी (लीपी हुई पवित्र भूमि पर सोने वाले), व्रतोपवासी, इन्द्रियों को जीतने वाले, गीले वस्त्र सदा धारण करने वाले, सदा जप करने वाले, सदा तप करने वाले तथा पञ्चाग्नि तापने वाले ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

सर्वे ब्राह्मया[1] श्रिया जुष्टा दृढयोगाः समाहिताः ।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ॥ ६ ॥

ये सब के सब ऋषि मुनि ब्रह्मवर्चस से युक्त थे, और योगाभ्यास में दृढ़ और सावधान रहने वाले थे। ये सब तपस्वी शरभङ्ग के आश्रम में श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ ६ ॥

अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम् ।
ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसङ्घाः समाहिताः ॥ ७ ॥

इस प्रकार के परम धर्मात्मा ऋषि मुनि सब वहां जा कर धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से सावधानता पूर्वक बोले ॥ ७ ॥

त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथ ।
प्रधानश्चासि नाथश्च देवानां मघवानिव ॥ ८ ॥

---

१ ब्राह्मया श्रिया—ब्रह्मविद्यानुष्ठानजनित ब्रह्मवर्चसेन । (गो०)

हे राम ! आप इक्ष्वाकु-वंश में प्रधान, पृथिवीनाथ, और महारथी हैं। यही नहीं किन्तु जिस प्रकार देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उसी प्रकार आप भी मुख्य लोगों के नाथ हैं। अर्थात् आप राजाओं के राजा अर्थात् स्वामी होने के कारण महाराज हैं ॥ ८ ॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च।
पितृभक्तिश्च सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः ॥ ९ ॥

आपका यश और पराक्रम तीनों लोकों में (भूर्भुवः स्वः लोकों में) प्रसिद्ध है। आप पूर्ण पितृभक्त, सत्यवादी और साङ्गोपाङ्ग धर्म का पालन करने वाले हैं ॥ ९ ॥

त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम् ।
अर्थित्वान्नाथ वक्ष्यामस्तच्च नः क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

आप जैसे महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल को पा कर, हम लोग याचक बन कर, जो कुछ आपसे कहना चाहते हैं, उसके लिये आप हमें क्षमा करें ॥ १० ॥

अधर्मस्तु महांस्तात भवेत्तस्य महीपतेः ।
यो हरेद्बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ॥ ११ ॥

हे तात ! वह राजा बड़ा अधर्मी है, जो प्रजा से पैदवारी का छठवाँ हिस्सा राजकर में उगाह कर भी, प्रजा का पुत्रवत् पालन नहीं करता ॥ ११ ॥

युञ्जानः स्वानिव प्राणान्प्राणैरिष्टान्सुतानिव ।
नित्ययुक्तः[1] सदा रक्षन्सर्वान्विषयवासिनः ॥ १२ ॥

---

१ नित्ययुक्तः—सदासावधानः । (रा०)

और जो राजा सदा यत्नवान और सावधान रह कर, अपने राज्य की प्रजा की अपने प्राणों के समान रक्षा करता है ॥ १२ ॥

प्राप्नोति शाश्वतीं राम कीर्तिं स बहुवार्षिकीम् ।
ब्रह्मणः स्थानमासाद्य तत्र चापि महीयते ॥ १३ ॥

वह राजा, इस लोक में बहुवर्षव्यापिनी स्थायी कीर्ति प्राप्त कर, अन्त में ब्रह्मलोक में जा, विशेष सन्मान का पात्र होता है ॥१३॥

यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः ।
तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ १४ ॥

धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को, कन्दमूल फल खा कर, तप द्वारा ऋषि जो पुण्यफल सञ्चय करते हैं, उसका चौथा भाग मिलता है ॥ १४ ॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानप्रस्थगणो महान् ।
त्वन्नाथोऽनाथवद्राम राक्षसैर्वाध्यते भृशम् ॥ १५ ॥

हे रामचन्द्र ! यह वानप्रस्थ लोग, जिनमें ब्राह्मण अधिक हैं, तुम जैसे रक्षक के रहते भी अनाथ की तरह राक्षसों द्वारा मारे जाते हैं ॥ १५ ॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।
हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा[1] वने ॥ १६ ॥

हे राम ! आप इधर आइये और उन बहुत से आत्मदर्शी मुनियों के मृत शरीरों को देखिये जिनको घोर राक्षसों ने भालों की नोकों से छेदकर, तलवारों से काट कर मार डाला है ॥ १६ ॥

---

१ बहुधा—छेदनभेदनभक्षणादिभिः । (गो०)

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।
चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं[1] महत् ॥ १७ ॥

पम्पानदी के तटवर्ती तथा मन्दाकिनी के तट पर रहने वाले और चित्रकूटवासी ऋषि ही बहुत मारे जाते हैं ॥ १७ ॥

एवं वयं न मृष्यामो[2] विप्रकारं[3] तपस्विनाम् ।
क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मभिः ॥ १८ ॥

हमसे, इन तपस्वियों के ये कष्ट, जो उन्हें इस वन में, भयङ्कर राक्षसों द्वारा मिला करते हैं, सहन नहीं होते। अथवा इस वन में भयङ्कर राक्षस तपस्वियों को जो दुःख दिया करते हैं, वे हमसे सहे नहीं जाते ॥ १८ ॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।
परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः ॥ १९ ॥

हे राम ! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः हम सब आपके शरण आये हैं। आप हमको इन राक्षसों से जो हम लोगों को मारा करते हैं, बचाइये ॥ १९ ॥

परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते ।
परिपालय नः सर्वान्राक्षसेभ्यो नृपात्मज २० ॥

हे वीर ! इस पृथिवी पर आपको छोड़, दूसरा कोई हमारी रक्षा करने वाला, हमें नहीं देख पड़ता । अतः हे राजकुमार ! आप हमारी इन राक्षसों से रक्षा करें ॥ २० ॥

---

१ कदनं हिंसा । (गो०) २ नमृष्यामः—सोढुमशक्ताः । (रा०) ३ विप्रकारं—दुःखं । (रा०)

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां[1] तपस्विनाम्[2] ।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः ॥ २१ ॥

इस प्रकार उन महातपा तपस्वियों के वचन सुन, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी ने उन सब तपस्वियों से उत्तर में यह कहा ॥ २१ ॥

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञप्तोऽहं तपस्विनाम् ।
केवलेनात्मकार्येण प्रवेष्टव्यं मया वनम् ॥ २२ ॥

आप लोगों का मुझसे प्रार्थना करना ठीक नहीं । क्योंकि मैं तो तपस्वियों का आज्ञाकारी हूँ । मुझको केवल अपने कार्य के लिये इस वन में आया हुआ जानिये, अथवा आप मुझे अपना कार्य कराने को, जिस वन में चाहिये भेज दीजिये ॥ २२ ॥

विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ॥ २३ ॥

मैं तो आप लोगों के कष्ट को, जो आप लोगों को राक्षसों से मिलता है, दूर करने, तथा पिता की आज्ञा का पालन करने ही को इस वन में आया हूँ ॥ २३ ॥

[नोट—"प्रविष्टोऽहमिदंवनम्" का तात्पर्य यही है कि, यदि मुझे केवल पिता की आज्ञानुसार वनवास ही करना होता तो मैं यहाँ न आ कर दूसरे किसी वन में जा सकता था ; किन्तु मुझे तो पिता की आज्ञा का पालन और आपके कष्टों को दूर करना था । इसी लिये मैं इस वन में आया हूँ ।]

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया ।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥ २४ ॥

---

१ तापसानां—मुनीनां । (गो०) २ तपस्विनां—प्रशस्ततपसां । (गो०)

आप लोगों के काम के लिये ही मैं इच्छापूर्वक यहाँ आया हूँ। अतः मेरा इस वन में रहना बड़ा लाभदायक होगा ॥ २४ ॥

तपस्विनां रणे शत्रून्हन्तुमिच्छामि राक्षसान् ।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः ॥ २५ ॥

मैं तपस्वियों के शत्रु राक्षसों का युद्धक्षेत्र में वध करना चाहता हूँ। तपोधन ऋषिगण मेरे और मेरे भाई के पराक्रम को देखें ॥२५॥

दत्त्वाऽभयं चापि तपोधनानां
धर्मे धृतात्मा सह लक्ष्मणेन ।
तपोधनैश्चापि सभाज्यवृत्तः
सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम वीरः ॥ २६ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

धर्मधुरन्धर वीर श्रीरामचन्द्र तपस्वियों को अभय कर, और उनसे पूजित हुए। तदनन्तर लक्ष्मण, सीता, तथा उन ऋषियों को अपने साथ ले, वे सुतीक्ष्ण जी के आश्रम की ओर चले ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तमः सर्गः

—*—

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परन्तपः ।
सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः ॥ १ ॥

परन्तप श्रीरामचन्द्र जी, उन मुनियों को अपने साथ लिये हुए, सीता और लक्ष्मण सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर गये ॥ १ ॥

स गत्वाऽदूरमध्वानं नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
ददर्श विपुलं शैलं[1] महामेघमिवोन्नतम्[2] ॥ २ ॥

शरभङ्ग ऋषि के आश्रम से बहुत दूर आगे जा, और मार्ग में अनेक गहरी नदियों को पार कर, बड़े चौड़े और एक बड़े बादल की तरह श्यामरंग के, पार्वत्यवन प्रदेश में, वे जा पहुँचे ॥ २ ॥

ततस्तदिक्ष्वाकुवरौ सन्ततं विविधैर्द्रुमैः ।
काननं तौ विविशतुः सीतया सह राघवौ ॥ ३ ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकुवंश सम्भूत श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, सीता जी सहित, उस वन में पहुँचे, जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे हुए थे ॥ ३ ॥

प्रविष्टस्तु वनं घोरं बहुपुष्पफलद्रुमम् ।
ददर्शाश्रममेकान्ते चीरमालापरिष्कृतम्[3] ॥ ४ ॥

उस वन में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी ने, अनेक फलफूल वाले वृक्षों के बीच बना हुआ, एकान्त स्थल में एक आश्रम देखा, जो चारों ओर पुष्पमालाओं से भूषित था ॥ ४ ॥

तत्र तापसमासीनं मलपङ्कजटाधरम् ।
रामः सुतीक्ष्णं विधिवत्[4] तपोवृद्धमभाषत ॥ ५ ॥

---

१ शैलं—शैलसम्बन्धिवनं । (गो०) २ महामेघमिवेति—श्यामकायामुपमा । (गो०) ३ परिष्कृतं—अलंकृतं । (गो०) ४ विधिवत्—क्रमवत् । (गो०)

वहाँ पर धूलधूसरित शरीर और जटाधारी अथवा धूल-धूसरित जटाधारी और तपस्या में लीन, तपोवृद्ध सुतीक्ष्ण को देख, श्रीरामचन्द्र जी उनसे क्रमशः यह बोले ॥ ५ ॥

रामोऽहमस्मि भगवन्भवन्तं द्रष्टुमागतः ।
त्वं माऽभिवद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम[1] ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! मेरा नाम श्रीरामचन्द्र है। मैं यहाँ आपके दर्शन करने आया हूँ। अतएव हे धर्मज्ञ ! हे अमोघ-तपः-प्रभाव-शालिन महर्षे ! आप मुझसे बोलिये ॥ ६ ॥

स निरीक्ष्य ततो वीरं रामं धर्मभृतां वरम् ।
समाश्लिष्य च बाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब सुतीक्ष्ण जी ने धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखा और दोनों भुजाओं से श्रीरामचन्द्र जी को अपने हृदय से लगा लिया। तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ ७ ॥

स्वागतं खलु ते वीर राम धर्मभृतां वर ।
आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम् ॥ ८ ॥

हे धार्मिकश्रेष्ठ ! हे वीर श्रीराम ! आप भले आये। आपके यहाँ पधारने से यह आश्रम इस समय सनाथ की तरह दिखलाई पड़ता है ॥ ८ ॥

प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः ।
देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले ॥ ९ ॥

हे महायशस्विन् ! मैं आपही के दर्शन की प्रतीक्षा में, इतने दिनों तक इस लोक में रहा और इस शरीर को त्याग देवलोक

---

[1] सत्यविक्रमः—अमोघतपःप्रभाव । गो०

को नहीं गया। अथवा आपही के दर्शन की अभिलाषा से मैं इस संसार में अभी तक हूँ और परलोक जाने के लिये मैंने शरीर नहीं त्यागा ॥ ९ ॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टोऽसि मे श्रुतः।
इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः ॥ १० ॥

मैंने यह सुना था कि, आप राज्य त्याग कर चित्रकूट में वास करते हैं। हे काकुत्स्थ! यहाँ देवराज इन्द्र आये थे ॥ १० ॥

[क्यों आये थे सो बतलाते हैं कि,]

उपागम्य च मां देवो महादेवः सुरेश्वरः।
सर्वाल्लोकाञ्जितानाह मम पुण्येन कर्मणा ॥ ११ ॥

महादेव सुरेश्वर इन्द्र ने आ कर मुझसे कहा कि, तुम अपने पुण्यफल के प्रभाव से समस्त लोकों को जीत चुके, (अर्थात् समस्त लोकों में जाने के अधिकारी हो चुके) ॥ ११ ॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया।
मत्प्रसादात्सभार्यस्त्वं विहरस्व सलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

सो हे राम! मेरे तपोबल से जीते हुए उन लोकों में, जहाँ देवर्षियों का वास है, मेरे अनुग्रह से आप सीता और लक्ष्मण सहित, विहार कीजिये ॥ १२ ॥

[नोट—सुतीक्ष्णजी, अपने तप का फल, जैसा कि अनन्य भगवद्भक्त किया करते हैं, भगवान् के समर्पण करते हैं।]

तमुग्रतपसा युक्तं महर्षिं सत्यवादिनम् ॥
प्रत्युवाचात्मवान्रामो ब्रह्माणमिव काश्यपः ॥ १३ ॥

यह सुन आत्मवान् श्रीरामचन्द्र जी, सत्यवादी और उग्र तपस्या करने वाले महर्षि सुतीक्ष्ण से उसी प्रकार बोले, जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्मा जी से बोलते हैं ॥ १३ ॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान्महामुने ।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ १४ ॥

हे महामुने ! मैं स्वयं ही इन लोकों का सम्पादन कर लूँगा। मैं इस वन में रहना चाहता हूँ, सो आप मुझे कोई स्थान बतला दें ॥ १४ ॥

भवान्सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः ।
आख्यातः शरभङ्गेण गौतमेन महात्मना ॥ १५ ॥

क्योंकि गौतम कुलोद्भव महात्मा शरभङ्ग ने मुझसे यह कहा है कि, आप इस वन के सब स्थानों के जानकार और परोपकारी हैं ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिर्लोकविश्रुतः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं हर्षेण महताऽऽप्लुतः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन लोकविश्रुत महर्षि सुतीक्ष्ण अत्यन्त प्रसन्न हो, यह मधुर वचन बोले ॥ १६ ॥

अयमेवाश्रमो राम गुणवान्रम्यतामिह ।
ऋषिसङ्घानुचरितः सदा मूलफलान्वितः ॥ १७ ॥

हे राम ! आप इसी आश्रम में रहिये । क्योंकि इस आश्रम में सब प्रकार की सुविधाएँ हैं। यहाँ ऋषि लोग रहते हैं, और फल और कन्दमूल फल भी सदा मिला करते हैं ॥ १७ ॥

इममाश्रममागम्य मृगसङ्घा महायशः ।
अटित्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वा[1]कुतोभयाः ॥ १८ ॥

किन्तु इस आश्रम में वन्यपशुओं के झुण्ड के झुण्ड आया करते हैं और घूमघाम कर तथा अपने शरीर की सुन्दरता से आश्रमवासियों का मन लुभा कर लौट जाते हैं और किसी से नहीं डरते ॥ १८ ॥

नान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै ।
तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः ॥ १९ ॥
उवाच वचनं धीरो विकृष्य सशरं धनुः ।
तानहं सुमहाभाग मृगसङ्घान्समागतान् ॥ २० ॥
हन्यां निशितधारेण शरेणाशनिवर्चसा ॥
भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात्कृच्छ्रतरं ततः ॥ २१ ॥

अतः आप जान लें कि, यहाँ पर जंगली जानवरों के उपद्रव को छोड़ और किसी बात का खटका नहीं है । महर्षि के ऐसे वचन सुन, धीर श्रीरामचन्द्र जी ने तीर कमान हाथ में ले, यह वचन कहे—हे महाभाग ! मैं यहाँ आने वाले वन्यपशुओं को पैने धारवाले बाणों से मारूँगा । परन्तु इससे आपका मन दुःखी होगा, और आपका मन दुःखी होने से मुझे बड़ा कष्ट होगा ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये ।
तमेवमुक्त्वा वरदं रामः सन्ध्यामुपागमत् ॥ २२ ॥

अतः मैं इस आश्रम में बहुत दिनों तक रहना उचित नहीं समझता । यह कह श्रीरामचन्द्र जी सन्ध्या करने चले गये ॥ २२ ॥

---

१ लोभयित्वा—समाधिभङ्गं जनयित्वा विचित्रतरवपैरिति शेषः । (गो०)

अन्वास्य पश्चिमां सन्ध्यां तत्र वासमकल्पयत् ।
सुतीक्ष्णस्याश्रमे रम्ये सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २३ ॥

तदनन्तर सायंसन्ध्योपासन कर, श्रीरामचन्द्र जी सुतीक्ष्ण के रमणीक आश्रम में सीता लक्ष्मण सहित बसे ॥ २३ ॥

ततः शुभं[1] तापसभोज्य[2]मन्नं
स्वयं सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाभ्याम् ।
ताभ्यां सुसत्कृत्य[3] ददौ महात्मा
सन्ध्यानिवृत्तौ रजनीमवेक्ष्य[4] ॥ २४ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

जब श्रीरामचन्द्र सायंसन्ध्योपासन कर चुके तब महात्मा सुतीक्ष्ण जी ने दोनों राजकुमारों का अर्घ्यपाद्यादि से अच्छी तरह पूजन कर उनको रात में खाने योग्य पवित्र फल मूल तथा अन्नादि स्वयं ला कर दिये ॥ २४ ॥

[नोट—भूषणटीकाकार का मत है कि, सीता जी ने ("रामभुक्त शेष") राम जी की पत्तल में बचा हुआ अन्न खाया था । अतः इस श्लोक में सीता जी का नाम नहीं है ।]

अरण्यकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

---

१ शुभं—भक्त्युपनीतत्वेन पावनं । (गो०) २ तापसभोज्यं—फलमूलादि । (गो०) ३ सुसत्कृत्य—अर्घ्यपाद्यादिना सम्पूज्य । (गो०) ४ रजनीमवेक्ष्य—रजनीभक्ष्यानुसारं । (गो०)

अष्टमः सर्गः

—:*:—

रामस्तु सहसौमित्रिः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः ।
परिणाम्य[1] निशां तत्र प्रभाते प्रत्यबुध्यत ॥ १ ॥

सुतीक्ष्ण द्वारा भली प्रकार सत्कारित हो, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने वह रात उसी आश्रम में बितायी और सवेरा होते ही जागे ॥ १ ॥

उत्थाय तु यथाकालं राघवः सह सीतया ।
उपास्पृशत्[2]सुशीतेन जलेनोत्पलगन्धिना ॥ २ ॥

तदनन्तर सीता सहित यथा समय बिस्तरे से उठ, श्रीरामचन्द्र जी ने कमलों की सुवास से युक्त शीतल जल से स्नान किये ॥ २ ॥

[नोट—कमल पुष्प की गन्ध से युक्त जल, तालाब ही का हो सकता है, अतः इससे जान पड़ता है कि, श्रीराम जी ने तालाब में स्नान किये थे ।]

अथ तेऽग्निं सुरांश्चैव[3] वैदेही रामलक्ष्मणौ ।
काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विशरणे वने ॥ ३ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और वैदेही ने उस तपोवन में विधिवत् और यथासमय हवन कर परिवार सहित नारायण का पूजन किया ॥ ३ ॥

[नोट—नारायण के परिवार में लक्ष्मी, विष्वकसेन, गरुड़ादि हैं ।]

---

१ परिणाम्य—अतिवाह्य । (गो०) २ उपास्पृशत्—स्नातवान् । (गो०) ३ सुरान्—नारायणं । सहपत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् इत्ययोध्याकाण्डोक्तेः । परिवारापेक्षया बहुवचनं । (गो०)

उदयन्तं दिनकरं दृष्ट्वा विगतकल्मषाः ।
सुतीक्ष्णमभिगम्येदं श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ४ ॥

जब सूर्योदय हुआ, तब वे पुण्यात्मा दोनों राजकुमार, सुतीक्ष्ण के पास जा, विनीत मनोहर वचन बोले ॥ ४ ॥

[नोट—इससे यह जान पड़ता है कि, सूर्योदय होने के पूर्व ही श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण, हवन इत्यादि धर्मानुष्ठान कर चुके थे। कात्यायन सूत्रानुसार इससे अनुदित होम करने का पक्ष समर्थन होता है। "अनुदित होम" से अभिप्राय है सूर्य उदय न हो तभी होम करना।]

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पूज्येन पूजिताः ।
आपृच्छामः प्रयास्यामो मुनयस्त्वरयन्ति नः ॥ ५ ॥

हे भगवन्! आपने पूज्य हो कर भी हमारा भली भाँति सत्कार किया। हम आपके आश्रम में बड़े सुख से रहे। अब हम आपसे जाने के लिये अनुमति माँगते हैं, क्योंकि हमारे साथी मुनि चलने के लिये जल्दी मचा रहे हैं ॥ ५ ॥

त्वरामहे वयं द्रष्टुं मत्र्ममाश्रममण्डलम् ।
ऋषीणां पुण्यशीलानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ६ ॥

दण्डकवनवासी समस्त पुण्यशील ऋषियों के आश्रमों को हम शीघ्र देखना चाहते हैं ॥ ६ ॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।
धर्मनित्यैस्तपोदान्तैर्विशिखैरिव पावकैः ॥ ७ ॥

अब हमारी यह इच्छा है कि, यदि आप आज्ञा दें तो प्रज्वलित अग्निशिखा की तरह तेजस्वी सदा धर्म में तत्पर और तपोनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय इन मुनिपुङ्गवों के साथ हम चले जांय ॥ ७ ॥

अविषह्यातपो यावत्सूर्यो नातिविराजते।
अमार्गेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्वयवर्जितः[1] ॥ ८ ॥

तावदिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः।
ववन्दे सह सौमित्रिः सीतया सह राघवः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार साधु-समागम-वर्जित एवं अन्याय से उपार्जित ऐश्वर्य वाले लोगों का ऐश्वर्यवान् होना असह्य हो जाता है उसी प्रकार, जब-तक सूर्य की घाम असह्य न हो, (अर्थात् धूप में तेज़ी न आवे) तब तक ही हम रास्ता चलना चाहते हैं। (अर्थात् ठंढे ठंढे में हम मंज़िल तै करना चाहते हैं) यह कह तीनों ने मुनि को प्रणाम किया ॥ ८ ॥ ९ ॥

तौ संस्पृशन्तौ चरणावुत्थाप्य मुनिपुङ्गवः।
गाढमालिङ्ग्य सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

मुनिश्रेष्ठ सुतीक्ष्ण जी ने प्रणाम करते हुए उन दोनों राजकुमारों को उठा कर अपने हृदय से लगाया और उनसे स्नेहपूरित ये वचन कहे ॥ १० ॥

अरिष्टं गच्छ पन्थानं राम सौमित्रिणा सह।
सीतया चानया सार्धं छाययेवानुवृत्तया ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! आप लक्ष्मण, और छाया की तरह पीछे पीछे चलने वाली सीता जी सहित, मङ्गल पूर्वक यात्रा कीजिये ॥ ११ ॥

पश्याश्रमपदं रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम्।
एषां तपस्विनां वीर तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

---

१ अन्वयवर्जितः—साधुसमागमवर्जितोदुष्प्रभुरिव। (गो०)

हे वीर ! योग में जिनके मन संलग्न हैं, ऐसे दण्डकवनवासी इन सब ऋषि मुनियों के रमणीय आश्रमों को आप देख कर कृतार्थ कर आइये ॥ १२ ॥

सुप्राज्यफलमूलानि पुष्पितानि वनानि च ।
प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च ॥ १३ ॥
फुल्लपङ्कजषण्डानि प्रसन्नसलिलानि च ।
कारण्डवविकीर्णानि तटाकानि सरांसि च ॥ १४ ॥

विविध प्रकार के बहुत कन्दमूल फलों से युक्त फूले हुए वृक्षों से परिपूर्ण उन वनों में जिनमें श्रेष्ठ वन्य पशु और शान्त पक्षी रहते हैं, और जहां स्वच्छ जल वाले ऐसे ताल हैं कि, जिनमें कमल फूल रहे हैं और जिनमें कारण्डवादि जलपक्षी किलोलें किया करते हैं आप देख आइये ॥ १३ ॥ १४ ॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रस्रवणानि च ।
रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च १५ ॥

इनके अतिरिक्त जो देखने में अत्यन्त सुन्दर हैं ऐसे पहाड़ी झरने तथा बोलते हुए मोरों से भरे हुए वन भी आप देख आइये ॥ १५ ॥

गम्यतां वत्स सौमित्रे भवानपि च गच्छतु ।
आगन्तव्यं त्वया तात पुनरेवाश्रमं मम ॥ १६ ॥

हे वत्स राम ! जाइये । हे लक्ष्मण ! आप भी जाइये । किन्तु हे तात ! इन सब आश्रमों को देख, फिर भी आप मेरे इस आश्रम में आइये ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।
प्रदक्षिणं मुनिं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १७ ॥

जब सुतीक्ष्ण ने यह कहा तथा उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी "बहुत अच्छा" कह कर, लक्ष्मण सहित मुनि की परिक्रमा कर जाने के लिये उद्यत हुए ॥ १७ ॥

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा ।
ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः ॥ १८ ॥

तदनन्तर विशाल नेत्रवाली जानकी जी ने दोनों भाइयों को श्रेष्ठ तरकस और दो तेज़ धार वाली और चमकती हुई (अर्थात् साफ़-विमल) तलवारें दीं ॥ १८ ॥

[नोट—जान पड़ता है, राजकुमारों ने सोते समय ये आयुध खोल कर रख दिये थे। चलते समय सीता ने ये उनको फिर दिये।]

आबध्य च शुभे तूणी चापौ चादाय सस्वनौ ।
निष्क्रान्तावाश्रमाद्गन्तुमुभौ तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वे दोनों सुन्दर तरकस बांध लिये और दोनों ने टंकार का शब्द करने वाले दो धनुष लिये और आगे जाने के लिये वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण उस आश्रम से बाहर निकले ॥ १९ ॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ दीप्यमानौ स्वतेजसा ।
प्रस्थितौ धृतचापौ तौ सीतया सह राघवौ ॥ २० ॥

॥ इति अष्टमः सर्गः ॥

कान्तिवान्, सौन्दर्य युक्त और अपने तेज से प्रकाशित, धनुषों को लिये हुए दोनों दशरथनन्दन, सीता सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम से प्रस्थानित हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का आठवां सर्ग पूरा हुआ।

—*—

नवमः सर्गः

—*—

सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम् ।
हृद्यया[1] स्निग्धया[2] वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी, सुतीक्ष्ण से विदा माँग प्रस्थानित हुए, तब सीता जी ने अपने पति श्रीरामचन्द्र से ये युक्तियुक्त और स्नेह पूर्ण वचन कहे ॥ १ ॥

अधर्मं तु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान् ।
निवृत्तेन तु शक्योऽयं व्यसनात्कामजादिह ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! आप तो बड़े हैं, किन्तु सूक्ष्म रीत्या विचार करने से जान पड़ेगा कि, आप अधर्म को सञ्चय कर रहे हैं। इस समय आप जिस कामज व्यसन में प्रवृत्त हो रहे हैं, उससे निवृत्त होने ही से आप अधर्म के सञ्चय से बच सकते हैं। अर्थात् आप तपस्वी हैं, तपस्वी होकर भी आप यदि कामज-व्यसन-मृगादि-वध करने में प्रवृत्त होंगे तो आपको ऐसा करना नहीं सोहेगा। क्योंकि तपस्वी को हिंसा आदि करना उचित नहीं। अतः अधर्म को सञ्चित न करने के लिये, जब तक आप तपस्वी के वेष में हैं, शिकार आदि व्यसनों को त्याग दीजिये ॥ २ ॥

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत ।
मिथ्या वाक्यं परमकं तस्माद्गुरुतरावुभौ ॥ ३ ॥

---

१ हृद्यया—युक्तियुक्तत्वेन, हृदयंगमया। (गो०) २ स्निग्धया—स्नेहप्रवृत्तया। (गो०)

कामज व्यसन तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् एक तो झूठ बोलना। किन्तु झूठ बोलने से बढ़ कर दो कामज व्यसन और हैं ॥३॥

[नोट—कामज-इच्छा से अथवा जान बूझ कर व्यसन, पाप, दोष।]

परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता[१] ।
मिथ्या वाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव ॥ ४ ॥

दूसरा परस्त्रीगमन और तीसरा विना वैर जीवों की हिंसा। हे राघव ! झूठ तो आप न कभी बोले न आगे ही कभी बोलेंगे ॥४॥

कुतोऽभिलाषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम् ।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ॥ ५ ॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित् ।
स्वदारनिरतस्त्वं च नित्यमेव नृपात्मज ॥ ६ ॥

परस्त्रीगमन अथवा परस्त्री की अभिलाषा जो धर्म की नाश करने वाली है, न तो कभी आपको हुई और न आगे ही कभी होने की सम्भावना है। क्योंकि हे राजकुमार ! आप तो स्वदारनिरत अर्थात् अपनी ही स्त्री में अनुराग रखने वाले हैं, अतः इसकी कल्पना भी आपके मन में नहीं उठ सकती ॥ ५ ॥ ६ ॥

धर्मिष्ठः सत्यसन्धश्च पितुर्निर्देशकारकः ।
सत्यसन्ध महाभाग श्रीमल्ल[२]क्ष्मणपूर्वज[३] ॥ ७ ॥

फिर आप धर्मात्मा हैं, सत्यसन्ध हैं, पिता की आज्ञा का पालन करने वाले हैं, निरवधिक ऐश्वर्य सम्पन्न हैं और त्याग में लक्ष्मण से भी बढ़ कर हैं ॥ ७॥

---

१ रौद्रता—हिंसकता। (गो०) २ श्रीमान् - निरवधिकैश्वर्य। (गो०)
३ लक्ष्मणपूर्वज—वैराग्ये लक्ष्मणादप्यधिक। (गो०)

त्वयि सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
तच्च सर्वं महाबाहो शक्यं धर्तुं जितेन्द्रियैः ॥ ८ ॥

हे महाबाहो ! आप में सत्य और धर्म आदि सब शुभ गुण विद्यमान हैं। और ये गुण उसीमें ठहर सकते हैं, जो जितेन्द्रिय होता है। अर्थात् अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखता है ॥ ८ ॥

तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन ।
तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम् ॥ ९ ॥
निर्वैरं क्रियते मोहात्तच्च ते समुपस्थितम् ।
प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ १० ॥
ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम् ।
एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम् ॥ ११ ॥
प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतबाणशरासनः ।
ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्ट्वा मम चिन्ताकुलं मनः ॥ १२ ॥

हे शुभदर्शन ! मैं यह भी भली भाँति जानती हूँ कि, आप अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले हैं। परन्तु तीसरा भयानक दोष अर्थात् मोहवश बिना वैर दूसरों का वध करना, आपमें उपस्थित होने वाला है। क्योंकि हे वीर ! तुम दण्डकारण्य वासी ऋषियों की रक्षा के लिये, संग्राम में राक्षसों के मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हो और इसको पूरा करने के लिये ही आप इस प्रसिद्ध दण्डक नामक वन में धनुष बाण ले, लक्ष्मण सहित जा रहे हैं। आपको इस प्रकार जाते देख कर, मेरा जी घबड़ाता है ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

त्वद्वृत्तं[1] चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम्।
न हि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान्प्रति ॥ १३ ॥

जब मैं आपके सत्य प्रतिज्ञापालन, स्वदारनिरतत्व आदि गुणों को, जो आपके सौख्य और हित के साधन रूप हैं, सोचती विचारती हूँ, तब मुझे हे वीर ! आपका दण्डकवन में जाना अच्छा नहीं लगता अर्थात् आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः आप अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और ऐसा करने से आपके सुख और हित को हानि होगी। इन बातों पर विचार कर के मुझे आपका दण्डकवन में प्रवेश करना नहीं रुचता—पसंद नहीं आता ॥ १३ ॥

कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम।
त्वं हि बाणधनुष्पाणिर्भ्रात्रा सह वनं गतः ॥ १४ ॥

इसका कारण मैं बतलाती हूँ। आप सुनें। आप तीर कमान ले भाई सहित वन में जा रहे हैं ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा वनचरान्सर्वान्कच्चित्कुर्याः शरव्ययम्।
क्षत्रियाणां च हि धनुर्हुताशस्येन्धनानि च ॥ १५ ॥
समीपतः स्थितं तेजो[2] बलमुच्छ्रयते[3] भृशम्।
पुरा किल महाबाहो तपस्वी सत्यवाक्शुचिः ॥ १६ ॥

वहाँ जब आप राक्षसों को देखेंगे, तब उनमें से किसी न किसी पर आप बाण भी अवश्य ही चलायेंगे। क्योंकि जिस प्रकार समीप रखा हुआ ईंधन अग्नि के तेज को बढ़ाता है, उसी प्रकार क्षत्रियों

---

१ त्वद्वृत्तं—सत्यप्रतिज्ञत्वरूपचरित्रं सत्यप्रतिज्ञत्वस्वदारनिरतत्वादिकं। (रा०)
२ तेजोबलं—तेजोरूपंबलं। (गो०) ३ उच्छ्रयते—वर्धयति। (गो०)

का समीपवर्ती धनुष उनके तेज रूपी बल को बहुत बढ़ाता है। पुराने ज़माने में, हे महाबाहो ! सत्यवादी और ईमानदार ॥१५॥१६॥

कस्मिंश्चिदभवत्पुण्ये वने रतमृगद्विजे ।
तस्यैव तपसो विघ्नं कर्तुमिन्द्रः शचीपतिः ॥ १७ ॥

कोई ऋषि, मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण किसी पवित्र वन में रहा करते थे। उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये, शचीनाथ इन्द्र ॥ १७ ॥

खड्गपाणिरथागच्छदाश्रमं भटरूपधृत् ।
तस्मिंस्तदाश्रमपदे निशितः खड्ग उत्तमः ॥ १८ ॥
स न्यासविधिना दत्तः पुण्ये तपसि तिष्ठतः ।
स तच्छस्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः ॥ १९ ॥

हाथ में तलवार ले और रथ में बैठ योद्धा के वेष में (उन तपस्वी) ऋषि के आश्रम में आये। और अपनी वह उत्तम तलवार उस आश्रम में उस तपोनिष्ठ, पवित्राचरणसम्पन्न ऋषि के पास धरोहर की भाँति रख कर चले गये। ऋषि उस तलवार की या उसकी रक्षा करने लगे ॥ १८ ॥ १९ ॥

[न्यास-विधिना—धरोहर के रूप में। धरोहर की परिभाषा धर्मशास्त्र में यह दी हुई है।]

राजचोरादिकभयाद्दायादानां च वञ्चनात् ।
स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासः स परिकीर्तितः ॥]

वने तं विचरत्येव रक्षन्प्रत्ययमात्मनः[1] ।
यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च ॥ २० ॥

---

[1] आत्मनः प्रत्ययं—विश्वासस्थापितं वस्तु । (गो०)

अपने ऊपर विश्वास कर के अपने पास रखी हुई धरोहर की वस्तु—तलवार को वे जहां जाते वहां लिये रहते थे। यदि उन्हें फलमूल लाने के लिये जाना पड़ता, तो वे, उस तलवार को भी अपने साथ ही लेते जाते थे ॥ २० ॥

न विना याति तं खड्गं न्यासरक्षणतत्परः।
नित्यं शस्त्रं परिवहन्क्रमेण स तपोधनः ॥ २१ ॥

उस धरोहर की रखवाली में तत्पर वे ऋषि विना उस तलवार को लिये कहीं न जाते। उस तलवार को सदा पास रखने से धीरे धीरे उन तपस्वी की ॥ २१ ॥

चकार रौद्रीं[1] स्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम्।
ततः स रौद्रे[2]ऽभिरतः प्रमत्तो धर्मकर्शितः[3] ॥ २२ ॥
तस्य शस्त्रस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः।
एवमेतत्पुरा वृत्तं शस्त्रसंयोगकारणम् ॥ २३ ॥

बुद्धि हिंसापरायण हो गयी और उनका विश्वास तप से हट गया। उस तलवार से वे प्राणियों का वध करने लगे, और मतवाले से हो गये। वे अधर्म से पीड़ित हो, उस शस्त्र को पास रखने के कारण अन्त में नरकगामी हुए। हे राम! शस्त्र को पास रखने से प्राचीन काल में ऐसा हो चुका है ॥ २२ ॥ २३ ॥

अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये ॥ २४ ॥

---

१ रौद्रीं—हिंसापरां। (गो०) २ रौद्रे—हिंसारूपकर्मणि। (गो०) ३ अधर्मकर्शितः—पीड़ितः। (गो०)

अतः समझदार लोग, अग्नि संयोग की तरह शस्त्र संयोग को भी विकार का कारण बतलाया करते हैं। (अर्थात् जिस प्रकार अग्नि को साथ रखने से उपद्रव खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार शस्त्र पास रखने से भी उपद्रव खड़े होते हैं, मैं आपको सीख नहीं देती, प्रत्युत स्नेह और सम्मान पुरस्सर आपको इस बात का स्मरण कराती हूँ ॥ २४ ॥

न कथञ्चन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया ।
बुद्धिर्वैरं विना हन्तुं राक्षसान्दण्डकाश्रितान् ॥ २५ ॥

आप भी सदा धनुष लिये रहते हैं, अतः आप उस ऋषि जैसी बुद्धि अपनी कभी मत करना कि, विना वैर दण्डकारण्यवासी राक्षसों का वध करने लगें ॥ २५ ॥

अपराधं विना हन्तुं लोकान्वीर न कामये ।
क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु निरतात्मनाम् ॥ २६ ॥
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम् ।
क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ॥ २७ ॥

हे वीर ! विना अपराध किसी का वध करना लोग पसंद नहीं करते । वन में विचरते हुए क्षत्रियों का धनुष धारण करना (निरपराध जीवों की हिंसा करने के लिये नहीं प्रत्युत) दुःखी लोगों की रक्षा करने के लिये है । देखिये तो, कहाँ शस्त्र और कहाँ वन ? कहाँ क्षत्रिय धर्म (अर्थात् नृशंस कर्महिंसा) और कहाँ तपस्या अर्थात् (शान्तकर्म) अर्थात् ये दोनों ही परस्पर विरोधिनी बातें हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।
तदार्य कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात् ॥ २८ ॥

अतः हम लोगों के लिये देश धर्म, अर्थात् तपोवन का धर्म पूज्य है (अर्थात् तपोवन में रह कर हमें तपोवनोचित धर्म का पालन कर, उसका सम्मान करना चाहिये। क्योंकि शस्त्रों के सेवन से, क्रूर लोगों की तरह बुद्धि बिगड़ जाती है ॥ २८ ॥

पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ।
अक्षया तु भवेत्प्रीतिः श्वश्रूश्वशुरयोर्मम ॥ २९ ॥
यदि राज्यं परित्यज्य भवेस्त्वं निरतो मुनिः ।
धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ॥ ३० ॥

आप जब लौट कर अयोध्या जाइयेगा, तब पुनः क्षत्रिय धर्म का पालन कर लीजियेगा। यदि आप इस समय राज्य त्यागी होकर ऋषियों के आचरण से रहेंगे, तो मेरे सास और ससुर की प्रीति भी आप में बढ़ेगी। देखिये धर्म से अर्थ का और धर्म ही से सुख की प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥ ३० ॥

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।
आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्शयित्वा प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभ्यते सुखम् ॥ ३१ ॥

कहाँ तक कहा जाय, धर्म द्वारा सभी कुछ मिल सकता है। अतः इस जगत में धर्म ही सार है। चतुर लोग अनेक प्रकार के नियमों (चन्द्रायणव्रतादि) से यत्नपूर्वक, शरीर को कष्ट दे धर्म का साधन करते हैं, क्योंकि शारीरिक सुखदायी साधनों से धर्म का लाभ नहीं होता ॥ ३१ ॥

नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने ।
सर्वं हि विदितं तुभ्यं त्रैलोक्यमपि तत्त्वतः ॥ ३२ ॥

अतः हे सौम्य! आप इस तपोवन में जब तक रहें, तब तक सदा विशुद्ध मन से तपस्वियों के योग्य धर्मानुष्ठान करें। आपको तो तीनों लोकों का सब यथार्थ हाल मालूम ही है। (मैं आपको क्या बतला सकती हूँ) ॥ ३२ ॥

स्त्रीचापलादेतदुदाहृतं मे
धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः।
विचार्य बुद्धया तु सहानुजेन
यद्रोचते तत्कुरु मा चिरेण ॥ ॥ ३३ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

स्त्री-स्वभाव-सुलभ चपलता वश मैंने आपसे ये बातें कहीं हैं। भला आपको धर्मोपदेश कौन दे सकता है। अतः लक्ष्मण जी के साथ इन बातों पर विचार कर, जो उचित समझिये, उसे अविलंब कीजिये ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का नवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

दशमः सर्गः

—:※:—

वाक्यमेतत्तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्तया[1]।
श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ मैथिलीम् ॥ १ ॥

सीताजी ने पति के प्रेमवश हो जो बातें कहीं, उन्हें सुन, प्रतिज्ञा-पालन रूपी धर्म में रत और निष्ठावान् श्रीरामचन्द्र जी ने सुन, उत्तर में सीता जी से कहा ॥ १ ॥

---

१ भर्तृभक्तया—भर्तृप्रेमपारवश्येन। (गो०)

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया[1] सदृशं वचः ।
कुलं व्यपदिशन्त्या[2] च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञे ! हे जनकनन्दिनी ! तू ने स्नेहपूर्वक अपने उच्च कुलोद्भवा होने की सूचक जैसी हित की बातें मुझसे कही हैं, वे तुम्हारे कहने के योग्य ही हैं ॥ २ ॥

[अच्छा जब हित की बात है और ठीक है, तो फिर उसके अनुसार श्रीरामचन्द्र क्यों नहीं चले, तब न चलने का कारण दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं ।]

किं तु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ॥ ३ ॥

किन्तु अभी तुम कह चुकी हो कि, क्षत्रिय लोग धनुष धारण इस लिये करते हैं कि, (देखो सर्ग ६ का २७ वां श्लोक) जिससे किसी दुःखिया का आर्त शब्द न सुन पड़े । अर्थात् कोई बली किसी निर्बल को सताने न पावे ॥ ३ ॥

मां सीते स्वयमागम्य शरण्याः शरणं गताः ।
ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ॥ ४ ॥

फिर हे सीते ! दण्डकवनवासी वे दुःखी तपस्वी, मुझको सब का रक्षक समझ स्वयं ही मेरे शरण में आये ॥ ४ ॥

वसन्तो धर्मनिरता वने मूलफलाशनाः ।
न लभन्ते सुखं भीता राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ ५ ॥

हे भीरु ! देखो ये बेचारे सदैव फल फूल खाते और धर्मानुष्ठान करते हुए, वन में (सब से अलग) रहते हैं । तिस पर भी क्रूर कर्म

---

१ स्निग्धया—अनुरक्तया । (गो०) २ कुलं व्यपदिशन्त्या—स्वमहाकुलीनत्वं प्रख्यापयन्त्या । (गो०)

करने वाले राक्षसों के अत्याचारों के कारण, वे बेचारे सुख से नहीं रहने पाते ॥ ५ ॥

काले काले[1] च निरता नियमैर्विविधैर्वने ।
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः ॥ ६ ॥

सदैव विविध (धर्म) नियमों के पालन में निरत, वनवासी इन तपस्वियों को नरमांस भोजी घोर राक्षस खा डाला करते हैं ॥ ६ ॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ।
अस्मानभ्यवपद्येति[2] मामूचुर्द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

राक्षसों द्वारा खाये जाने वाले दण्डकवनवासी वे ब्राह्मणोत्तम मेरे अनुग्रह के प्रार्थी हुए हैं ॥ ७ ॥

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम् ।
कृत्वा चरणशुश्रूषां[3] वाक्यमेतदुदाहृतम् ॥ ८ ॥
प्रसीदन्तु[4] भवन्तो मे ह्रीरेषा[5] हि ममातुला[6] ।
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयै[7]रुपस्थितः[8] ॥ ९ ॥

मैंने उनको कही हुई बातें सुन और उनकी पादवंदना कर उनसे यह बात कही कि, मेरे अपचार को आप लोग क्षमा करें। मुझे स्वयं इस बात से बड़ी लज्जा है कि, जिन ब्राह्मणों के पास मुझे स्वयं जाना चाहिये था वे मेरे पास उपस्थित हुए हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ काले काले—सर्वकाले । (गो०) २ अभ्यवपद्येतिः—अनुग्रहः । (गो०) ३ चरणशुश्रूषां—पादवन्दनं । (गो०) ४ प्रसीदन्तु—ममापचारक्षमन्तां । (गो०) ५ ह्री—लज्जा । (गो०) ६ अतुला:—अधिका । (गो०) ७ उपस्थेयैः—अभिगन्तव्यैः । (गो०) ८ उपस्थितः—अभिगतः । (गो०)

किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसन्निधौ ।
सर्वैरेतैः समागम्य वागियं समुदाहृता ॥ १० ॥

अब बतलाइये—मैं अब आपकी क्या सेवा करूँ? हे सीते! मैंने जब उनसे यह कहा, तब वे सब ब्राह्मण एक साथ यह बोले ॥ १० ॥

राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः ।
अर्दिताः स्म दृढं राम भवान्नस्तत्र रक्षतु ॥ ११ ॥

हे श्रीराम! इस दण्डकवन में बहुत से कामरूपी राक्षस हमें सताया करते हैं, इस समय उनसे हमारी रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

होमकालेषु सम्प्राप्ताः पर्वकालेषु चानघ ।
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १२ ॥

(क्योंकि वे केवल हमें सताते ही नहीं हैं, बल्कि) अग्निहोत्र करते समय और दर्शपौर्णमासादि यज्ञों के समय, वे मांसभक्षी दुर्धर्ष राक्षस आ कर यज्ञकार्यों में बाधा डालते हैं। या विघ्न करते हैं ॥ १२ ॥

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम् ।
गतिं मृगयमाणानां[1] भवान्नः परमा गतिः[2] ॥ १३ ॥

राक्षसों से सताये हुए तपस्या में निरत तपस्वीगण इस आपत्ति से बचने के लिये, रक्षक खोज रहे हैं। सो आप ही हमारे रक्षक हैं ॥ १३ ॥

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान् ।
चिरार्जितं तु नेच्छामस्तपः खण्डयितुं वयम् ॥ १४ ॥

---

१ मृगयमाणानां—अन्वेषयतां । (गो०) २ गतिः—त्रातारं । (रा०)

यद्यपि हम लोग अपने तपोबल से शाप द्वारा उनको नष्ट कर सकते हैं, तथापि बहुत दिनों के इकट्ठे किये हुए तप को हम खण्डित करना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव ।
तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः ॥ १५ ॥

क्योंकि हम लोगों का तप नित्य अनेक विघ्नों को बचा कर सञ्चित किया हुआ है और दुश्चर है। इस लिये भले ही वे राक्षस हमें मार कर खा जायँ, परन्तु हम उनको शाप नहीं देते ॥ १५ ॥

तदर्द्यमानान्रक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः
रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने ॥ १६ ॥

अतएव राक्षसों से पीड़ित हम दण्डकवनवासियों की, अपने भाई सहित आप रक्षा कीजिये। क्योंकि इस वन में आप ही हमारे रक्षक हैं ॥ १६ ॥

मया चैतद्वचः श्रुत्वा कार्त्स्न्येन परिपालनम् ।
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे ॥ १७ ॥

हे जनकनन्दिनी ! दण्डकवनवासी ऋषियों के ऐसे वचन सुन, मैंने सब प्रकार से रक्षा करने की उनसे प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम् ।
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा ॥ १८ ॥

अब मैं अपनी इस प्रतिज्ञा को जो मैंने मुनियों से की है जीते जी अन्यथा नहीं कर सकता। क्योंकि सत्य ही सदा से मेरा इष्ट है ॥ १८ ॥

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥ १९॥

मुझे भले ही अपने प्राण गँवाने पड़ें अथवा लक्ष्मण सहित तुम्हें ही क्यों न त्याग देना पड़े; किन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं त्याग सकता। विशेष कर उस प्रतिज्ञा को जो ब्राह्मणों से कर चुका हूँ॥ १९॥

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम्।
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय तु किं पुनः॥ २०॥

हे वैदेही! ऋषियों का पालन तो मुझे अवश्य ही करना चाहिये, चाहें वे कहें या न कहें। फिर मैं तो उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा किये हुए हूँ॥ २०॥

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वयाऽनघे।
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टो[1]ऽनुशिष्यते॥ २१॥

हे अनघे सीते! तुमने स्नेह और सौहार्द से जो ये बातें कही हैं, उनसे मैं तुमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ। क्योंकि अप्रिय पुरुष को उपदेश कोई नहीं करता॥ २१॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥ २२॥

हे सीते! तुमने मुझसे अपने वंश के योग्य और उचित वचन ही कहे हैं। तुमको ऐसा ही करना उचित भी था क्योंकि तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे तुम प्राणों से भी अधिक प्यारी हो॥२२॥

---

१ अनिष्टः—अप्रियः पुरुषः। (गो०)

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम् ।
रामो धनुष्मान्सह लक्ष्मणेन ।
जगाम रम्याणि तपोवनानि ॥ २३ ॥

इति दशमः सर्गः ॥

धनुष धारण किये हुए महात्मा श्रीरामचन्द्र जी, जनकनन्दिनी प्यारी सीता से इस प्रकार के वचन कह कर, लक्ष्मण सहित उस रमणीय तपोवन में चले गये ॥ २३ ॥

अरण्यकाण्ड का दसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

एकादशः सर्गः

—※—

अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुमध्यमा ।
पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ॥ १ ॥

आगे आगे श्रीरामचन्द्र, बीच में पतली कटि वाली सीता जी और सीता जी के पीछे हाथ में धनुष लिये लक्ष्मण चले जाते थे ॥ १ ॥

तौ पश्यमानौ विविधाञ्शैलप्रस्थान्वनानि च ।
नदीश्च विविधा रम्या जग्मतुः सीतया सह ॥ २ ॥

उन दोनों ने जानकी सहित जाते समय तरह तरह के पर्वत-शृङ्गों को, वनों को तथा अनेक रम्य नदियों को देखा ॥ २ ॥

सारसांश्चक्रवाकांश्च नदीपुलिनचारिणः ।
सरांसि च सपद्मानि युक्तानि जलजैः खगैः ॥ ३ ॥

उन नदियों के तटों पर सारस, चकई और चकवा विचर रहे थे। तालाबों में कमल फूले हुए थे और उनमें जलपक्षी तैर रहे थे ॥ ३ ॥

यूथबद्धांश्च पृषतान्मदोन्मत्तान्विषाणिनः ।
महिषांश्च वराहांश्च नागांश्च द्रुमवैरिणः ॥ ४ ॥

चित्तल हिरन, सींगदार बनैले भैंसे, तथा पेड़ों के शत्रु शूकर और हाथियों के झुण्ड के झुण्ड वन में घूम रहे थे ॥ ४ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ।
ददृशुः सहिता रम्यं तटाकं योजनायतम् ॥ ५ ॥

बहुत दूर चल कर, सूर्य डूबने के समय, इन्होंने एक रमणीक झील देखी जो एक योजन लंबी थी ॥ ५ ॥

पद्मपुष्करसंबाधं गजयूथैरलङ्कृतम् ।
सारसैर्हंसकादम्बैः सङ्कुलं जलचारिभिः ॥ ६ ॥

उस झील में कमल के फूल फूले हुए थे, उसके आस पास हाथियों के झुण्ड के झुण्ड घूम फिर रहे थे और सारस राजहंस कलहंस आदि जलपक्षिगण उसमें कल्लोलें कर रहे थे ॥ ६ ॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन्सरसि शुश्रुवे ।
गीतवादित्रनिर्घोषो न तु कश्चन दृश्यते ॥ ७ ॥

उस निर्मल और रमणीय जलवाली झील में गाने बजाने का शब्द तो सुनाई पड़ता था; परन्तु वहाँ गाने बजाने वाला कोई नहीं देख पड़ता था ॥ ७ ॥

ततः कौतूहलाद्रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।
मुनिं धर्मभृतं नाम प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ८ ॥

तब महाबलवान् श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने कौतूहलवश, धर्मभृत नामक ऋषि से पूछा ॥ ८ ॥

इदमत्यद्भुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने ।
कौतूहलं महज्जातं किमिदं साधु कथ्यताम् ॥ ९ ॥

हे महर्षे ! यहाँ गाने बजाने का यह अद्भुत शब्द सुन, हम लोगों को बड़ा कौतुक हुआ है, यह है क्या ? सो आप ठीक ठीक बतलाइये ॥ ९ ॥

वक्तव्यं यदि चेद्विप्र नातिगुह्यमपि प्रभो ।
तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा ॥ १० ॥
प्रभावं सरसः कृत्स्नमाख्यातुमुपचक्रमे ।
इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम् ॥ ११ ॥

हे प्रभो ! यदि कोई रहस्य की भी बात हो, तो भी कहिये । जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब धर्मात्मा मुनि तत्क्षण उस सरोवर के प्रभाव का समस्त वर्णन करने लगे । वे बोले—हे रामचन्द्र ! इसका नाम पञ्चाप्सर है और इसमें सदा जल बना रहता है ॥ १० ॥ ११ ॥

निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना ।
स हि तेपे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः ॥ १२ ॥

इसको माण्डकर्णि नामक मुनि ने अपने तपस्या के प्रभाव से निर्मित किया है । माण्डकर्णि ने बड़ा घोर तप किया था ॥ १२ ॥

दश वर्षसहस्राणि वायुभक्षो जलाश्रयः ।
ततः प्रव्यथिताः सर्वे देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १३ ॥

जब उन्होंने दस हज़ार वर्ष तक वायु पी कर और इस सरोवर में रह कर तपस्या की, तब अग्नि आदि समस्त देवता बहुत घबड़ाये ॥ १३ ॥

अब्रुवन्वचनं सर्वे परस्परसमागताः ।
अस्माकं कस्यचित्स्थानमेष प्रार्थयते मुनिः ॥ १४ ॥

वे लोग एकत्र हो, आपस में कहने लगे कि, जान पड़ता है ये ऋषि हममें से किसी देवता का पद प्राप्त करने के लिये ही तप कर रहे हैं ॥ १४ ॥

इति संविग्नमनसः सर्वे ते त्रिदिवौकसः ।
तत्र कर्तुं तपोविघ्नं देवैः सर्वैर्नियोजिताः ॥ १५ ॥
प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युत्सदृशवर्चसः ।
अप्सरोभिस्ततस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपरावरः[1] ॥ १६ ॥

ऐसा मन में विचार और घबड़ा कर, उन सब देवताओं ने ऋषि के तप में विघ्न डालने के लिये बिजली के समान तेजवाली पाँच प्रधान अप्सराओं को, इस काम के लिये नियुक्त किया । उन अप्सराओं ने, इहलोक और परलोक सम्बन्धी धर्म अधर्म को जानने वाले मुनि को ॥ १५ ॥ १६ ॥

नीतो मदनवश्यत्वं सुराणां कार्यसिद्धये ।
ताश्चैवाप्सरसः पञ्च मुनेः पत्नीत्वमागताः ॥ १७ ॥

---

१ दृष्टपरावरः—दृष्टैहिकपारलौकिकधर्माधर्मः । (रा०)

देवताओं का काम पूरा करने के लिये काम के वश में कर लिया। ऋषि ने उन पांचों अप्सराओं को अपनी स्त्रियां बना लिया ॥ १७ ॥

तटाके निर्मितं तासामस्मिन्नन्तर्हितं गृहम् ।
तथैवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम् ॥ १८ ॥

तब ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से इस झील में उनके रहने के लिये एक अदृश्य घर बनाया, जिसमें वे सब पांचों अप्सराएँ सुख पूर्वक रहने लगीं ॥ १८ ॥

रमयन्ति तपोयोगान्मुनिं यौवनमास्थितम् ।
तासां संक्रीडमानानामेष वादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

और तप के प्रभाव से युवा अवस्था को प्राप्त उन ऋषि के साथ वे विहार करने लगीं। ऋषि के साथ विहार करती हुई उन अप्सराओं ही के गाने बजाने का यह शब्द है ॥ १९ ॥

श्रूयते भूषणोन्मिश्रो गीतशब्दो मनोहरः ।
आश्चर्यमिति तस्यैतद्वचनं भावितात्मनः ॥ २० ॥

राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः ।
एवं कथयमानस्य ददर्शाश्रममण्डलम् ॥ २१ ॥

उन्हींके गहनों की झनकार से मिल कर यह मनोहर गाने का शब्द सुन पड़ता है। विशुद्धचित्त धर्मभृत से यह वृत्तान्त सुन, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ और यही बातचीत करते करते उन्होंने एक आश्रममण्डल देखा ॥ २० ॥ २१ ॥

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्मया[1] लक्ष्म्या समावृतम् ।
प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः ॥ २२ ॥

वे आश्रम कुश और चीर से वेष्टित थे और उनमें तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उस आश्रममण्डल में, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी गये ॥ २२ ॥

उवास मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महायशाः ।
तथा तस्मिन्स काकुत्स्थः श्रीमत्याश्रममण्डले ॥ २३ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण का वहाँ रहने वाले महर्षियों ने अतिथि-सत्कार किया और श्रीरामचन्द्र जी उसी आश्रम-मण्डल में टिक रहे ॥ २३ ॥

उषित्वा तु सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥ २४ ॥
येषामुषितवान्पूर्वं सकाशे स महास्त्रवित् ।
क्वचित्परिदशा[2]न्मासानेकं संवत्सरं क्वचित् ॥ २५ ॥
क्वचिच्च चतुरो मासान्पञ्चषट् चापरान्क्वचित् ।
अपरत्राधिकं मासादप्यर्धमधिकं क्वचित् ॥ २६ ॥
त्रीन्मासानष्टमासांश्च राघवो न्यवसत्सुखम् ।
एवं संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ॥ २७ ॥

रात भर सुखपूर्वक वस तथा ऋषियों द्वारा सत्कारित हो, श्रीरामचन्द्र जी वारी वारी से उन सव ऋषियों के आश्रमों में, जिनमें वे पहले हो आये थे, कहीं १४ मास, कहीं एक वर्ष,

---

१ ब्राह्मया लक्ष्म्या—ब्राह्मण सम्पूर्ण । (गो०) २ परिदशान्—चतुर्दशमासानि ।

कहीं चार मास, कहीं पाँच मास, कहीं एक वर्ष से भी अधिक, कहीं पखवारे से अधिक, कहीं तीन महीने और कहीं साढ़े तीन महीने, कहीं तीन मास, कहीं आठ मास श्रीरामचन्द्र जी सुखपूर्वक ठहरे ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ।
परिवृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥ २८ ॥

इस प्रकार वन में, धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता सहित बस कर, दस वर्ष बिता दिये ॥ २८ ॥

सुतीक्ष्णस्याश्रमं श्रीमान्पुनरेवाजगाम ह ।
स तमाश्रममासाद्य मुनिभिः प्रतिपूजितः ॥ २९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् श्रीरामचन्द्र जी फिर सुतीक्ष्ण के आश्रम में आये और आश्रम में आने पर आश्रमवासी मुनियों द्वारा उनका सत्कार किया गया ॥ २६ ॥

तत्रापि न्यवसद्रामः किञ्चित्कालमरिन्दमः ।
अथाश्रमस्थो विनयात्कदाचित्तं महामुनिम् ॥ ३० ॥
उपासीनः स काकुत्स्थ सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।
अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥
वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम् ।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥ ३२ ॥

शत्रुओं को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ कुछ दिन रह कर, एक दिन विनय पूर्वक महर्षि सुतीक्ष्ण से यह पूँछा कि, हे भगवन्! इसी वन में कहीं मुनियों में श्रेष्ठ अगस्त्य जी भी रहते हैं: यह बात

मैं नित्य ही मुनियों के मुख से सुना करता हूँ, किन्तु यह वन इतना लंबा चौड़ा है कि, मुझे उनके रहने के स्थान का पता आज तक नहीं चला ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कुत्राश्रममिदं पुण्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।
प्रसादात्तत्रभवतः सानुजः सह सीतया ॥ ३३ ॥
अगस्त्यमभिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम् ।
मनोरथो महानेष हृदि मे परिवर्तते ॥ ३४ ॥
यदहं तं मुनिवरं शुश्रुषेयमपि स्वयम् ।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥ ३५ ॥

फिर मुझे यह भी नहीं मालूम हुआ कि, उन धीमान् महर्षि का इस रमणीक वन में आश्रम किस ठौर है, मैं सीता और लक्ष्मण सहित उनको प्रसन्न करने तथा प्रणाम करने के लिये वहाँ जाना चाहता हूँ। मेरे मन में यह एक बड़ा मनोरथ है कि, मैं स्वयं उनकी सेवा शुश्रूषा करूँ। इस प्रकार मुनि जी ने, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी का वचन सुना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम् ।
अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम् ॥ ३६ ॥

और उत्तर में सुतीक्ष्ण जी ने प्रसन्न हो कर दशरथनन्दन से कहा। मैं आपसे और लक्ष्मण से यह बात कहने ही को था ॥ ३६ ॥

अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव ।
दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन्स्वयमेव ब्रवीषि माम् ॥ ३७ ॥

बड़े आनन्द की बात है कि, आपने वही बात स्वयं मुझसे कही। आप लक्ष्मण व सीता जी को साथ ले अगस्त्याश्रम में जाइये ॥ ३७ ॥

अहमाख्यामि ते वत्स यत्रगस्त्यो महामुनिः ।
योजनान्याश्रमादस्मात्तथा चत्वारि वै ततः ॥ ३८ ॥
दक्षिणेन महाञ्छ्रीमानगस्त्यभ्रातुराश्रमः ।
स्थलीप्राये वनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते ॥ ३९ ॥

हे वत्स ! अब मैं आपको उस स्थान का पता बतलाता हूँ, जहाँ अगस्त्य जी रहते हैं। सुनिये, यहाँ से चार जोजन (१६ कोस) पर, दक्षिण दिशा में अत्यन्त रमणीक अगस्त्य जी के भाई का आश्रम है। इस वन प्रदेश में उस आश्रम की भूमि चौरस है और वहाँ अनेक पीपल के पेड़ों का वन शोभित हो रहा है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाशकुनिनादिते ।
पद्मिन्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाः शिवाः ॥ ४० ॥

वहाँ बहुत से पुष्पों एवं फलों के वृक्ष हैं, और तरह तरह के पक्षी बोला करते हैं। वहाँ स्वच्छ एवं शुद्ध जल से भरे अनेक जलाशय हैं जिनमें अनेक प्रकार के कमलों के फूल फूले हुए हैं ॥ ४० ॥

हंसकारण्डवाकीर्णाश्चक्रवाकोपशोभिताः ।
तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम गम्यताम् ॥ ४१ ॥

वे सरोवर हंस, जल कुक्कुट और चक्रवाक पक्षियों से सुशोभित हैं। वहाँ एक रात ठहर कर, प्रातः काल होते ही आप वहाँ से यात्रा कीजियेगा ॥ ४१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय वनषण्डस्य[1] पार्श्वतः ।
तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम् ॥ ४२ ॥

---

१ वनषण्डस्य—वनसमूहस्य । (गो०) २ आस्थाय—उद्दिश्य । (गो०)

वहाँ से वन समूह की बगल से, दक्षिण दिशा की ओर एक योजन (४ कोस) चलने पर आपको अगस्त्य जी का आश्रम मिलेगा ॥ ४२ ॥

रमणीये वनोद्देशे बहुपादपसंवृते ।
रंस्यते तत्र वैदेही लक्ष्मणश्च सह त्वया ॥ ४३ ॥

वहाँ रमणीय और अनेक वृक्षों से युक्त आश्रम में आप सीता और लक्ष्मण के सहित सुख से वास कीजियेगा ॥ ४३ ॥

स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसङ्कुलः ।
यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥ ४४ ॥

वह वनस्थली अनेक वृक्षों से सुशोभित होने के कारण अत्यन्त रमणीय है । यदि आप उन महर्षि अगस्त्य जी के दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४४ ॥

अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महायशः ।
इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राऽभिवाद्य च ॥ ४५ ॥

तो हे महायशस्विन् ! आज ही जाने का निश्चय कर लीजिये । सुतीक्ष्ण जी के ये वचन सुन, और भ्राता सहित मुनि को प्रणाम कर, ॥ ४५ ॥

प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुजः सीतया सह ।
पश्यन्वनानि रम्याणि पर्वतांश्चाभ्रसन्निभान् ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, अपने भाई लक्ष्मण और सीता जी को साथ ले, अगस्त्य जी के आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए और रास्ते में उन्होंने अनेक रमणीक वन और मेघ के तुल्य पर्वत देखे ॥ ४६ ॥

सरांसि सरितश्चैव पथि मार्गवशानुगान्[1] ।
सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम् ॥ ४७ ॥

सुतीक्ष्ण जी के बतलाये मार्ग की ओर, श्रीरामचन्द्र जी अनेक नदियों और सरोवरों को, जो रास्ते में पड़ते थे, देखते हुए, सुखपूर्वक चले जाते थे ॥ ४७ ॥

इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ।
एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः ॥ ४८ ॥
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः ।
यथा हि मे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः ॥ ४९ ॥
सन्नताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः ।
पिप्पलीनां च पक्वानां वनादस्मादुपागतः ॥ ५० ॥
गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः ।
तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः ॥ ५१ ॥

चलते चलते श्रीरामचन्द्र जी ने परमहर्षित हो, लक्ष्मण जी से यह बात कही कि, निश्चय ही महात्मा अगस्त्य के पुण्यात्मा भ्राता का यह आश्रम दिखलाई पड़ता है। क्योंकि, जैसा सुना था, वैसा ही मार्ग से इस वन में आते आते, फल और फूलों के बोझ से झुके हुए, हजारों वृक्ष देख पड़ते हैं। यह देखो पकी हुई पीपलों की कड़वी बू, वन के पवन से उड़ायी हुई, आ रही है। जगह जगह इकट्ठे किये हुए काठ के ढेर देख पड़ते हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

लूनाश्च पथि दृश्यन्ते दर्भा वैडूर्यवर्चसः ।
एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम् ॥ ५२ ॥

---

[1] मार्गवशानुगान्—मार्गवशात्प्राप्तान् । (रा०)

पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं संप्रदृश्यते ।
विविक्तेषु[1] च तीर्थेषु कृतस्नाता द्विजातयः ॥ ५३ ॥
पुष्पोपहार कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमार्जितैः ।
तत्सुतीक्ष्णस्य वचनं यथा सौम्य मया श्रुतम् ॥ ५४ ॥

और हरी मणि अर्थात् पन्ने की तरह ये कटे हुए हरे हरे रंग के कुश रास्ते में देख पड़ते हैं। देखो, वन में यह काले मेघ के शृङ्ग की तरह आश्रम के अग्नि का धूम देख पड़ता है। इन पवित्र तीर्थों में ब्राह्मण लोग स्नान कर और स्वयं तोड़े हुए फूलों से पुष्पार्चा (पुष्पाञ्जलि) कर रहेहैं। हे सौम्य! सुतीक्ष्ण ने जो पहचानें बतलायी थीं, वे सब यहाँ देख पड़ती हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

[नोट—श्लोक में "कुसुमैः स्वयमार्जितैः" को देख--पूजाविधान का यह प्रमाण स्मरण हो आता है—" समित्पुष्पकुशादीनि श्रोत्रियः स्वयमाहरेत । " अर्थात् हवन के लिये समिधा, कुश और पूजन के लिये पुष्प श्रोत्रिय ब्राह्मण को स्वयं लाने चाहिये ।]

अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति ।
निगृह्य तरसा मृत्युं[2] लोकानां हितकाम्यया ॥ ५५ ॥
यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्छरण्या[3] पुण्यकर्मणा ।
इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेल्वलः ॥ ५६ ॥

अतः अगस्त्य जी के भाई का आश्रम अवश्य यही होगा। इनके भाई अगस्त्य जी ने सब लोगों के हितार्थ, बलपूर्वक मृत्यु के समान दैत्यों को मार कर, इस दक्षिण दिशा को पुण्यात्माओं (ऋषि मुनियों)

---

१ विविक्तेषु—पूतेषु । (गो०) २ मृत्युं तत्तुल्यं दैत्यं । (रा०)
३ शरण्या—वासयोग्या । (रा०)

के रहने योग्य बना दिया है। किसी समय इस वन में बड़े क्रूर वातापि और इल्वल नाम के ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणघ्नौ महासुरौ ।
धारयन्ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्[1] ॥ ५७ ॥

दो महाअसुर भाई, जो ब्राह्मणों को मार कर खा जाया करते थे, रहते थे। इनमें से इल्वल नाम का राक्षस, ब्राह्मण का रूप धर और ब्राह्मण की तरह संस्कृत भाषा बोलता हुआ ॥ ५७ ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, उस समय के ब्राह्मणों की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी।]

आमन्त्रयति विप्रान्स्म श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः ।
भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम् ॥ ५८ ॥

श्राद्ध के बहाने, ब्राह्मणों को न्योता देता था। फिर मेढ़ा का रूप धारण किये हुए अपने भाई वातापि को मार कर और उसका मांस पका कर ॥ ५८ ॥

तान्द्विजान्भोजयामास श्राद्धदृष्टेन[2] कर्मणा ।
ततो भुक्तवतां तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥
वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन् ।
ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन् ॥ ६० ॥

श्राद्ध की विधि से उनको भोजन करा दिया करता था। जब ब्राह्मण भोजन कर चुकते, तब इल्वल बड़े ज़ोर से चिल्ला कर कहता था कि, हे भाई वातापे! तुम निकल आओ। तब वातापी भी भाई का वचन सुन, मेढ़े के समान बोलता हुआ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

---

१ संस्कृतंवदन्—ब्राह्मणवदितिशेषः। (रा०) २ श्राद्धदृष्टेन—श्राद्धकल्पावगतेन। (गो०)

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतत् ।
ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः ॥ ६१ ॥
विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः ।
अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणों के शरीरों को चीरता फाड़ता निकल आता था। हे लक्ष्मण ! इस प्रकार ये कामरूपी और नरमांसभोजी राक्षस मिल कर, सहस्रों ब्राह्मण नित्य मारने लगे। तब देवताओं ने आ कर, महर्षि अगस्त्य की स्तुति की ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

अनुकूलः किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः ।
ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तोदकं ततः ॥ ६३ ॥

और अगस्त्य जी ने अन्य ब्राह्मणों की तरह श्राद्धभोजन में वातापि का भक्षण किया। तब इल्वल ने " सम्पन्न " (अर्थात् श्राद्ध पूरा हुआ) कह कर, मुनि के हाथ पर " अवनेजन " (भोजनानन्तर का आचमन) के लिये जल दे कर, ॥ ६३ ॥

भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः सोऽभ्यभाषत ।
स तं तथा भाषमाणं भ्रातरं विप्रघातिनम् ॥ ६४ ॥

सदा की भांति (पेट फाड़ कर) निकलने के लिये भाई को पुकारा। तब ब्राह्मणों का घात करने वाले और भाई को बार बार पुकारने वाले इल्वल से ॥ ६४ ॥

अब्रवीत्प्रहसन्धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः ।
कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः ॥ ६५ ॥

मुनियों में श्रेष्ठ और बुद्धिमान् अगस्त्य जी ने हँस कर कहा कि, भला अब वह कैसे निकल सकता है, क्योंकि मैंने तो उस राक्षस को पचा डाला ॥ ६५ ॥

भ्रातुस्ते मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम् ।
अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रयम्[1] ॥ ६६ ॥

मेढ़ा रूपधारी तेरा भाई तो यमालय में पहुँच गया। अगस्त्य जी के मुख से भाई के मरने की बात सुन, ॥ ६६ ॥

प्रधर्षयितुमारेभे[2] मुनिं क्रोधान्निशाचरः ।
सोऽभिद्रवन्मुनिश्रेष्ठं मुनिना दीप्ततेजसा ॥ ६७ ॥

क्रोध में भर वह राक्षस अगस्त्य जी को मार डालने के लिये उन पर झपटा। तब तपस्या के तेज से दीप्तमान अगस्त्य जी ने ॥ ६७ ॥

चक्षुषाऽनलकल्पेन[3] निर्दग्धो निधनं गतः ।
तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः ॥ ६८ ॥

प्रज्वलित अग्नि के समान नेत्रों से उसकी ओर देख, उसे भस्म कर, मार डाला। हे लक्ष्मण! उन्हीं अगस्त्य जी के भाई का यह तड़ाग और वन से शोभित आश्रम है ॥ ६८ ॥

विप्रानुकम्पया येन कर्मेदं दुष्करं कृतम् ।
एवं कथयमानस्य तस्य सौमित्रिणा सह ॥ ६९ ॥

जिन्होंने ब्राह्मणों के ऊपर अनुग्रह कर, दूसरों से न होने योग्य, यह काम किया था। इस प्रकार, लक्ष्मण जी से बातचीत करते करते ॥ ६९ ॥

रामस्यास्तं गतः सूर्यः सन्ध्याकालोऽभ्यवर्तत ।
उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि ॥ ७० ॥

---

१ निधनसंश्रयं—नाशविषयं। (गो०) २ प्रधर्षयितुं—हिंसितुं। (गो०) ३ अनलकल्पेन—अग्निसदृशेन। (गो०)

सूर्य अस्त हो गये और सन्ध्याकाल हो गया। तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने यथाविधि सायं सन्ध्योपासन किया॥ ७०॥

[नोट—अगस्त्य तथा इल्वल-वातापि के आख्यान को पढ़ कर यह बात भी जानी जाती है कि, रामायणकाल में ब्राह्मण, ब्राह्मणों को. श्राद्धभोजन में मांस का भी भोजन करवाया करते थे।]

प्रविवेशाश्रमपदं तमृषिं सोऽभ्यवादयत्।
सम्यक्प्रतिगृहीतश्च मुनिना तेन राघवः॥ ७१॥

सन्ध्योपासन करने के उपरान्त वे अगस्त्य जी के भाई के आश्रम में गये और उनको प्रणाम किया। अगस्त्य जी के भाई ने भी भली भाँति स्वागत कर उनका आतिथ्य किया॥ ७१॥

न्यवसत्तां निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च।
तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां विमले सूर्यमण्डले॥ ७२॥

कन्दमूल और फल खा कर, श्रीरामचन्द्र जी एक रात्रि वहाँ ठहरे। फिर रात बीतने और सवेरा होने पर॥ ७२॥

भ्रातरं तमगस्त्यस्य ह्यामन्त्रयत राघवः।
अभिवादये त्वां भगवन्सुखमध्युषितो निशाम्॥ ७३॥
आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम्।
गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः॥ ७४॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी के भाई से विदा माँगते समय कहा—हे भगवन्! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। हम लोगों की रात बड़े सुख से यहाँ कटी। अब आप हम लोगों को जाने की अनुमति दीजिये। क्योंकि हम लोग आपके पूज्य बड़े भाई के दर्शन करना चाहते हैं। इस पर जब अगस्त्य के भ्राता ने कहा—"बहुत अच्छा पधारिये", तब श्रीरामचन्द्र जी वहाँ से प्रस्थानित हुए॥ ७३॥ ७४॥

यथोद्दिष्टेन मार्गेण वनं तच्चावलोकयन् ।
नीवारान्पनसांस्तालांस्तिमिशान्वञ्जुलान्धवान् ॥ ७५ ॥
चिरिविल्वान्मधूकांश्च विल्वानपि च तिन्दुकान् ।
पुष्पितान्पुष्पिताग्राभिर्लताभिरनुवेष्टितान् ॥ ७६ ॥
ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान् ।
हस्तिहस्तैर्विमृदितान्वानरैरुपशोभितान् ॥ ७७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बतलाये हुए मार्ग से चलते हुए उस वन की शोभा निरखते जाते थे। उस वन में नीवार, कटहल, शाल, वञ्जुल, तिनिश, ढांक, तथा पुराने पुराने बेल, महुआ, तेंदुआ आदि वृक्ष, जो स्वयं फूले हुए थे तथा जिनमें फूली हुई लताएँ लिपटी हुई थीं, ऐसे सैकड़ों वृक्ष श्रीरामचन्द्र जी ने उस वन में देखे। उन वृक्षों में से कितने ही हाथियों की सूंड़ों से टूटे हुए थे और कितनों ही पर बंदर बैठे हुए उनकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मत्तैः शकुनिसङ्घैश्च शतशश्च प्रणादितान् ।
ततोऽब्रवीत्समीपस्थं रामो राजीवलोचनः ॥ ७८ ॥

उन वृक्षों पर सैकड़ों पक्षी मतवाले हो, बोल रहे थे। वहाँ की ऐसी शोभा देख, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ने निकटस्थ ॥७८॥

पृष्ठतोऽनुगतं वीरं लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।
स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा शान्तमृगद्विजाः ॥ ७९ ॥

और पीछे आते हुए तथा शोभा बढ़ाने वाले वीर लक्ष्मण जी से कहा—इन सब वृक्षों के पत्ते जैसे चिकने दिखलाई देते हैं और मृगगण तथा पक्षी जैसे शान्त स्वभाव दृष्टिगत हो रहे हैं, इससे तो यही जान पड़ता है कि. ॥ ७९ ॥

आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः ।
अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा[1] ॥ ८० ॥

उन विशुद्ध चित्त महर्षि का आश्रम अब अधिक दूर नहीं है, जो अपने ही कर्म से अगस्त्य के नाम से लोक में विख्यात है ॥८०॥

[नोट—अगस्त्य का अगस्त्य नाम क्यों पड़ा यह इसी सर्ग के ८६—८७ श्लोकों में सङ्केत से बतलाया गया है ।]

आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः ।
आज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः ॥ ८१ ॥

थके बटोहियों की थकावट दूर करने वाला उनका आश्रम यही देख पड़ता है । देखो न, अग्निहोत्र का धुआं वन में छाया हुआ है । जहां तहां वृक्षों की डालियों पर चीर वस्त्र सुखाने को फैलाये हुए हैं और पुष्पमालाएँ लटका कर आश्रम की सजावट की गयी है ॥८१॥

प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः ।
निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया ॥ ८२ ॥

देखो, स्वाभाविक वैर विरोध को छोड़ वन्यजन्तु कैसे शान्त बैठे हुए हैं और तरह तरह के पक्षी शब्द कर रहे हैं । इन्होंने मृत्यु रूपी उन राक्षसों को बलपूर्वक, लोकों के हितार्थ मार कर, ॥ ८२ ॥

दक्षिणा दिक्कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ।
तस्येदमाश्रमपदं प्रभावद्यस्य राक्षसैः ॥ ८३ ॥
दिगियं दक्षिणा त्रासाद्दृश्यते[2] नोपभुज्यते ।
यदाप्रभृति[3] चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा ॥ ८४ ॥

---

१ स्वेनैव कर्मणा—विन्ध्यस्तम्भन रूपेण । अगस्तम्भयतीत्यगस्त्य इति व्युत्पत्तेः । (गो०) २ त्रासात् दृश्यते—नतुप्राचीनकाल इवोपभुज्यते । (गो०) यदाप्रभृति—अगस्त्यागमनात्प्रभृति । (गो०)

दक्षिण दिशा को पुण्यकर्मा ऋषि मुनियों के रहने योग्य बना दिया है। इन्हींके प्रभाव से राक्षसगण भयभीत हो, दक्षिण दिशा की ओर केवल देखते तो हैं, किन्तु पूर्वकाल की तरह ब्राह्मणों को मार कर, खा जाने का उनको साहस नहीं होता। अब से महर्षि अगस्त्य इस आश्रम में आ कर रहने लगे हैं॥ ८३॥ ८४॥

तदाप्रभृतिनिर्वैरा: प्रशान्ता रजनीचराः।
नाम्ना[1] चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा ॥८५॥

तब से यहाँ के राक्षसों ने ब्राह्मणों के साथ वैर विरोध करना छोड़ दिया है और वे अब शान्त हो कर रहा करते हैं। इसीसे यह दक्षिण दिशा अब अगस्त्य जी की दिशा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी है॥ ८५॥

प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूरकर्मभिः।
मार्गं निरोद्धुं निरतो भास्करस्याचलोत्तमः॥ ८६॥

और क्रूरकर्मा दुर्धर्ष राक्षसों को नीचा दिखाने के कारण, दक्षिण दिशा तीनों लोकों में विख्यात हुई है। अथवा जो दक्षिण दिशा किसी समय क्रूरकर्मा राक्षसों के कारण तीनों लोकों में दुर्धर्ष कह कर प्रसिद्ध थी, वह अब अगस्त्य जी की कृपा से सब लोगों के रहने योग्य हो गयी। पर्वतों में श्रेष्ठ विन्ध्य पर्वत जो सूर्य का रास्ता रोकना चाहता था॥ ८६॥

निदेशं पालयन्यस्य विन्ध्यः शैलो न वर्धते।
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः॥ ८७॥
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान्विनीतजनसेवितः।
एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यरतः सताम्॥ ८८॥

---

[1] अतएवेयं दक्षिणादिक् नाम्ना भगवतोऽगस्त्यस्य दिगिति प्रसिद्धेत्युच्यते। (गो०)

किन्तु यह विन्ध्य शैल अगस्त्य जी की आज्ञा पालन कर, सूर्य का रास्ता रोकने को अब ऊँचा नहीं होता। तीनों लोकों में अपने कर्मों से प्रसिद्ध उन दीर्घजीवी महर्षि अगस्त्य का यहीं विनीत जनों से सेवित आश्रम है। यह मुनि, लोगों से सम्मानित हैं और साधुओं की भलाई करने में सदा तत्पर रहते हैं ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

अस्मानभिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ।
आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥ ८९ ॥

जब हम उनके आश्रम में जायँगे तब वे हमारा कल्याण करेंगे। मैं उन महर्षि अगस्त्य का आराधन करूँगा ॥ ८९ ॥

शेषं च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ।
अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ॥ ९० ॥

हे सौम्य! मैं वनवास का शेष काल अगस्त्य जी के आश्रम में रह कर ही बिताऊँगा। हे प्रभो! इस आश्रम में देवता, गन्धर्व, सिद्ध और देवर्षि ॥ ९० ॥

अगस्त्यं नियताहारं सततं पर्युपासते ।
नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो[1] वा यदि वा शठः[2] ॥ ९१ ॥
नृशंसः[3] कामवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः ।
अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतगैः[4] सह ॥ ९२ ॥

नियताहारी अगस्त्य जी की सदा उपासना किया करते हैं। ये मुनि ऐसे प्रभावशाली हैं कि, इनके आश्रम में झूठा, निर्दयी और

१ क्रूरः—निर्दयः। (गो०) २ शठः—गूढविप्रियकृत्। (गो०) ३ नृशंस—घातुकः। (गो०) ४ पतगैः—गरुडजातिभिः। (गो०)

कपटी, घातक, कामी, किसी भाँति जीवित नहीं रह सकता। यहाँ देव, यक्ष, नाग और गरुड़ ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिष्णवः।
अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसन्निभैः ॥ ९३ ॥
त्यक्तदेहा नवैर्देहैः[1] स्वर्याताः परमर्षयः।
यक्षत्वममरत्वं च राज्यानि विविधानि च।
अत्र देवाः प्रयच्छन्ति भूतैरा[2]राधिताः शुभैः ॥ ९४ ॥

नियताहार हो धर्म की आराधना करने के लिये वास करते हैं। यहाँ महात्मा सिद्ध तथा महर्षि, सूर्य की तरह चमचमाते विमानों में बैठ कर, यह शरीर छोड़ कर और दिव्य शरीर धारण कर, स्वर्ग को चले जाते हैं। जो पुण्य कर्म करने वाले हैं, वे इस आश्रम में रह कर, देवताओं के अनुग्रह से देवत्व, यक्षत्व, राज्य तथा विविध प्रकार के ईप्सित पदार्थों को पाते हैं ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

आगताः स्माश्रमपदं सौमित्रे प्रविशाग्रतः।
निवेदयेह मां प्राप्तमृषये सीतया सह ॥ ९५ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण! अब हम आश्रम में आ पहुँचे हैं। अब तुम आगे जा कर, उनको सीता सहित हमारे आगमन की सूचना दो ॥ ९५ ॥

अरण्यकाण्ड का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

---

[1] नवैः—दिव्यैः। (गो०) [2] भूतैः—प्राणिभिः। (गो०)

द्वादशः सर्गः

—*—

स प्रविश्याश्रमपदं लक्ष्मणो राघवानुजः ।
अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण आश्रम में गये और अगस्त्य जी के शिष्य के पास जा उससे यह वचन बोले ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुतो बली ।
रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया ॥ २ ॥

महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र, बलवान् श्रीरामचन्द्र जी, अपनी स्त्री सीता जी के साथ, मुनि के दर्शन करने को आये हैं ॥ २ ॥

लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः[1] ।
अनुकूलश्[2]च भक्तश्[3]च यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ ३ ॥

मेरा नाम लक्ष्मण है और मैं उनका हितकारी, प्रिय और प्रीतिमान् छोटा भाई हूँ । कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के प्रसङ्ग में आपने मेरा नाम भी सुना हो ॥ ३ ॥

ते वयं वनमत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात् ।
द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्तं निवेद्यताम् ॥ ४ ॥

हम लोग पिता की आज्ञा से इस भयङ्कर वन में आये हैं । आप जा कर, भगवान् अगस्त्य जी से निवेदन करें कि, हम लोग उनके दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

---

१ हितः—हितकारी ।(गो०) २ अनुकूलः—प्रियकरः । ३ भक्तः—प्रीतिमान् । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य तपोधनः ।
तथेत्युक्त्वाऽग्निशरणं[1] प्रविवेश निवेदितुम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के ये वचन सुन वह शिष्य बहुत अच्छा कह कर, अग्निशाला में, अगस्त्य जी से निवेदन करने के लिये गया ॥ ५ ॥

स प्रविश्य मुनिश्रेष्ठं तपसा दुष्प्रधर्षणम्[2] ।
कृताञ्जलिरुवाचेदं रामागमनमञ्जसा ॥ ६ ॥

उस शिष्य ने अग्निशाला में जा और हाथ जोड़ कर, तपोबल से युक्त मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जी से श्रीराम जी के आगमन का वृत्तान्त कहा ॥ ६ ॥

यथोक्तं लक्ष्मणेनैव शिष्योऽगस्त्यस्य सम्मतः ।
पुत्रौ दशरथस्येमौ रामो लक्ष्मण एव च ॥ ७ ॥
प्रविष्टावाश्रमपदं सीतया सह भार्यया ।
द्रष्टुं भवन्तमायातौ शुश्रूषार्थमरिन्दमौ ॥ ८ ॥

अगस्त्य जी के कृपापात्र शिष्य ने लक्ष्मण जी के कथनानुसार कहा कि, महाराज दशरथ के राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण, आप के आश्रम में अपनी भार्या सहित आये हैं और वे शत्रुतापन आपके दर्शन और आपकी सेवा शुश्रूषा करना चाहते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

यदत्रानन्तरं तत्त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।
ततः शिष्यादुपश्रुत्य प्राप्तं रामं सलक्ष्मणम् ॥ ९ ॥
वैदेहीं च महाभागामिदं वचनमब्रवीत् ।
दिष्ट्या[3] रामश्चिरस्याद्य द्रष्टुं मां समुपागतः ॥ १० ॥

---

१ अग्निशरणं—अग्निगृहं । गो० २ दुष्प्रधर्षणं—मुनिश्रेष्ठम् । गो०
३ दिष्ट्या—भाग्येनेत्यर्थः । रा०

अब जो कुछ मुझे कर्त्तव्य हो सो आज्ञा कीजिये। शिष्य के मुख से श्रीरामचन्द्र वा लक्ष्मण वा महाभागा सीता जी का आगमन सुन, अगस्त्य जी बोले—यह बड़े भाग्य की बात है कि, बहुत दिनों पर श्रीरामचन्द्र जी मुझसे मिलने आये हैं॥ ९ ॥ १० ॥

मनसा काङ्क्षितं ह्यस्य मयाप्यागमनं प्रति ।
गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ११ ॥
प्रवेश्यतां समीपं मे किं चासौ न प्रवेशितः ।
एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मज्ञेन महात्मना ॥ १२ ॥

मेरे मन में भी उनसे मिलने की अभिलाषा थी। सो तुम जा कर लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को बड़े आदर के साथ लिवा लाओ। तुम शीघ्र उनको मेरे पास लिवा क्यों नहीं लाये। जब धर्मज्ञ महात्मा अगस्त्य जी ने इस प्रकार कहा॥११॥१२॥

अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताञ्जलिः ।
ततो निष्क्रम्य सम्भ्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १३ ॥

तब शिष्य, प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर, यह कहता हुआ कि बहुत अच्छा अभी लिवाये लाता हूँ, बाहिर गया और आदर पूर्वक लक्ष्मण जी से बोला॥ १३ ॥

क्वासौ रामो मुनिं द्रष्टुमेतु प्रविशतु स्वयम् ।
ततो गत्वाऽऽश्रमद्वारं शिष्येण सह लक्ष्मणः ॥१४॥

श्रीरामचन्द्र कौन से हैं वे आवें और मुनि जी का दर्शन करें। लक्ष्मण जी उस शिष्य को अपने साथ ले आश्रम के द्वार पर गये॥ १४ ॥

दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम् ।
तं शिष्यः प्रश्रितो[1] वाक्यमगस्त्यवचनं ब्रुवन् ॥ १५ ॥

और उस शिष्य को जनकनन्दिनी सीता और श्रीरामचन्द्र को दिखलाया। उस शिष्य ने प्रीति सहित अगस्त्य जी का संदेसा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १५ ॥

प्रावेशयद्यथान्यायं सत्कारार्हं सुसत्कृतम् ।
प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥ १६ ॥

फिर उन सत्कार करने योग्यों का यथाविधि सत्कार कर, वह शिष्य श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण को आश्रम के भीतर ले गया ॥ १६ ॥

प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं ह्यवलोकयन् ।
स तत्र ब्रह्मणः स्थानमग्नेः स्थानं तथैव च ॥ १७ ॥
विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।
सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौवेरमेव च ॥ १८ ॥
धातुर्विधातुः स्थाने च वायोः स्थानं तथैव च ।
नागराजस्य च स्थानमनन्तस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च ।
स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ २० ॥
कार्त्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ।
ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनिष्पतत् ॥ २१ ॥

---

1 प्रश्रितं — प्रीतियुक्तं । (रा०)

उस आश्रम के भीतर जा श्रीरामचन्द्रादि ने देखा कि, आश्रम में शान्त स्वभाव हिरन चारों ओर बैठे हैं। इन तीनों ने देखा कि, अगस्त्य जी के आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, नागराज शेष जी, गायत्री, वसु, वरुण, कार्तिकेय, धर्मराज के स्थान वा मन्दिर बने हुए हैं। इतने में शिष्यों को साथ लिये हुए अगस्त्य जी भी अग्निशाला से निकले॥ १७॥ ॥ १८॥ १९॥ २०॥ २१॥

तं ददर्शाग्रतो रामो मुनीनां दीप्ततेजसाम्।
अब्रवीद्वचनं वीरो लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम्॥ २२॥

तब वीर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों में सब से बढ़ कर तेजस्वी अगस्त्य जी को सामने से आता हुआ देख, शोभा बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी से कहा॥ २२॥

एष लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः।
औदार्येण[1] वगच्छामि[2] निधानं तपसामिमम्॥ २३॥

हे लक्ष्मण! भगवान् अगस्त्य ऋषि अग्निशाला से निकल कर, आरहे हैं। इनके तेज विशेष को देखने से ज्ञान पड़ता है कि, यह तप की खान है॥ २३॥

एवमुक्त्वा महाबाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम्।
जग्राह परमप्रीतस्तस्य पादौ परन्तपः॥ २४॥

यह कह, महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी ने सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि अगस्त्य के चरण छुए॥ २४॥

---

1 औदार्येण—तपोजनिततेजोविशेषोत्कर्षेण। (शि०) 2 अवगच्छामि—जानामि। (शि०)

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।
सीतया सह वैदेह्या तदा रामः सलक्ष्मणः ॥ २५ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण जी सहित प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए खड़े रहे ॥ २५ ॥

प्रतिजग्राह[1] काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकैः ।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च ह्यास्यतामिति चाब्रवीत् ॥ २६ ॥

तब महर्षि अगस्त्य जी ने श्रीरामचन्द्र जी को अतिथि मान, आसन और पैर धोने को जल दिया । तदनन्तर कुशल पूँछ कर, कहा कि बैठिये ॥ २६ ॥

अग्निं हुत्वा[2] प्रदायार्घ्यमतिथीन्प्रतिपूज्य[3] च ।
वानप्रस्थेन धर्मेण[4] स तेषां भोजनं ददौ ॥ २७ ॥

तदनन्तर वैश्वदेव कर और अर्घ्य, पाद्य, आचमन, पुष्पादि से उन अतिथियों का पूजन कर, सिद्ध किये हुए कन्द मूल भोजन करने के लिये दिये ॥ २७ ॥

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुङ्गवः ।
उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर धर्मज्ञ महर्षि अगस्त्य प्रथम आसन पर बैठ, पीछे कर जोड़ कर बैठे हुए धर्मकोविद श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ २८ ॥

---

१ प्रतिजग्राह—अतिथित्वेनेति शेषः । (गो०) २ अग्निंहुत्वा—वैश्वदेवं कृत्वा । (गो०) ३ प्रतिपूज्य—आचमनीयपुष्पादिभिः पूजयित्वा । (गो०) ४ वानप्रस्थेन धर्मेण—सिद्धभोजनं कन्दमूलादिकं ददौ । (गो०)

अग्निं हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथिं प्रतिपूजयेत् ।
अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन् ॥ २९ ॥
दुःसाक्षीव[1] परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ।
राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः ॥ ३० ॥
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान्प्राप्तः प्रियातिथिः ।
एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैरन्यैश्च राघवम् ॥ ३१ ॥

हे काकुत्स्थ, वैश्वदेव कर तथा अर्घ्यादि से अतिथि का पूजन करना चाहिये। जो तपस्वी ऐसा नहीं करता, वह परलोक में मिथ्यावादी गवाह की तरह अपना मांस आप खाता है। आप तो सब लोकों के स्वामी धर्मचारी और महारथी हैं। सो आप जैसे विशिष्ट एवं प्रिय अतिथि आज हमारे पाहुने हुए हैं। अतः आपका पूजन और सत्कार करना हमारा कर्त्तव्य है। यह कह कर फल, मूल, पुष्प तथा अन्य पदार्थों को ला कर महर्षि, श्रीरामचन्द्र जी का ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पूजयित्वा यथाकामं पुनरेव ततोऽब्रवीत् ।
इदं दिव्यं महच्चापं हेमरत्नविभूषितम् ॥ ३२ ॥
वैष्णवं पुरुषव्याघ्र निर्मितं विश्वकर्मणा ।
अमोघः सूर्यसङ्काशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः ॥ ३३ ॥
दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षयसायकौ ।
सम्पूर्णौ निशितैर्बाणैर्ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥ ३४ ॥

यथेष्ट पूजन कर कहा—हे पुरुषसिंह! इस दिव्य बड़े धनुष को, जो सुवर्ण और हीरों से भूषित है और जिसको विश्व

1 दुःसाक्षी—कूटसाक्षी। (गो०)।

कर्मा ने भगवान् विष्णु के लिये बनाया था ; आप ग्रहण करें। ब्रह्मा के दिये हुए अमोध (जो कभी ख़ाली न जाँय) और सूर्य के समान चमचमाते (जिसमें जंग नहीं लगी) इस उत्तम बाण को, और इन्द्र के दिये हुए इन तरकसों को, जिनमें बाण कभी नहीं निघटते, और जिनमें अग्नि के समान चमचमाते शत्रु को दग्ध करने वाले बाण भरे हैं, आप ग्रहण कीजिये ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

महारजत[1]कोशोऽयमसिर्हेमविभूषितः ।
अनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महाऽसुरान् ॥ ३५ ॥

आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवौकसाम् ।
तद्धनुस्तौ च तूणीरौ शरं खड्गं च मानद ॥
जयाय प्रतिगृह्णीष्व वज्रं वज्रधरो यथा ॥ ३६ ॥

सोने की म्यान सहित इस सोने की मूँठ वाली तलवार को भी आप लें। हे राम ! इसी धनुष से विष्णु ने युद्ध में असंख्य असुरों को मार कर, देवताओं के लिये विजयलक्ष्मी प्राप्त की थी। हे मानद ! सो, इन्द्र जिस प्रकार वज्र धारण करते हैं, उसी प्रकार आप भी, शत्रुओं को जीतने के लिये, यह धनुष, तरकस, तीर और खड्ग ले कर, धारण कीजिये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः समस्तं तद्वरायुधम् ।
दत्त्वा रामाय भगवानगस्त्यः पुनरब्रवीत् ॥ ३७ ॥

॥ इति द्वादशः सर्गः ॥

---

1 महारजतं—सुवर्णं । (गो०) ।

महातेजस्वी भगवान् महर्षि अगस्त्य, श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर और उन सर्वश्रेष्ठ आयुधों उनको दे कर, उनसे फिर कहने लगे ॥३७॥

[नोट—किसी किसी संस्करण के इस सर्ग में लगभग २६ श्लोक और पाये जाते हैं, किन्तु प्रक्षिप्त होने के कारण वे यहाँ छोड़ दिये गये हैं ।]

अरण्यकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

त्रयोदशः सर्गः

—:※:—

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण ।
अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तौ स्थः सह सीतया ॥ १ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! और हे लक्ष्मण ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम दोनों सीता सहित हमें प्रणाम करने आये, इससे हम तुम्हारे ऊपर बड़े प्रसन्न हैं ॥ १ ॥

अध्वश्रमेण वां खेदो बाधते प्रचुरश्रमः ।
व्यक्तमुत्कण्ठते चापि मैथिली जनकात्मजा ॥ २ ॥

यह स्पष्ट विदित होता है कि, मार्ग चलने की थकावट से तुमको महाकष्ट हुआ है। जनकनन्दिनी मैथिली भी विश्राम करने को उत्सुक जान पड़ती हैं ॥ २ ॥

एषा हि सुकुमारी च दुःखैश्च न विमानिता ।
प्राज्यदोषं[1] वनं प्राप्ता भर्तृस्नेहप्रचोदिता ॥ ३ ॥

यह बड़ी ही सुकुमार हैं, इन्होंने काहे को ऐसे कष्ट कभी सहे होंगे। किन्तु पतिस्नेह से प्रेरित हो, अनेक कष्ट देने वाले इस वन में आयी हैं ॥ ३ ॥

---

१ प्राज्यदोषं—बहुदोषं । (गो०)

यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु ।
दुष्करं कृतवत्येषा वने त्वामनुगच्छती ॥ ४ ॥

इस आश्रम में, जिस प्रकार इनको सुख मिले, तुम वैसा ही करो। इन्होंने यह बड़ा ही दुष्कर कार्य किया जो ये तुम्हारे साथ वन में आयी हैं॥ ४ ॥

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन ।
समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थं त्यजन्ति च ॥ ५ ॥

क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ ही से स्त्रियों का स्वभाव यही चला आता है कि, स्त्रियाँ सुख में तो अपने पतियों का साथ देती हैं और विपत्ति में उनका साथ छोड़ देती हैं ॥ ५ ॥

शतह्रदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा ।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषितः ॥ ६ ॥

स्त्रियों का मन बिजली की तरह चञ्चल होता है। ये शस्त्रों की धार की तरह तेज स्वभाव वाली, (अर्थात् ऐसे कटु वचन बोलने वाली जो शस्त्र की तरह हृदय के आर पार हो जाय) और गरुड़ तथा वायु की तरह शीघ्रता की अनुगामिनी होती हैं, अर्थात् इनके विचार बड़ी जल्दी जल्दी बदला करते हैं ॥ ६ ॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतैर्विवर्जिता ।
श्लाघ्या च व्यपदेश्या[1] च यथा देवी ह्यरुन्धती ॥ ७ ॥

किन्तु हे रामचन्द्र ! आपकी भार्या इन सीता जी में, इन दोषों में से एक भी दोष नहीं है। इसलिये ये तो प्रशंसनीय और अरुन्धती की तरह पतिव्रता स्त्रियों की सिरमौर हैं ॥ ७॥

---

१ व्यपदेश्या—पतिव्रताग्रगण्या। (गो०)

अलङ्कृतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह ।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिन्दम ॥ ८ ॥

हे शत्रुओं को दमन करने वाले ! तुमने सीता और लक्ष्मण सहित यहाँ वास कर, इस स्थान की शोभा बढ़ा दी । अथवा तुम, लक्ष्मण और सीता सहित जहाँ रहोगे, वही स्थान शोभायुक्त हो जायगा ॥ ८ ॥

एवमुक्तः स मुनिना राघवः संयताञ्जलिः ।
उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषिं दीप्तमिवानलम् ॥ ९ ॥

ऋषि के ऐसा कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर और विनम्र हो, अग्नि के समान तेजस्वी अगस्त्य मुनि से कहा ॥९॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गवः ।
गुणैः सभ्रातृभार्यस्य वरदः परितुष्यति ॥ १० ॥

मैं अपने को धन्य और अनुगृहीत समझता हूँ कि, आप जैसे वरदाता मेरे, मेरे भाई और भार्या के गुणों से परम सन्तुष्ट हैं ॥१०॥

किंतु व्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम् ।
यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः[१] सुखम् ॥ ११ ॥

किन्तु हे मुनिवर ! मुझे कोई ऐसा स्थान बतलाइये, जहाँ जल का कष्ट न हो, जो मनोहर वनों से युक्त हो और जहाँ मैं आश्रम बना कर और एकाग्र हो, सुखपूर्वक वास करूँ ॥ ११ ॥

ततोऽब्रवीन्मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य तद्वचः ।
ध्यात्वा मुहूर्तं धर्मात्मा धीरो[२] धीरतरं[३] वचः ॥ १२ ॥

---

१ निरतः—एकाग्रः । (गो०) २ धीर —धीमान् । (गो०) ३ धीरतरं—अतिनिश्चितं । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के कथन को सुन, धर्मात्मा श्रीमान् एवं मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जी मुहूर्त्त भर ध्यानमग्न हो (सोच कर), यह अति निश्चित (भली भाँति सोचा विचारा हुआ) वचन बोले ॥ १२ ॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।
देशो बहुमृगः श्रीमान्पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥

हे तात ! यहाँ से एक योजन (चारकोस) के अन्तर पर बहुत से फूलों और फलों से युक्त और जल तथा मृगों से भरा पूरा, पञ्चवटी नाम का एक प्रसिद्ध स्थान है ॥ १३ ॥

तत्र गत्वाऽऽश्रमपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।
रंस्यसे त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥ १४ ॥

तुम लक्ष्मण जी सहित वहाँ जाओ और आश्रम बना कर, अपने पिता के वचन का यथाविधि पालन करते हुए, सुखपूर्वक रहो ॥ १४ ॥

विदितो ह्येष वृत्तान्तो मम सर्वस्तवानघ ।
तपसश्च प्रभावेन स्नेहाद्दशरथस्य च ॥ १५ ॥
हृदयस्थश्च ते च्छन्दो[1] विज्ञातस्तपसा मया ।
इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥ १६ ॥

हे अनघ (पाप रहित) ! महाराज दशरथ मेरे स्नेही थे, सो हमें तपःप्रभाव से तुम्हारा समस्त वृत्तान्त मालूम है। इतना ही नहीं, बल्कि तप के प्रभाव से हमें यह भी मालूम है कि, तुम्हारे मन में क्या है। तभी तो तुम इस तपोवन में वास करने की हमसे प्रतिज्ञा कर के भी, रहने के लिये मुझसे अन्य स्थान पूँछते हो ॥१५॥१६॥

---

[1] छन्दोभिप्रायः । (गो०)

अतश्च त्वामहं ब्रूमि गच्छ पञ्चवटीमिति ।
स हि रम्यो वनोद्देशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १७ ॥

अतएव हे राम! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम पञ्चवटी में जा कर रहो। उस रमणीक वनस्थली में सीता का मन भी लग जायगा ॥ १७ ॥

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव ।
गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १८ ॥

हे राघव! वह स्थान सराहनीय है और यहाँ से दूर भी नहीं है, तथा गोदावरी के समीप है। वहाँ सीता जी का मन लग जायगा ॥ १८ ॥

प्राज्यमूलफलश्चैव नानाद्विजगणायुतः ।
विविक्तश्च महाबाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥ १९ ॥

वहाँ कन्दमूल और फलों की बहुतायत है और तरह तरह के पक्षियों से वह स्थान भरा हुआ है। हे महाबाहो! वह एकान्त, पवित्र और रम्य स्थान है ॥ १९ ॥

भवानपि स[illegible]रश्च शक्तश्च परिरक्षणे[1] ।
अपि चात्र व[illegible]म तापसान्पालयिष्यसि ॥ २० ॥

हे श्रीराम! आप सीता जी सहित तपस्वियों की रक्षा कर सकते हैं। सो वहाँ रह कर आप तपस्वियों का पालन भी कर सकेंगे ॥ २० ॥

एतदालक्ष्यते वीर मधूकानां महद्वनम् ।
उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमभिगच्छता ॥ २१ ॥

---

१ परिरक्षणे—तापसानामितिशेषः । (गो०)

हे श्रीराम ! यह जो महुओं का महावन दिखाई पड़ता है, उसके उत्तर की ओर से जा कर एक वट वृक्ष के पास तुम पहुँचोगे ॥२१॥

ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः ।
ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥

वट वृक्ष के आगे पर्वत के समीप समतल भूमि में पहुँचने पर, पुष्पों से सदा सुशोभित पञ्चवटी नाम का विख्यात वन तुमको मिलेगा ॥ २२ ॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।
सत्कृत्यामन्त्रयामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ २३ ॥

अगस्त्य जी के इस प्रकार कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित, उन सत्यवादी ऋषि का भली भाँति पूजन कर, उनसे विदा माँगी ॥ २३ ॥

तौ तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ ।
तदाश्रमात्पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥ २४ ॥

अगस्त्य जी की अनुमति प्राप्त कर, दोनों राजकुमारों ने ऋषि को प्रणाम किया और सीता को साथ ले, वे उनके आश्रम से पञ्चवटी के लिये रवाना हुए ॥ २४ ॥

गृहीतचापौ तु नराधिपात्मजौ
विषक्ततूणौ[1] समरेष्वकातरौ ॥
यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा
प्रजग्मतुः पञ्चवटीं समाहितौ ॥ २५ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

---

१ विषक्ततूणौ—बद्धतूणीरौ । (गो०)

समर में न डरने वाले दोनों राजकुमार, धनुष बाण धारण कर और पीठ पर तरकसों को बांध, अगस्त्य जी के बतलाये मार्ग से, बड़ी सावधानी के साथ, पञ्चवटी की ओर चले ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का तेरहवां सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चतुर्दशः सर्गः

—*—

अथ पञ्चवटीं गच्छन्नन्तरा रघुनन्दनः ।
आससाद महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥ १ ॥

पञ्चवटी की ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने मार्ग में एक बड़े भारी शरीर वाले और भयानक पराक्रमी गीध को देखा ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा तौ महाभागौ वटस्थं रामलक्ष्मणौ ।
मेनाते[1] राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥ ॥ २ ॥

महाभाग श्रीराम लक्ष्मण ने, अगस्त्य जी के बतलाये हुए वट वृक्ष पर उसे बैठा देख और उसे राक्षस समझ, उससे पूछा कि, तू कौन है ? ॥ २ ॥

स तौ मधुरया वाचा सौम्यया[2] प्रीणयन्निव ।
उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३ ॥

गीध ने बड़े सौजन्य के साथ, और मधुर शब्दों में, श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करते हुए, उत्तर दिया—हे वत्स! मुझे तुम अपने पिता का मित्र जानो ॥ ३ ॥

---

१ मेनाते—मत्वा। (गो०) २ सौम्यया—सौजन्यपरया। (गो०)।

स तं पितृसखं बुद्ध्वा पूजयामास राघवः ।
स तस्य कुलमव्यग्रमथ[1] पप्रच्छ नाम च ॥ ४ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने उसे अपने पिता का मित्र जान, उसका आदर सत्कार किया और उससे उसका ठीक ठीक कुल और नाम पूँछा ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा सर्वभूतसमुद्भवम् ।
आचचक्षे द्विजस्तस्मै कुलमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, गीध ने सब जीवों की उत्पत्ति के वर्णन का प्रसङ्ग छेड़, अपना कुल और नाम बतलाया ॥ ५ ॥

पूर्वकाले महाबाहो ये प्रजापतयोऽभवन् ।
तान्मे निगदतः सर्वानादितः शृणु राघव ॥ ६ ॥

हे महाबाहो ! पूर्वकाल में जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सब का मैं आदि से वर्णन करता हूँ। आप सुनिये ॥ ६ ॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विकृतस्तदनन्तरः ।
शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ७ ॥
स्थाणुर्मरीचिरत्रिश्च क्रतुश्चैव महाबलः ।
पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेताः पुलहस्तथा ॥ ८ ॥
दक्षो विवस्वानपरोऽरिष्टनेमिश्च राघव ।
कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच्च पश्चिमः ॥ ९ ॥

---

1 अव्यग्रं—यथास्यात्तथा । (शि०)

१ कर्दम प्रजापति उन सब में बड़े थे। उनके बाद २ विकृत, ३ शेष, ४ संश्रय, ५ बहुपुत्र, ६ स्थाणु, ७ मरीचि ८ अत्रि, ९ क्रतु १० पुलस्त्य ११ अंगिरा १२ प्रचेता १३ पुलह १४ दक्ष १५ विवस्वान १६ अरिष्टनेमि १७ और सब से पीछे कश्यप हुए ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुतम् ।
षष्टिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः ॥ १० ॥

हे महायशस्वी राम! इनमें से दक्ष प्रजापति के यशस्विनी और लोक में विख्यात साठ कन्याएँ उत्पन्न हुई ॥ १० ॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तासामष्टौ सुमध्यमाः ।
अदितिं च दितिं चैव दनुमप्यथ कालिकाम् ॥ ११ ॥

इनमें से आठ अति सुन्दरी कन्याओं का विवाह कश्यप जी ने अपने साथ किया। उन आठ कन्याओं के नाम ये हैं—१ अदिति, २ दिति, ३ दनु, ४ कालिका, ॥ ११ ॥

ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलामपि ।
तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत् ॥ १२ ॥

५ ताम्रा, ६ क्रोधवशा, ७ मनु और ८ अनला हैं। इन आठों से कश्यप ने पुनः कहा ॥ १२ ॥

पुत्रांस्त्रैलोक्यभर्तॄन्वै जनयिष्यथ मत्समान् ।
अदितिस्तन्मना राम दितिश्च मनुजर्षभ ॥ १३ ॥

कि, तुम मेरे समान और तीनों लोकों का भरण पोषण करने वाले पुत्र उत्पन्न करो। यह सुन कर, दिति, अदिति, ॥ १३ ॥

कालिका च महाबाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन् ।
आदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ॥ १४ ॥

और कालिका ने तो अंगीकार किया और शेष ने पति की बात पर ध्यान न दिया । अदिति से ३३ देवता उत्पन्न हुए ॥१४॥

आदित्या वसवो रुद्रा ह्यश्विनौ च परन्तप ।
दितिस्त्वंजनयत्पुत्रान्दैत्यांस्तात यशस्विनः ॥ १५ ॥

अर्थात् १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, २ अश्विनी कुमार । हे अरिन्दम ! दिति के गर्भ से यशस्वी दैत्य उत्पन्न हुए ॥ १५ ॥

तेषामियं वसुमती पुरासीत्सवनार्णवा ।
दनुस्त्वजनयत्पुत्रमश्वग्रीवमरिन्दम ॥ १६ ॥

पहले वन और समुद्र सहित यह पृथिवी उन्हींकी थी । हे अरिन्दम ! दनु ने अश्वग्रीव नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

नरकं कालकं चैव कालिकापि व्यजायत ।
क्रौञ्चीं भासीं तथा श्येनीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ॥ १७ ॥

कालिका ने नरक और कालक दो पुत्र उत्पन्न किये ; क्रौंची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी ॥ १७ ॥

ताम्रापि सुषुवे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः ।
उलूकाञ्जनयत्क्रौञ्ची भासी भासान्व्यजायत ॥ १८ ॥

ये लोकविख्यात पांच कन्याएँ, ताम्रा के गर्भ से उत्पन्न हुईं । इनमें से क्रोञ्ची के गर्भ से उलूक, और भासी के गर्भ से भाषक नामक पक्षी उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

श्येनी श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः ।
धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

श्येनी के गर्भ से अति तेजस्वी श्येन और गीध उत्पन्न हुए और धृतराष्ट्री से सब हंस और कलहंस उत्पन्न हुए ॥ १९ ॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे साऽपि भामिनी ।
शुकी नतां विजज्ञे तु नताया विनता सुता ॥ २० ॥

चक्रवाक भी उसीके गर्भ से उत्पन्न हुए। शुकी से नता नाम्नी लड़की उत्पन्न हुई और नता से विनता की उत्पत्ति हुई ॥ २० ॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञे ह्यात्मसम्भवा ।
मृगीं च मृगमन्दां च हरिं भद्रमदामपि ॥ २१ ॥

हे राम ! क्रोधवशा के दस लड़कियां उत्पन्न हुईं, जिनके नाम ये हैं १ मृगी, २ मृगनन्दा ३ हरी, ४ भद्रमदा ॥ २१ ॥

मातङ्गीमपि शार्दूलीं श्वेतां च सुरभिं तथा ।
सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कद्रुकामपि ॥ २२ ॥

५ मातङ्गी, ६ शार्दूली, ७ श्वेता, ८ सुरभि, ९ सर्वलक्षण सम्पन्ना सुरसा और १० कद्रुकी ॥ २२ ॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।
ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सृमराश्चमरास्तथा ॥ २३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मृगी से समस्त मृग, उत्पन्न हुए और मृगमन्दा से रीछ, सृमर और चमर (सुरागाय) उत्पन्न हुए ॥ २३ ॥

हर्यांश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।
ततस्त्विरावतीं नाम जज्ञे भद्रमदा सुताम् ॥ २४ ॥

हरी नाम स्त्री से बलवान सिंह और वानर उत्पन्न हुए। तदनन्तर इरावती नाम की कन्या भद्रमदा से उत्पन्न हुई ॥ २४ ॥

तस्यास्त्वैरावतः पुत्रो लोकनाथो महागजः ।
मातङ्गास्त्वथ मातङ्ग्या अपत्यं मनुजर्षभ ॥ २५ ॥

इरावती से ऐरावत नामक महागज, जो एक दिग्गज है, उत्पन्न हुआ। हे नरश्रेष्ठ ! मातङ्गी से सब हाथी उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥

गोलाङ्गूलांश्च शार्दूली व्याघ्रांश्चाजनयत्सुतान् ।
दिशागजांश्च काकुत्स्थ श्वेताऽप्यजनयत्सुतान् ॥ २६ ॥

शार्दूली से गोलाङ्गूल और व्याघ्र उत्पन्न हुए। हे काकुत्स्थ ! श्वेता ने दिग्गजों को उत्पन्न किया ॥ २६ ॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वे व्यजायत ।
रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम् ॥ २७ ॥

हे राम ! सुरभी की दो यशस्विनी लड़कियाँ हुईं। एक का नाम था रोहिणी और दूसरी का गन्धर्वी ॥ २७ ॥

रोहिण्यजनयद्गा वै गन्धर्वी वाजिनः सुतान् ।
सुरसाजनयन्नागान्राम कद्रूस्तु पन्नगान् ॥ २८ ॥

रोहिणी के गर्भ से गौ, बैल और गन्धर्वी से घोड़े उत्पन्न हुए। हे राम ! सुरसा ने नागों को उत्पन्न किया और कद्रू ने सर्पों को ॥ २८ ॥

मनुर्मनुष्याञ्जनयद्राम पुत्रान्यशस्विनः ।
ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्याञ्शूद्रांश्च मनुजर्षभ ॥ २९ ॥

हे राम ! मनु नाम की स्त्री से यशस्वी मनुष्य, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए ॥ २९ ॥

सर्वान्पुण्यफला[1]न्वृक्षाननलापि व्यजायत ।
विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसास्वसा ॥ ३० ॥

अनला ने अच्छे अच्छे फल वाले वृक्ष उत्पन्न किये। विनता शुकी की नतिनी थी और कद्रू तथा सुरसा ये दोनों बहिने थीं ॥३०॥

कद्रूर्नागं सहस्रास्यं विजज्ञे धरणीधरम् ।
द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च ॥ ३१ ॥

कद्रू ने सहस्रों नागों को उत्पन्न किया। ये ही पृथिवी को धारण किये हुए हैं। विनता के दो पुत्र हुए, गरुड़ और अरुण ॥ ३१ ॥

तस्मा[2]ज्जातोऽहमरुणात्सम्पातिस्तु ममाग्रजः ।
जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिन्दम ॥ ३२ ॥

मैं अरुण का पुत्र हूँ और सम्पाति मेरा बड़ा भाई है। हे अरिन्दम ! मेरा नाम जटायु है और मुझे आप श्येनी का पुत्र जानिये ॥ ३२ ॥

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि ।
इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम् ।
सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥ ३३ ॥

हे तात ! अगर तुम चाहोगे तो मैं वनवास में तुम्हारी सहायता करूँगा। क्योंकि यह वन बड़ा दुर्गम है और इसमें अनेक वन्यपशु

---

१ पुण्यफलान्—चारुफलान् । (गो०) २ तस्मात्—अरुणात् । (शि०)

और राक्षस रहते हैं। हे तात! जब तुम और लक्ष्मण आश्रम छोड़, कहीं चले जाओगे, तब मैं सीता की रखवाली किया करूँगा ॥ ३३ ॥

जटायुषं तं प्रतिपूज्य राघवो ।
मुदा परिष्वज्य च सन्नतोऽभवत् ।
पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवा-
ञ्जटायुषा संकथितं पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु का यह वृत्तान्त सुन, आदर और हर्ष सहित उसे अपने हृदय से लगाया और उसे प्रणाम किया। क्योंकि उसने कई बार अपने को श्रीरामचन्द्र जी के पिता का मित्र कह कर परिचय दिया था ॥ ३४ ॥

स तत्र सीतां परिदाय[1] मैथिलीं
सहैव तेनातिबलेन पक्षिणा ।
जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो
रिपून्दिधक्षञ्शलभानिवानलः ॥ ३५ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

फिर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी की रक्षा के लिये जटायु को अपने साथ ले एवं शत्रुओं को भस्म करने की इच्छा से, तथा वन की रक्षा करने के लिये, सुप्रसिद्ध पञ्चवटी को चले ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ

—:※:—

---

१ परिदाय—रक्षणार्थाय। (गो०)

पञ्चदशः सर्गः

—:*:—

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्याल[1]मृगायुताम् ।
उवाच भ्रातरं रामः सौमित्रिं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, उस पञ्चवटी में, जो नाना प्रकार के बनैले जीव जन्तुओं और दुष्ट सर्पों से भरी थी, पहुँच कर, तेजस्वी लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥ १ ॥

आगताः स्म यथोद्दिष्टममुं देशं महर्षिणा ।
अयं पञ्चवटीदेशः सौम्य पुष्पितपादपः ॥ २ ॥

हे सौम्य ! हम लोग महर्षि अगस्त्य जी के बतलाये हुए स्थान पर आ पहुँचे । यही पञ्चवटी है, जहाँ पुष्पित वृक्षों से भरा हुआ वन देख पड़ता है ॥ २ ॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः कानने निपुणो ह्यसि ।
आश्रमः कतरस्मिन्नो देशे भवति सम्मतः ॥ ३ ॥

आश्रम बनाने के लिये उपयुक्त स्थान चुनने में तुम निपुण हो, अतः इस वन में दृष्टि फैला कर देखो कि, हम लोगों के आश्रम के लिये कौन सी जगह ठीक होगी ॥ ३ ॥

रमते यत्र वैदेही त्वमहं चैव लक्ष्मण ।
तादृशो दृश्यतां देशः सन्निकृष्टजलाशयः ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! स्थान ऐसा होना चाहिये, जहाँ सीता जी, तुम और हम सुखपूर्वक रहें और जल भी जहाँ से समीप हो ॥ ४ ॥

---

१ व्याला—दुष्ट सर्पाः । (गो०)

वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा ।
सन्निकृष्टं च यत्र स्यात्समित्पुष्पकुशोदकम् ॥ ५ ॥

जहाँ रमणीक वन हो, जहाँ जल भी अच्छा और बहुत हो, जहाँ समिधा, पुष्प और कुश समीप मिल सकें, ऐसा कोई स्थान तुम खोजो ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताञ्जलिः ।
सीतासमक्षं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर, सीता जी के सामने, श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ ६ ॥

परवानस्मि[1] काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं[2] स्थिते ।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥ ७ ॥

हे राम ! मैं तो सदा से आपके अधीन हूँ। आप स्वयं कोई रमणीक स्थान चुन कर, वहाँ मुझे आश्रम बनाने की आज्ञा दें ॥ ७ ॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
विमृशन्रोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम् ॥ ८ ॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और उन्होंने विचार कर, एक ऐसा स्थान चुना, जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ थीं ॥ ८ ॥

स तं रुचिरमाक्रम्य[3] देशमाश्रमकर्मणि[4] ।
हस्तौ गृहीत्वा हस्तेन रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

---

१ परवानस्मि—ममास्मिता तवास्मितावश्च भवति पारतन्त्र्यैकवेषाममास्मितेतिभावः । (गो०) २ वर्षशतं—शतशब्दआनन्त्यवचनः । सार्वकालिकं । मम पारतन्त्र्यमितिभावः । (गो०) ३ आक्रम्य—स्वीयत्वेनाभिमन्य । (गो०) ४ आश्रमकर्मणि—आश्रमनिमित्तं । (गो०)

आश्रम बनाने के लिये उपयुक्त स्थान पसन्द कर और अपने हाथ से लक्ष्मण जी के दोनों हाथ पकड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ९ ॥

अयं देशः समः श्रीमान्पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः ।
इहाश्रमपदं सौम्य यथावत्कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

हे सौम्य ! यह स्थान समतल है और परम शोभायुक्त भी है। क्योंकि देखो, यह पुष्पित वृक्षों से घिरा हुआ है; अतः इसी स्थान पर तुम यथायोग्य आश्रम की रचना करो ॥ १० ॥

इयमादित्यसङ्काशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः ।
अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता ॥ ११ ॥

देखो, सूर्य के समान उज्ज्वल, मन को प्रसन्न करने वाली, कमल के फूलों की सुगन्धि से युक्त यह पुष्करिणी भी यहाँ से समीप ही है ॥ ११ ॥

[नोट—भगवान् श्रीरामचन्द्र ने कमलों से युक्त पुष्करिणी के समीप का स्थान क्यों पसन्द किया—इसका कारण है, जो नीचे के श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है।

"तुलसीकाननं यत्र, यत्र पद्मवनानि च ।
वसन्तिवैष्णवा यत्र, तत्र सन्निहितो हरिः ॥"]

यथा ख्यातऽमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना ।
इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृता ॥ १२ ॥

विशुद्धात्मा अगस्त्य मुनि ने जैसा बतलाया था, वैसा ही यहाँ गोदावरी का दृश्य है। देखो, रमणीय गोदावरी नदी, फूले हुए वृक्षों से घिरी हुई है ॥ १२ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।
नातिदूरेन* चासन्ने मृगयूथनिपीडिता: ॥ १३ ॥

हंस, जलकुक्कुट और चक्रवाकों से शोभित है और वह यहां से न तो अति निकट और न बहुत दूर ही है । इसके तट पर वन्यपशु जल पीने के लिये आया करते हैं ॥ १३ ॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो[1] बहुकन्दराः ।
दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लै[2]स्तरुभिरावृताः ॥ १४ ॥

यहां पर अनेक ऐसे पर्वत देख पड़ते हैं जिन पर मोर बोल रहे हैं, जो बड़े रमणीक, ऊँचे, अनेक गुफाओं से सुशोभित और फूले फूले वृक्षों से युक्त हैं ॥ १४ ॥

सौवर्णै राजतैस्ताम्रैर्देशे देशे च धातुभिः ।
गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमभक्तिभिः[3] ॥ १५ ॥

ये पहाड़ जगह जगह सोने, चांदी, तांबा आदि धातुओं से सुशोभित हैं । धातुओं के रंग की रेखाओं से युक्त हाथी ऐसे जान पड़ते हैं, मानों मकानों में खिड़कियां लगी हों ॥ १५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरपनसाम्रकैः[4] ।
नीवारैस्तिमिशैश्चैव पुंनागैश्चोपशोभिताः ॥ १६ ॥

ये पहाड़ साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहर, तिन्नी, निवार, तिमिश और नागवृक्षों से सुशोभित हैं ॥ १६ ॥

---

१ प्रांशवः—उन्नताः । (गो०) २ फुल्लैः विकसितपुष्पैः । (गो०) ३ परमभक्तिभिः—उत्कृष्टरेखालङ्कारैः । (गो०) ४ आम्रकैः—रसालभेदैः । (गो०)

* पाठान्तरे—" नातिदूरेण "

चूतैरशोकैस्तिलकैश्चम्पकैः केतकैरपि ।
पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः ॥ १७ ॥

और आम, अशोक, तिलक, चम्पा, केतकी आदि पुष्प, गुल्म और लता आदि से वेष्टित हैं ॥ १७ ॥

चन्दनैः स्पन्दनैर्नीपैः पनसैर्लिकुचैरपि ।
धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः ॥ १८ ॥

ये चन्दन, स्यन्दन, कदंब, बड़हर, लुचकुचा, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, किंशुक और पटल नामक वृक्षों से शोभित हैं ॥ १८ ॥

इदं[1] पुण्यमिदं मेध्य[2]मिदं वहुमृगद्विजम् ।
इह वत्स्यामि सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ॥ १९ ॥

अतएव हे लक्ष्मण ! यह स्थान दर्शन मात्र से पुण्यप्रद है, पवित्र है और बहुत से मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण है । अतः हे लक्ष्मण ! हम लोग जटायु के समीप इसी जगह रहेंगे ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा ।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः ॥ २० ॥

जब श्रीरामचन्द्र ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी ने अति शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी के रहने के लिये एक आश्रम बनाया ॥ २० ॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संघात[4]मृत्तिकाम् ।
सुस्तम्भां मस्करै[3]र्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम् ॥ २१ ॥

---

१ इदंपुण्यं—दर्शनमात्रेणपुण्यसम्पादकम् । (शि०) २ मेध्यं—पवित्रं । (गो०) ३ मस्करैः—वेणुभिः । (गो०) ४ संघातमृत्तिकाम्—भित्तीकृतमृत्तिकां । (गो०)

उस प्रशस्त पर्णशाला में मट्टी की दीवालें खड़ी कीं और लंबे वासों की थूनियों पर, वाँसो का ठाठ वांधा ॥ २१ ॥

शमीशाखाभिरास्तीर्य दृढपाशावपाशिताम् ।
कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥ २२ ॥

उस ठाठ पर शमी की डालियाँ बिछा कर, उनको ठाट में कस कर वाँध दिया। फिर उन डालियों के ऊपर कुश, काँस और सरपत बिछा कर, अच्छी तरह छवनई कर दी ॥ २२ ॥

समीकृततलां रम्यां चकार लघुविक्रमः ।
निवासं राघवस्यार्थे प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥ २३ ॥

फिर लक्ष्मण जी ने उस पर्णशाला के फर्श को समतल समान (ऊँचा नीचापन मिटा) कर, उसे श्रीरामचन्द्र जी के रहने योग्य और देखने में सुन्दर वना कर तैयार कर दिया ॥ २३ ॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान्नदीं गोदावरीं तदा ।
स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः ॥ २४ ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने गोदावरी में स्नान किये और कमल पुष्पों तथा फलों को ले, वे पर्णशाला में लौट आये ॥ २४ ॥

ततः पुष्पबलिं कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि ।
दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम् ॥ २५ ॥

लौट कर लक्ष्मण जी ने पुष्पबलि दे तथा यथाविधान वास्तु शान्ति कर, उस (नवीन) वनाये हुए आश्रम को, श्रीरामचन्द्र को दिखलाया ॥ २५ ॥

स तं दृष्ट्वा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया ।
राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयद्[1]भृशम् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी सीता जी के साथ, लक्ष्मण जी की बनाई हुई और देखने में सुन्दर उस कुटी को देख, परम सन्तुष्ट हुए ॥ २६ ॥

सुसंहृष्टः परिष्वज्य बाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा ।
अतिस्निग्धं[2] च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तब प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को अच्छी तरह छाती से लगा लिया और यह बोले ॥ २७ ॥

प्रीतोऽस्मि ते महत्कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो ।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः ॥ २८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने यह बड़ा भारी काम कर डाला। इसका तुम्हें पुरस्कार भी मिलना चाहिये—सो उस पुरस्कार के बदले, मैंने तुम्हें अपने हृदय से लगा लिया ॥ २८ ॥

भावज्ञेन[3] कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण ।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः[4] पिता मम ॥ २९ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जैसे, मन की बात जान लेने वाले, उपकार को मानने वाले और धर्मज्ञ पुत्र के विद्यमान होते हुए, मुझे यह नहीं जान पड़ता कि मेरे पिता मर गये ॥ २९ ॥

[नोट—इसका मतलब यह है कि, जिस प्रकार महाराज दशरथ हर प्रकार से मेरी आवश्यकताओं को पूरी करते थे और सदा इस बात का ध्यान

---

१ हर्षमाहारयत्—सन्तोषप्राप्तवान् । (गो०) २ अतिस्निग्धं च गाढं चेति-परिष्वङ्गक्रियाविशेषणं । (गो०) ३ भावज्ञेन मच्चित्तज्ञेन । (गो०) ४ न संवृत्तः—मृतः । (गो०)

रखते थे कि, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे—उसी प्रकार हे लक्ष्मण ! तुम भी मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति और असुविधाओं को दूर करने का सदा ध्यान रखते हो।]

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः।
तस्मिन्देशे बहुफले न्यवसत्सुसुखं वशी[1] ॥ ३० ॥

शोभा बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से इस प्रकार कह कर और जितेन्द्रिय हो, उस बहुफलयुक्त स्थान में बड़े सुख से वास करने लगे ॥ ३० ॥

कञ्चित्कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च।
अन्वास्यमानो न्यवसत्स्वर्गलोके यथाऽमरः ॥ ३१ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

इस प्रकार वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण से सेवित हो, वहाँ कुछ दिनों उसी प्रकार सुख से रहे, जिस प्रकार देवता लोग स्वर्ग में सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ३१ ॥

अरण्यकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षोडशः सर्गः

—:※:—

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः।
शरद्व्यपाये हेमन्त ऋतुरिष्टः प्रवर्तते ॥ १ ॥

---

१ वशी—विषयचापलरहितः। (गो०)

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ सुख से वास कर, शरदृऋतु बिता दी। तदनन्तर सब को प्रिय लगने वाली हेमन्तु ऋतु आरम्भ हुई ॥ १ ॥

स कदाचित्प्रभातायां शर्वर्यां रघुनन्दनः ।
प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम् ॥ २ ॥

एक दिन जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी रमणीय गोदावरी में स्नान करने गये ॥२॥

प्रह्वः कलशहस्तस्तं सीतया सह वीर्यवान् ।
पृष्ठतोऽनुव्रजन्भ्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बलवान लक्ष्मण, सीता जी के साथ, हाथ में कलसा लिये हुए, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले और उनसे यह बात बोले ॥ ३ ॥

अयं स कालः संप्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद ।
अलंकृत इवाभाति येन[1] संवत्सरः शुभः ॥ ४ ॥

हे प्रियभाषी ! आपकी प्यारी हेमन्त ऋतु आ गयी है। इस ऋतु के आगमन से पके हुए अन्नादि से, यह शुभ संवत्सर सुशोभित सा जान पड़ता है ॥ ४ ॥

नीहारपरुषो लोकः[2] पृथिवी सस्यशालिनी ।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥ ५ ॥

---

१ येनहेमन्तेनशुभोऽयं संवत्सरः—सुपक्वसस्यादि संपत्त्याअलंकृतइवाभाति।
२ परुषोलोकः—रूक्षशरीरइति। (शि०)

सर्दी पड़ने से लोगों के शरीर का चमड़ा रूखा हो गया है, खेत अनाज से हरे भरे देख पड़ते हैं, पानी छूने को मन नहीं चाहता और आग तापने को जी चाहता है ॥ ५ ॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यर्च्य पितृदेवताः ।
कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥ ६ ॥

इस समय सज्जनजन नवान्न से देवता और पितरों का पूजन कर, नवशस्य निमित्त यज्ञ करते हुए, निष्पाप हुए हैं ॥ ६ ॥

[नोट—खेती आदि करने में अनेक जीवों की हिंसा करने से जो पाप लगता है, वह नवीन अन्न से देव-पितृ-पूजन करने पर छूट जाता है। धर्मशास्त्र का वचन है—

नवयज्ञाधिकारस्थाः श्यामाका व्रीह्योयवाः ।
नाश्नीयात्तान हुत्वैव मन्येष्वनियमः स्मृतः ॥

इसी प्रमाण के आधार पर उत्तरभारत में होली की प्रथा चली है।]

प्राज्यकामा[1] जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः ।
विचरन्ति महीपाला यात्रास्था विजिगीषवः ॥ ७ ॥

इस समय सब जनपदों में सब आवश्यक वस्तुएँ अधिकता से प्राप्त होती हैं। इस समय अन्य ऋतुओं की अपेक्षा गोरस, (दूध दही घी) भी अधिक होता है। राजा लोग, जो विजय की इच्छा रखने वाले हैं, वे भी इन्हीं दिनों यात्रा करते हैं ॥ ७ ॥

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम् ।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक्प्रकाशते ॥ ८ ॥

दक्षिणायन सूर्य होने के कारण उत्तर दिशा, तिलक हीन स्त्री की तरह शोभारहित अर्थात् प्रकाशहीन हो गयी है ॥ ८ ॥

---

१ प्राज्यकामाः—प्राप्तसकलेप्सिताः । (शि०)

प्रकृत्या हिमकोशाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम् ।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान्हिमवान्गिरिः ॥ ९ ॥

हिमालय वैसे ही सदा बर्फ से ढका रहता है, किन्तु इन दिनों सूर्य भगवान से उसके बहुत दूर हो जाने के कारण, हिमालय का हिमवान् नाम पूरा पूरा चरितार्थ हो रहा है। अर्थात् हेमन्तऋतु में हिमालय के ऊपर अपार बर्फ जमा हो जाती है ॥ ९ ॥

अत्यन्तसुखसञ्चारा मध्याह्ने स्पर्शतः सुखाः ।
दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भगाः ॥ १० ॥

इस ऋतु में दोपहर के समय घूमना फिरना अच्छा लगता है, क्योंकि धूप की तेज़ी से सर्दी न लग कर, धूप सुखदायिनी लगती है। इन दिनों सूर्य सब को सुख देने वाले होते हैं; और छाया तथा जल अच्छे नहीं लगते ॥ १० ॥

मृदुसूर्याः सनीहाराः पटुशीताः[1] समारुताः ।
शून्यारण्या[2] हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

इस ऋतु में सूर्य का पहले जैसा तेज नहीं रहता। कुहरा पड़ने तथा पवन चलने से शीत की अधिकता हो जाती है। अथवा शीत प्रबल हो जाता है। वन में बसने वाले लोग खुले मैदानों में रहने के कारण, शीत से पीड़ित हो, वन में इधर उधर नहीं घूमते, इससे वन सूने से जान पड़ते हैं ॥ ११ ॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः ।
शीता वृद्धतरा यामास्त्रियामा[3] यान्ति साम्प्रतम् ॥ १२ ॥

---

१ पटुशीताः—प्रबलशीताः । (गो०) २ शून्यारण्याः—अरण्यावनचराः तैः शून्याः आवरणरहितत्वेन शीतपीडिताः न बहिः संचरन्तीत्यर्थः । (गो०)। ३ त्रियामाः—रात्रयः । (रा०) ।

पुष्य नक्षत्र युक्त इस पुष्य मास में, और पाला पड़ती हुई धूसर रंग की रात में, कोई खुले मैदान में नहीं सो सकता। दिन की अपेक्षा रात में सर्दी अधिक पड़ती है और दिन की अपेक्षा रात बड़ी भी अधिक होती है ॥ १२ ॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारारुणमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

जैसे मुँह की भाप से दर्पण धुंधला पड़ जाता है, वैसे ही चन्द्रमा भी, जिसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और मनोहरता सूर्य-मण्डल में चली गयी है, धुंधला जान पड़ता है ॥ १३ ॥

ज्योत्स्नी तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥ १४ ॥

कुहरा के कारण चन्द्रमा की चांदनी अब पूर्णिमा की रात में भी नहीं चटकती (खिलती) उसका केवल कुछ कुछ धुंधला सा प्रकाश देख पड़ता है। जैसे धूप के मारे श्याम वर्ण हुई सीता जी, केवल पहिचानी तो जाती हैं, किन्तु शोभित नहीं होतीं ॥ १४ ॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।
प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥ १५ ॥

देखो, इस ऋतु में पश्चिम का वायु, जो स्वभाव से ठंडा है, कुहरा के कारण, दुगना ठंडा हो कर, चल रहा है ॥ १५ ॥

बाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च ।
शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रौञ्चसारसैः ॥ १६ ॥

ये जौ और गेहूँ के खेतों से भरे हुए और कुहरे से छाये हुए वन, सूर्योदय के समय बोलते हुए क्रौंच एवं सारस पक्षियों से, कैसे शोभा युक्त जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।
शोभन्ते किञ्चिदानम्राः शालयः कनकप्रभाः ॥ १७ ॥

ये सुनहले शालि समूह, खजूर के फूल की तरह, तण्डुलों की बालों के बोझ से, कुछ झुके हुए, कैसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १७ ॥

मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः ।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते ॥ १८ ॥

यह सूर्य कितना ऊँचा चढ़ आया है, तो भी, पाले के मारे किरणों का प्रकाश न होने के कारण, चन्द्रमा की तरह देख पड़ता है ॥ १८ ॥

अग्राह्यवीर्यः पूर्वाह्णे मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः ।
संरक्तः किञ्चिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ ॥ १९ ॥

सवेरे तो सूर्य की धूप में तेज़ी जान ही नहीं पड़ती, परन्तु दोपहर को धूप तेज़ होने पर भी अच्छी लगती है। इस समय सूर्य का प्रकाश [illegible] पोला सा हो, पृथिवी को शोभित कर रहा है ॥ १९ ॥

अवश्याय[1]निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वला[2] ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥ २० ॥

ओस की बूँदों के गिरने से हरी हरी घास तर हो गयी है, इस घास पर जब प्रातःकालीन सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तब वन की भूमि की शोभा देखते ही बन आती है ॥ २० ॥

स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥ २१ ॥

---

१ अवश्यायः—हिमं,हिमबिन्दुः । (गो०) २ शाद्वलः—शष्पप्रचुराभूमिः । (रा०)

देखिये, ये जंगली हाथी, जो बहुत प्यासा है, इस अत्यन्त शीतल जल को (पीना तो एक ओर रहा) स्पर्श करते ही, अपनी सूँड सकोड़ लेता है ॥ २१ ॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।
न विगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम्[1] ॥ २२ ॥

ये जल में विहार करने वाले पक्षी, जल में डुबकी नहीं मारते, केवल चुपचाप तट पर बैठे हैं, जैसे कायर योद्धा, संग्राम से डर कर, चुपचाप बैठ रहते हैं ॥ २२ ॥

अवश्याय[2]तमोनद्धा[3] नीहारतमसा वृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥ २३ ॥

पुष्पशून्य वनश्रेणी, कुहरा के अन्धकार से ढक जाने पर, ऐसी जान पड़ती है, मानों सो रही हों ॥ २३ ॥

बाष्पसंछन्नसलिला रुत[4]विज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥ २४ ॥

इस समय नदियां, जो कुहरे से ढकी हैं, और जिनकी बालू कोहरे से तर है, केवल तहों से जान पड़ती है, (इसी प्रकार) सारस भी इस समय (कोहरे के अंधकार के कारण) केवल बोली से पहचाने जाते हैं ॥ २४ ॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वाद्भास्करस्य च ।
शैत्यादगाग्रस्थमपि[5] प्रायेण रसव[6]ज्जलम् ॥ २५ ॥

---

१ आहवं—युद्धं । (गो०) २ अवश्यायः—हिमसलिलं । (गो०) ३ नद्धाः—बद्धाः । (गो०) ४ रुतं—शब्दं । (गो०) ५ अगाग्रस्थमपि—निर्मल शिलातलस्थमपि । (गो०) ६ रसवत्—विषवत् । (गो०)

निर्मल शिलातल का जल भी तुषार के गिरने और सूर्य का तेज़ मंद पड़ जाने के कारण, विष की तरह अनुपादेय हो रहा है ॥ २५ ॥

जराजर्झरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ॥ २६ ॥

कमलों के पत्ते जीर्ण हो कर झड़ गये, कमल के फूलों की कर्णिका और केसर भी गिर गयी हैं, मारे पाले के उनमें, केवल डंडी मात्र रह गयी हैं। इसीसे कमल के तड़ाग अब शोभाहीन हो रहे हैं ॥२६॥

अस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रः काले दुःखसमन्वितः ।
तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्भक्त्या भरतः पुरे ॥ २७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय धर्मात्मा भरत जो आपके वियोग-जनित दुःख से दुखी हो, अयोध्या जी में, आपकी भक्ति के वशवर्त्ती हो, तपस्या करते होंगे ॥ २७ ॥

त्यक्त्वा राज्यं[1] च मानं[2] च भोगांश्च[3] विविधान्बहून् ।
तपस्वी[4] नियताहारः[5] शेतेशीते[6] महीतले ॥ २८ ॥

प्रभुत्व को और राजपुत्र होने के अभिमान को तथा फूलों के हार, चन्दन तथा वनितादि राजाओं के भोगने योग्य तरह तरह के अनेक भोगों को त्याग और जटा वल्कल धारण कर तथा फल मूल खा कर, भरत जी इस शीतकाल में ज़मीन पर सोते होंगे ॥ २८ ॥

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।
वृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥ २९ ॥

---

१ राज्यं—प्रभुत्वं । (गो०) २ मानं—राजपुत्राहमित्यभिमानं । (गो०) ३ भोगान्—स्रक्चन्दनवनितादीन् । (गो०) ४ तपस्वी—तपस्विचिन्हजटादिमान् । (गो०) ५ नियताहारः—फलमूलाद्यशनः । (गो०) ६ शीत—इत्यनेनावरणराहित्यमुच्यते । (गो०)

वे भी निश्चय ही इस समय अपने मंत्रियों के साथ सरयू नदी में स्नान करने को जाते होंगे ॥ २९ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धः सुकुमारो हिमार्दितः* ।
कथं न्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥ ३० ॥

जो भरत अत्यन्त सुख से पाले पोसे गये हैं और स्वभाव ही से सुकुमार हैं, वे भरत, किस प्रकार पाला पड़ने के समय पिछली रात में, सरयू में स्नान करते होंगे ॥ ३० ॥

पद्मपत्रेक्षणो वीरः श्यामो निरुदरो[1] महान् ।
धर्मज्ञः सत्यवादी च ह्रीनिषेधो[2] जितेन्द्रियः ॥ ३१ ॥
प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घबाहुररिन्दमः ।
सन्त्यज्य विविधान्भोगानार्यं सर्वात्मना श्रितः ॥ ३२ ॥

जो भरत जी कमलनेत्र, श्यामवर्ण, सूक्ष्मोदर, (थोंदथूदीले नहीं, अर्थात् बड़े पेट वाले नहीं) बड़ाई करके युक्त, धर्मज्ञ, सत्यवादी, परस्त्री विमुख, जितेन्द्रिय, प्रियभाषी, मनोहर, बड़ी भुजाओं वाले और शत्रुओं को दमन करने वाले हैं, वे समस्त राजसुखोचित भोगों को त्याग कर, हे राम! सब प्रकार से आप ही के आश्रित हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

जितः[3] स्वर्ग[4]स्तव भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।
वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥ ३३ ॥

यद्यपि तुम्हारे भाई महात्मा भरत जी तपस्वी के भेष में वनवासी नहीं हुए, तथापि उन्होंने तुम्हारे अनुरूप तपस्वी का भेष धारण कर

---

१ निरुदरो—अनुन्दिलः। (गो०) २ ह्रीनिषेधः—ह्रियापरनारी विषये निषेध। (रा०) ३ जितः—तिरस्कृतः। (गो०) ४ स्वर्गः—रामप्राप्त्यन्तरायभूतः स्वर्गः। (गो०)

* पाठान्तरे—"सुखोचितः"

और तपस्वियों के नियमों का पालन कर, स्वर्ग को जीत लिया है, अर्थात् आपके वियोग में स्वर्ग का भी तिरस्कार कर दिया है। इस का भाव यह है कि, आपके बिना उन्होंने राज्य के स्वर्गीय भोगों का तिरस्कार किया है ॥ ३३ ॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा[१] इति ।
ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः ॥ ३४ ॥

संसार में जो यह कहावत प्रचलित है कि, मनुष्य में पिता का स्वभाव नहीं आता, वरन माता ही का स्वभाव आता है, सो भरत जी ने इस कहावत को झूठा कर के दिखा दिया। (कहावत—" मां पै पूत, पिता पै घोड़ा, बहुत नहीं तो, थोड़ा थोड़ा।") ॥ ३४ ॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः ।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी* ॥ ३५ ॥

परन्तु जिसके पति तो महाराज दशरथ हों और पुत्र साधु भरत जैसा हो, वह माता कैकेयी क्यों कर ऐसी क्रूर स्वभाव की हुई ?॥३५॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं स्नेहाद्ब्रुवति धार्मिके ।
परिवादं जनन्यास्तमसहन्राघवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

महात्मा लक्ष्मण जी ने, भ्रातृस्नेह के वशवर्त्ती हो, जब ऐसे वचन कहे, तब श्रीरामचन्द्र जी, माता कैकेयी की निन्दा न सह कर, बोले ॥ ३६ ॥

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथञ्चन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥ ३७ ॥

---

१ द्विपदाः—मनुष्याः। (गो०)

* पाठान्तरे—" क्रूरशीलिनी ।

हे भाई लक्ष्मण ! तुम मझली माता कैकेयी की निन्दा मत करो। तुम तो केवल इक्ष्वाकुनाथ भरत की चर्चा करो ॥ ३७ ॥

निश्चिताऽपि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता ।
भरतस्नेहसन्तप्ता बालिशी[1]क्रियते पुनः ॥ ३८ ॥

यद्यपि मैं १४ वर्ष तक वनवास करने का अब तक दृढ़ निश्चय किये हुए हूँ और उसके लिये दृढ़व्रत हूँ, तथापि भरत के स्नेह का जब मुझे स्मरण आता है, तब मैं विकल हो जाता हूँ और मेरी बुद्धि बालकों जैसी हो जाती है ॥ ३८ ॥

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च ।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥ ३९ ॥

भरत जी की प्रिय, मधुर, हृदय को अमृत की तरह तृप्त करने वाली, और मन को प्रसन्न करने वाली बातें, मुझे याद आ रही हैं ॥ ३९ ॥

कदा न्वहं समेष्यामि भरतेन महात्मना ।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥ ४० ॥

नहीं कह सकता मैं कब, महात्मा भरत जी और वीर शत्रुघ्न से तुम्हारे सहित फिर मिलूँगा ॥ ४० ॥

इत्येवं विलपंस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम् ।
चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विलाप करते करते लक्ष्मण और सीता सहित गोदावरी नदी पर पहुँच गये और तीनों ने गोदावरी में स्नान किये ॥ ४१ ॥

---

१ बालिशीक्रियते—बालबुद्धिरिवभवति। (गो०)

तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितॄन्दैवतानि च ।
स्तुवन्ति[1] स्मोदितं सूर्यं देवताश्च[2] समाहिताः ॥ ४२ ॥

तदन्तर उन्होंने गोदावरी के जल से देव पितरों का तर्पण कर, उदय होते हुए सूर्य का उपस्थान कर, सन्ध्यादि देवता की अर्थात् सूर्य-मण्डल-मध्यवर्ती-नारायण की एकाग्रचित्त से स्तुति की ॥ ४२ ॥

[नोट—इस श्लोक में—" तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितॄन्दैवतानि च " देखकर अवगत होता है कि रामायणकाल में जल द्वारा देव और ऋषि पितृ देवों का तर्पण करने की प्रथा प्रचलित थी ।]

कृताभिषेकः स रराज रामः
सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन ।
कृताभिषेको गिरिराजपुत्र्या
रुद्रः सनन्दी भगवानिवेशः ॥ ४३ ॥

॥ इति षोडशः सर्गः ॥

उस समय स्नान कर के श्रीरामचन्द्र जी, सीता और लक्ष्मण सहित उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए या सुशोभित हुए, जिस प्रकार पार्वती और नन्दी सहित भगवान् शिव जी शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

अरण्यकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

1 स्तुवन्ति—उपतस्थिरे । (गो०) 2 देवताः—सन्ध्यादि देवता । (गो०)

सप्तदशः सर्गः

—❋—

कृताभिषेको रामस्तु सीता सौमित्रिरेव च ।
तस्माद्गोदावरीतीरात्ततो जग्मुः स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण स्नान कर, गोदावरी के तट से अपने आश्रम को लौटे ॥ १ ॥

आश्रमं तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः ।
कृत्वा पौर्वाह्णिकं[1] कर्म पर्णशालामुपागमत् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने आश्रम में पहुँच कर, लक्ष्मण जी सहित पूर्वाह्णिक—ब्रह्मयज्ञादि कर्म कर, पर्णशाला में प्रवेश किया ॥ २ ॥

उवास सुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार विविधाः कथाः ॥ ३ ॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र जी महर्षियों द्वारा पूजित हो कर, सुख से वास करने लगे और लक्ष्मण से अनेक प्रकार की पुराण एवं इतिहासों की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया ।
विरराज महाबाहुश्चित्रया चन्द्रमा इव ॥ ४ ॥

उस पर्णशाला में सीता जी के साथ बैठे हुए महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी, ऐसे शोभित होते थे, जैसे चित्रा नक्षत्र के सहित चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ४ ॥

---

१ पौर्वाह्णिकं—ब्रह्मयज्ञादि नन्वग्नि कृत्यम् अनुदितहोमत्वेन तस्य सूर्योपस्थानानन्तर भावित्वा भावात् । (गो०)

तथाऽऽसीनस्य रामस्य कथासंसक्तचेतसः ।
तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यदृच्छया ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तो बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि, इतने में एक राक्षसी अकस्मात् वहां जा पहुँची ॥ ५ ॥

सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः ।
भगिनी राममासाद्य ददर्श त्रिदशोपमम् ॥ ६ ॥
सिंहोरस्कं महाबाहुं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ।
आजानुबाहुं दीप्तास्यमतीव प्रियदर्शनम् ॥ ७ ॥
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम् ।
सुकुमारं महासत्त्वं[1] पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्[2] ॥८॥
राममिन्दीवरश्यामं कन्दर्पसदृशप्रभम् ।
बभूवेन्द्रोपमं दृष्ट्वा राक्षसी काममोहिता ॥ ९ ॥

उस राक्षसी का नाम शूर्पणखा था और वह रावण की बहिन थी। देवताओं के समान, सिंह जैसी छाती वाले, महाबाहु, कमल पत्र के समान विशाल नेत्र वाले, घुटनों तक लंबी भुजाओं वाले, तेजस्वी, देखने में अतीव सुन्दर, मदमत्त गज की तरह चलने वाले, जटामण्डलधारी, सुकुमार, महाबलवान, राजलक्षणों से युक्त, नील कमल के तुल्य श्याम वर्णवाले, और कामदेव के समान सुन्दर, श्रीरामचन्द्रजी को इन्द्र की तरह बैठा हुआ देख, वह राक्षसी काम से मोहित हो गयी अर्थात् उन पर आसक्त हो गयी ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ महासत्त्वं—महाबलं। (गो०) २ पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्—राजलक्षणानि। (गो०)

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं[1] महोदरी।
विशालाक्षं विरूपाक्षी[2] सुकेशं[3] ताम्रमूर्धजा॥ १०॥

श्रीरामचन्द्र जी का मुख सुन्दर था और उस राक्षसी का ख़राब। श्रीरामचन्द्र जी के शरीर का मध्यभाग न बहुत बड़ा था न छोटा था और उस राक्षसी के शरीर का मध्य भाग बहुत बड़ा था अर्थात् वह बड़े पेट वाली थी। श्रीरामचन्द्र जी के नेत्र बड़े बड़े थे और उस राक्षसी के नेत्र विकट थे। श्रीरामचन्द्र जी के सिर के केश नीले थे और उस राक्षसी के लाल लाल थे॥ १०॥

प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा।
तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी॥ ११॥

श्रीरामचन्द्र जी देखने में सुन्दर थे और वह राक्षसी देखने में महाकुरूपा थी। श्रीरामचन्द्र जी का कण्ठस्वर मधुर था, उस राक्षसी का नितान्त कर्कश। श्रीरामचन्द्र जी जवान थे और वह राक्षसी महावृद्धा थी। श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त मधुरभाषी थे और वह राक्षसी सदा टेढ़ी ही बात बोला करती थी॥ ११॥

न्यायवृत्तं[4] सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना।
शरीरज[5]समाविष्टा राक्षसी वाक्यमब्रवीत्॥ १२॥

श्रीरामचन्द्र जी का आचरण उचित था और उस राक्षसी का अत्यन्त गर्हित। श्रीरामचन्द्र जी देखने में जैसे प्रिय थे वह राक्षसी वैसी ही भयङ्कर थी। ऐसी वह राक्षसी कामातुर हो, श्रीरामचन्द्र जी से बोली॥ १२॥

---

१ वृत्तमध्यं—तनुमध्यं (गो०) २ विरूपाक्षी—विकटनेत्री (गो०) ३ सुकेशं—नीलकेशं। (गो०) ४ न्यायवृत्तं—उचिताचारं। (गो०)। ५ शरीरजो—मन्मथः। (गो०)

जटी तापसरूपेण सभार्यः शरचापधृत् ।
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम् ॥ १२ ॥

जटा धारण किये, तपस्वी का भेष बनाये और तीर कमान लिये, स्त्री सहित, तुम इस राक्षसों से सेवित वन में, क्यों आये हो ? ॥ १२ ॥

किमागमनेकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तु राक्षस्या शूर्पणख्या परन्तपः ॥ १४ ॥
ऋजुबुद्धितया[1] सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।
अनृतं न हि रामस्य कदाचिदपि सम्मतम् ॥ १५ ॥

तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है, सो ठीक ठीक बतलाओ। शत्रुओं के तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पणखा के ये वचन सुन, सरलता से अपना समस्त वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। क्योंकि श्रीरामचन्द्र झूठ बोलना कभी पसन्द नहीं करते ॥ १४ ॥ १५ ॥

विशेषेणाश्रमस्थस्य[2] समीपे स्त्रीजनस्य च ।
आसीद्दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः ॥ १६ ॥

सो भी विशेष कर तपोवन में बैठ कर और स्त्रियों के सामने। अतः श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—देवतुल्य पराक्रमी महाराज दशरथ नाम के महाराज थे ॥ १६ ॥

तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
भ्राताऽयं लक्ष्मणो नाम यवीयान्मामनुव्रतः ॥ १७ ॥

उन्हींका मैं ज्येष्ठपुत्र हूँ। संसार में मैं राम के नाम से प्रसिद्ध हूँ। यह मेरा आज्ञाकारी छोटा भाई है। इसका नाम लक्ष्मण है ॥ १७ ॥

---

१ ऋजुबुद्धितया—सरलस्वभावेन । (शि०) २ आश्रमस्थस्य—तपोवनस्थस्य (गो०)

इयं भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता ।
नियोगात्तु[2] नरेन्द्रस्य पितुर्मातुश्च यन्त्रितः[1] ॥ १८ ॥

और यह विदेहनन्दिनी मेरी भार्या है और इसका नाम सीता है। अपने पिता महाराज दशरथ और माता की आज्ञा से प्रेरित हो ॥ १८ ॥

धर्मार्थं[3] धर्मकाङ्क्षी[4] च वनं वस्तुमिहागतः ।
त्वां तु वेदितुमिच्छामि कथ्यतां काऽसि कस्य वा ॥१९॥

तपोरूपी धर्म की सिद्धि के लिये और पिता की आज्ञा का पालन करने की आकांक्षा से, मैं यहां इस वन में आया हूँ। अब मैं तुम्हारा परिचय भी जानना चाहता हूँ। सो तुम बतलाओ कि, तुम कौन हो, और किसकी स्त्री हो और किसकी लड़की हो? ॥ १९ ॥

न हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे ।
इह वा किन्निमित्तं त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः ॥ २० ॥

तुम जैसी बनठन कर आयी हो, सो वास्तव में तुम वैसी हो नहीं। तुम तो मुझे कोई राक्षसी जान पड़ती हो। अब तुम ठीक ठीक बतलाओ कि, तुम यहां किस लिये आयी हो? ॥ २० ॥

साऽब्रवीद्वचनं श्रुत्वा राक्षसी मदनार्दिता ।
श्रूयतां राम वक्ष्यामि तत्त्वार्थं वचनं मम ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन वह कामातुर राक्षसी बोली—हे राम! मेरे वचन सुनिये, मैं अब अपना परिचय तुम्हें ठीक ठीक देती हूँ ॥ २१ ॥

---

१ यन्त्रितः—नियतः। (गो०) २ नियोगात्—आज्ञाबलात्। (रा०) ३ धर्मार्थं—तपोरूपधर्मसिद्ध्यर्थं। (गो०) ४ धर्मकाङ्क्षी—पितृवाक्यपालनरूपधर्मकाङ्क्षी। (रा०)

अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी।
अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयङ्करा ॥ २२ ॥

मैं शूर्पणखा नाम की कामरूपिणी राक्षसी हूँ। मैं सब को डराती हुई, अकेली इस वन में घूमा करती हूँ ॥ २२ ॥

रावणो नाम मे भ्राता बलीयान्राक्षसेश्वरः।
वीरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ २३ ॥

बड़ा बलवान्, शूर और विश्रवामुनि का पुत्र तथा राक्षसों का राजा, जिसका नाम कदाचित् तुमने सुना हो, रावण मेरा भाई है ॥२३ ॥

प्रवृद्धनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः।
विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः ॥ २४ ॥

मेरे मझले भाई का नाम कुम्भकर्ण है जो सदा सोया करता है, किन्तु है बड़ा बलवान्। मेरे सब से छोटे भाई का नाम विभीषण है। वह बड़ा धर्मात्मा है, इसीसे वह जन्म से राक्षस होने पर भी, उसके आचरण राक्षसों जैसे नहीं हैं ॥ २४ ॥

प्रख्यातवीर्यौ च रणे भ्रातरौ खरदूषणौ।
तानहं समतिक्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात् ॥ २५ ॥
समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम्।
अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी ॥ २६ ॥

खर और दूषण नाम के मेरे दो भाई और हैं, जो युद्ध करने में बड़े प्रसिद्ध पराक्रमी हैं। हे राम! तुमको पहिली बार देखते ही, (तुम पर आसक्त हो), मैं उन सब की कुछ भी परवाह न कर, तुम जैसे उत्तम पुरुष को अपना पति बनाने को यहाँ आयी हूँ। मैं बड़ी प्रभाव

शालिनी और बलवती हूँ। इसीलिये मैं स्वच्छन्द घूमती रहती हूँ। अर्थात् जहाँ चाहती हूँ वहाँ जाती हूँ ॥ २५ ॥ २६ ॥

चिराय भव मे भर्ता सीतया किं करिष्यसि।
विकृता च विरूपा च न चेयं सदृशी तव ॥ २७ ॥

सो तुम चिरकाल के लिये मेरे पति बनो। तुम सीता को ले कर क्या करोगे? यह तो विकराल और कुरूपा है। अतः यह तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

[नोट—"भव मे भर्ता" से ज्ञात पड़ता है कि, राक्षससमाज में विधवाएं पुनर्विवाह कर सकती थीं।]

अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम्।
इमां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ॥ २८ ॥
अनेन ते सह भ्रात्रा भक्षयिष्यामि मानुषीम्।
ततः पर्वतशृङ्गाणि वनानि विविधानि च ॥
पश्यन्सह मया कान्त दण्डकान्विचरिष्यसि ॥ २९ ॥

सौन्दर्य की दृष्टि से मैं तुम्हारी भार्या बनने योग्य हूँ। अतः तुम मुझे अपनी स्त्री की तरह देखो। इस कुरूपा, कुलटा, विकटाकार वाली और लटकती हुई थोंद वाली, मानुषी सीता को, तुम्हारे इस भाई के सहित, मैं खा डालूँगी। तब तुम मेरे साथ पर्वत के इन शिखरों पर और इन विविध वनों को देखते हुए, इस दण्डक वन में विचरना ॥ २८ ॥ २९ ॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम्।
इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥ ३० ॥

॥ इति सप्तदशः सर्गः ॥

वचन बोलने में चतुर श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पणखा के ये वचन सुन और मुसक्या कर, क्रूरमना राक्षसी से यह कहना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ।

—*—

अष्टादशः सर्गः

—*—

ततः शूर्पणखां रामः कामपाशावपाशिताम्।
स्वच्छया[1] श्लक्ष्णया वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उपहास करते हुए, कामपीड़ित शूर्पणखा से साफ साफ शब्दों में, किन्तु मधुर वाणी से मुसकरा कर कहा ॥ १ ॥

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम।
त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥ २ ॥

हे देवि! मेरा विवाह तो हो चुका है और यह मेरी पत्नी मुझे प्यारी भी बहुत है। अतः तुम जैसी स्त्री को सौत का होना बड़ा दुःखदायी होगा ॥ २ ॥

अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः।
श्रीमानकृतदारश्च[2] लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ ३ ॥

हाँ, मेरे छोटे भाई लक्ष्मण के पास इस समय स्त्री नहीं है और वह है भी शीलवान्, सुन्दर, तेजस्वी और पराक्रमी ॥ ३ ॥

[नोट— "अकृतदार" का अर्थ "अविवाहित" इस लिये नहीं हो सकता कि, श्रीरामचन्द्र जी पर मिथ्याभाषण का दोष लगता है। श्रीरामचन्द्र जी तो कहते हैं-"अनृतंनोक्तपूर्वं मे नच वक्ष्ये कदाचन" तथा 'न वितथा परिहासकथास्वपि"।]

---

१ स्वच्छया—स्पष्टार्थया। (गो०) २ अकृतदारः—असहकृतदार। (गो०)

अपूर्वी[१] भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः ।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥ ४ ॥

यह तरुण है और इसे बहुत दिनों से स्त्री सुख भी प्राप्त नहीं हुआ। अतः इसे भार्या की आवश्यकता भी है। देखने में भी बड़ा सुस्वरूप होने के कारण, यह तुम्हारे अनुरूप ही पति होगा ॥ ४ ॥

एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम ।
असपत्ना वरारोहे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ ५ ॥

सो हे विशालाक्षी ! तुम मेरे भाई को अपना पति बना लो। इसको अपना पति बनाने से तुम्हें सौत का दुःख भी न होगा और तुम इसके साथ उसी प्रकार सुख से रहोगी, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु के पास रहती है ॥ ५ ॥

इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता ।
विसृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ६ ॥

वह काम से पीड़ित राक्षसी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, तुरन्त श्रीरामचन्द्र जी को छोड़, लक्ष्मण जी से जा कर बोली ॥ ६ ॥

अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याऽहं वरवर्णिनी ।
मया सह सुखं सर्वान्दण्डकान्विचरिष्यसि ॥ ७ ॥

मैं सब स्त्रियों में अधिक सुन्दरी होने के कारण, तुम्हारे इस सौन्दर्य के योग्य ही तुम्हारी भार्या बनूँगी और तुम मेरे साथ सुख पूर्वक इस समूचे दण्डकवन में विचरोगे ॥ ७ ॥

---

१ अपूर्वी—चिरादज्ञातभार्यासुख। (गो०)

एवमुक्तस्तु सौमित्री राक्षस्या वाक्यकोविदः।
ततः शूर्पणखां स्मित्वा लक्ष्मणो युक्तमब्रवीत् ॥ ८ ॥

शूर्पणखा की यह बात सुन, वाक्पटु लक्ष्मण जी मुसक्या कर उससे यह युक्तियुक्त वचन बोले ॥ ८ ॥

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि।
सोऽहमार्येण परवान्भ्रात्रा कमलवर्णिनि ॥ ९ ॥

हे कमलवर्णिनि! (कमल समान रंग के शरीरवाली) तुम मुझ जैसे पराये दास की स्त्री बन कर, क्यों दासी बनना चाहती हो? क्योंकि मैं तो अपने उन बड़े भाई के परवश हूँ ॥ ९ ॥

समृद्धार्थस्य सिद्धार्थामुदितामलवर्णिनी।
आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी ॥ १० ॥

हे विशालनेत्रवाली! तुम तो सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न मेरे बड़े भाई की यदि छोटी या दूसरी स्त्री बनोगी, तो तुम्हारी सब मनोकामना पूरी होंगी और तुम बहुत प्रसन्न होवोगी ॥ १० ॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम्।
भार्यां वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ॥ ११ ॥

फिर जब तुम इनसे विवाह कर लोगी, तब ये इस कुरूपा, कुलटा, कराली, बड़े पेट वाली और बूढ़ी स्त्री को छोड़, तुम्हारे ही अनुरागी बन जायँगे ॥ ११ ॥

को हि रूपमिदं श्रेष्ठं सन्त्यज्य वरवर्णिनि।
मानुषीषु वरारोहे कुर्याद्भावं विचक्षणः ॥ १२ ॥

हे वरवर्णिनी ! हे वरारोहे ! भला कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस सर्वश्रेष्ठ रूप का अनादर कर, मानुषी में अनुराग करेगा ॥ १२ ॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी ।
मन्यते तद्वचस्तथ्यं परिहासाविचक्षणा[1] ॥ १३ ॥

जब लक्ष्मण जी ने उससे इस प्रकार कहा, तब वह बड़े पेटवाली और भयङ्कर राक्षसी, उपहास के मर्म को न समझ, लक्ष्मण की बातों को सत्य ही मान बैठी ॥ १३ ॥

सा रामं पर्णशालायामुपविष्टं परन्तपम् ।
सीतया सह दुर्धर्षमब्रवीत्काममोहिता ॥ १४ ॥

वह कामपीड़ित तो थी ही, सो वह पर्णकुटी में सीता जी के साथ बैठे हुए, शत्रुओं को तपाने वाले, दुर्धर्ष श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर कहने लगी ॥ १४ ॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।
वृद्धां भार्यामवष्टभ्य मां न त्वं बहुमन्यसे ॥ १५ ॥

हे राम ! इस कुरूपा, कुलटा, भयङ्कर, महोदरी और बूढ़ी के सामने तुम (मेरी जैसी सुन्दरी का) ज़रा भी ख्याल नहीं करते ॥ १५ ॥

अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम् ।
त्वया सह चरिष्यामि निःसपत्ना यथासुखम् ॥ १६ ॥

तो लो, मैं अभी तुम्हारे सामने इस मानुषी को खाये डालती हूँ और फिर सौत का खटका दूर कर, मैं तुम्हारे साथ इस वन में आनन्दपूर्वक विहार करूँगी ॥ १६ ॥

---

1 परिहासाविचक्षणा—परिहासानभिज्ञा । (गो०)

इत्युक्त्वा मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा ।
अभ्यधावत्सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ॥ १७ ॥

यह कह कर, दहकते हुए अङ्गारे के समान नेत्रों वाली शूर्पणखा, महाक्रुद्ध हो, हिरनी के बच्चे जैसे नेत्रों वाली सीता जी पर वैसे ही झपटी, जैसे रोहिणी की ओर उल्कापिण्ड वेग से झपटता हो ॥ १७ ॥

तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्तीं महाबलः ।
निगृह्य[1]रामः कुपितस्ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १८ ॥

यम की फांसी के समान राक्षसी को आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, हुङ्कार से उसे रोका और लक्ष्मण जी से कहा ॥ १८ ॥

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथञ्चन ।
न कार्यः पश्य वैदेहीं कथञ्चित्सौम्य जीवतीम्[2] ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! ऐसे असभ्य और क्रूर जनों से हँसी दिल्लगी न करनी चाहिये। हे सौम्य ! शूर्पणखा की यह क्रूरता देख, सीता कैसे स्वस्थ्य रह सकती है ? ॥ १९ ॥

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम् ।
राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि ॥ २० ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! तुम इस कुरूपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली, और बड़े पेट वाली राक्षसी को और भी कुरूप कर दो ॥ २० ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः* ।
उद्धृत्य खड्गं चिच्छेद कर्णनासं महाबलः ॥ २१ ॥

---

१ निगृह्य हुंकारेण प्रतिषिध्य । (गो०) २ कथंचिज्जीवतीं-शूर्पणखाया। क्रौर्यमालोक्य कथंचित्स्वास्थ्यमापन्नां । (गो०)

* पाठान्तरे—"पार्श्वतः" ।

महाबलवान् लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, क्रुद्ध हो और तलवार निकाल कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने ही उस राक्षसी के नाक कान काट डाले ॥ २१ ॥

निकृत्तकर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च।
यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम् ॥ २२ ॥

तब तो वह घोर राक्षसी शूर्पणखा कान और नाक कटने के कारण विकट चीत्कार करती हुई, जिधर से आयी थी, उधर ही वन में भागी ॥ २२ ॥

सा विरूपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता।
ननाद विविधान्नादान्यथा प्रावृषि तोयदः ॥ २३ ॥

अति भयानक शरीरवाली कुरूपा वह राक्षसी, रुधिर में सनी, वर्षाकालीन बादल की तरह, नाना प्रकार के शब्द करती हुई गरजने लगी ॥ २३ ॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना।
प्रगृह्य बाहू गर्जन्ती प्रविवेश महावनम् ॥ २४ ॥

वह पहले से भी अधिक भयानक रूपवाली हो, बाहें उठा, घावों से रुधिर टपकाती हुई, महावन में घुस गयी ॥ २४ ॥

ततस्तु सा राक्षससङ्घसंवृतं
खरं जनस्थानगतं विरूपिता।
उपेत्य तं भ्रातरमुग्रदर्शनं।
पपात भूमौ गगनाद्यथाऽशनिः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह कुरूपा राक्षसी, जनस्थान में, जहाँ खर नाम का उग्रतेजवान् उसका भाई राक्षसों की मण्डली में बैठा था, जा कर, उसके सामने, आकाश से गिरे हुए वज्र की तरह, पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥ २५ ॥

ततः सभार्यं भयमोहमूर्छिता
सलक्ष्मणं राघवमागतं वनम् ।
विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

रुधिर से सनी, भय और मोह से अचेत (अर्थात् जिसका चित्त ठिकाने न था) खर की बहिन राक्षसी शूर्पणखा ने, खर को, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का वन में आना और उनके द्वारा अपनी नाक और कानों के काटे जाने का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का अठारहवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनविंशः सर्गः

—*—

तां तथा पतितां दृष्ट्वा विरूपां शोणितोक्षिताम् ।
भगिनीं क्रोधसन्तप्तः खरः पप्रच्छ राक्षसः ॥ १ ॥

विरूप और रुधिर से सनी हुई अपनी बहिन को ज़मीन पर गिरी हुई देख, खर नामक राक्षस ने क्रोध से सन्तप्त हो, अपनी बहिन से पूँछा ॥ १ ॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं जहि सम्भ्रमम् ।
व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवंरूपा विरूपिता ॥ २ ॥

उठ कर बैठ जा और अपना जी ठिकाने कर के, अपना हाल तो कह। निर्भय हो, साफ साफ बतला कि, तुझे किसने कुरूप किया ॥२॥

कः कृष्णसर्पमासीनमाशीविषमनागसम् ।
तुदत्यभिसमापन्नमङ्गुल्यग्रेण लीलया ॥ ३ ॥

सामने बैठे हुए, कुण्डली बांधे, निरपराध विषधर काले सांप को, खेल के मिस, अथवा अनायास, ऊंगली से किसने छेड़ा है ॥ ३ ॥

कः कालपाश[1]मासज्य[2] कण्ठे मोहान्न बुध्यते[3] ।
यस्त्वामद्य[4] समासाद्य पीतवान्विषमुत्तमम् ॥ ४ ॥

कौन अपने गले में काल की फांसी लगा कर, यह नहीं जानता कि, पीछे इससे उसे मरना होगा। जिसने तेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है, अर्थात् जिसने तेरी नाक और कान काटे हैं; उसने मानों हलाहल विष पिया है ॥ ४ ॥

बलविक्रमसम्पन्ना कामगा कामरूपिणी ।
इमामवस्थां नीता त्वं केनान्तकसमा गता ॥ ५ ॥

अरे तू तो ऐसी बल विक्रम वाली, स्वच्छन्द घूमने वाली, कामरूपिणी और काल के समान है। तेरी ऐसी दुर्दशा किसने कर डाली ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानमृषीणां च महात्मनाम् ।
कोऽयमेवं विरूपां त्वां महावीर्यश्चकार ह ॥ ६ ॥

---

१ कालपाशं—मृत्युपाशं । (गो०) २ आसज्य—आबध्य । (गो०) ३ न बुध्यते—उत्तरक्षणे स्वमरणं न जानाति। (गो०) ४ आसाद्य—प्राप्य। (गो०)

देवताओं गन्धर्वों, भूतपिशाचों, ऋषियों और महात्माओं में कौन ऐसा महापराक्रमी है, जिसने तेरे नाक कान काट डाले ॥ ६ ॥

न हि पश्याम्यहं लोके यः कुर्यान्मम विप्रियम् ।
अन्तरेण सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥ ७ ॥

मैं तो सहस्रलोचन इन्द्र की भी यह सामर्थ्य नहीं देखता कि, वह मेरे साथ छेड़खानी करे—फिर मनुष्यों की तो गिनती ही किसमें है ॥ ७ ॥

अद्याहं मार्गणैः[1] प्राणानादास्ये जीवितान्तकैः[2] ।
सलिले क्षीरमासक्तं निष्पिबन्निव सारसः[4] ॥ ८ ॥

जिस प्रकार हंस जल मिश्रित दूध को, जल से अलग कर पी लेता है, उसी प्रकार आज मैं भी प्राण हरण करने वाले अपने बाणों से उस शत्रु के, जिसने तुम्हें विरूप किया है, प्राण शरीर से अलग कर दूँगा ॥ ८ ॥

निहतस्य मया संख्ये[3] शरसंकृत्तमर्मणः ।
सफेनं रुधिरं रक्तं मेदिनी कस्य पास्यति ॥ ९ ॥

युद्ध में मेरे चलाये हुए बाणों से विदीर्ण हो, कौन मरना चाहता है? और किसका फेन सहित रक्त यह पृथ्वी पीना चाहती है? ॥ ९ ॥

कस्य पत्ररथाः[5] कायान्मांसमुत्कृत्य सङ्गताः ।
प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥ १० ॥

---

१ मार्गणैः—बाणैः । (गो०) २ जीवितान्तकैः—शत्रुजीवितविनाशकरैः । (गो०) ३ संख्ये—युद्धे । (गो०) ४ सारसः—हंसविशेषः । (गो०)
५ पत्ररथाः—पक्षिणः (गो०)

युद्ध में मेरे हाथ से मरे हुए किस पुरुष की देह का मांस नौच नौच कर, गिद्धादि पक्षियों के भुण्ड, प्रसन्न हो कर, खाया चाहते हैं? ॥ १० ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
मयापकृष्टं कृपणं[1] शक्तास्त्रातुमिहाहवे ॥ ११ ॥

मैं जिस पर चढ़ाई करूँगा, उस मेरे अपराधी को, न देवता, न गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस बचा सकेंगे ॥ ११ ॥

उपलभ्य[2] शनैः संज्ञां तं मे शंसितुमर्हसि ।
येन त्वं दुर्विनीतेन[3] वने विक्रम्य निर्जिता ॥ १२ ॥

अब तू अपना जी धीरे धीरे ठिकाने कर, उस दुष्ट का नाम पता आदि मुझे बतला, जिसने तुझे इस वन में अपने पराक्रम से जीता है ॥ १२ ॥

इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः[4] ।
ततः शूर्पणखा वाक्यं सबाष्पमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

अतिशय क्रुद्ध भाई के ये वचन सुन, शूर्पणखा आँसुओं से डब-डबाती हुई, बोली ॥ १३ ॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥ १४ ॥

तरुण, सुस्वरूप, सुकुमार, महाबली, कमलनयन, चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए, ॥ १४ ॥

---

१ कृपणं—अपराधिनं । (शि०) २ उपलभ्य—प्राप्य । (गो०) ३ दुर्विनीतेन—दुर्जनेन । (गो०) ४ विशेषतः—अतिशयेन । (गो०)

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ।
पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १५ ॥

फलमूलाहारी, जितेन्द्रिय, तपस्वी और, धर्मचारी महाराज दशरथ के दो राजपुत्र राम और लक्ष्मण नाम के दो भाई हैं ॥ १५ ॥

गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
देवौ वा मानुषौ वा तौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥ १६ ॥

वे देखने में गन्धर्वराज की तरह और राजलक्षणों से युक्त जान पड़ते हैं। वे दोनों देवता हैं, या मनुष्य हैं, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता।
दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ १७ ॥

मैंने, उन दोनों के साथ क्षीणकटिवाली युवती, सुन्दरी और सब भूषणों से भूषित एक स्त्री भी देखी ॥ १७ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य[1] ताम्।
इमामवस्थां नीताऽहं यथाऽनाथाऽसती तथा ॥ १८ ॥

उस स्त्री के निमित्त अथवा उस स्त्री के कहने से उन दोनों भाइयों ने मिल कर, मेरी वैसी दशा की, जैसी कि, किसी अनाथा और कुलटा स्त्री की, की जाती है ॥ १८ ॥

तस्याश्चानृजुवृत्तायास्[2]तयोश्च हतयोरहम्।
सफेनं पातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥ १९ ॥

---

१ प्रमदामधिकृत्य—निमित्तीकृत्य। (गो०) २ अनृजुवृत्तायाः—कुटिलवृत्तायाः। (गो०)

हे भाई! मैं अब यह चाहती हूँ कि, युद्ध में वे दोनों कुटिल भाई मय उस स्त्री के मारे जाँय और मैं उनका फेन सहित (अर्थात् ताज़ा, टटका) खून पीऊँ ॥ १९ ॥

एष मे प्रथमः[1] कामः[2] कृतस्तात त्वया भवेत् ।
तस्यास्तयोश्च रुधिरं पिबेयमहमाहवे ॥ २० ॥

मेरी सब से बढ़ कर (या श्रेष्ठ) यही अभिलाषा है। इसे तुम पूरी करो कि, जिससे मैं युद्धक्षेत्र में उन तीनों का रक्तपान करूँ ॥ २० ॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दश महाबलान् ।
व्यादिदेश खरः क्रुद्धो राक्षसानन्तकोपमान् ॥ २१ ॥

शूर्पणखा के यह कहने पर, खर ने क्रुद्ध हो, यमराज के समान बलवान १४ राक्षसों को आज्ञा दी कि, ॥ २१ ॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।
प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह ॥ २२ ॥

जो शस्त्र धारण किये हुए हैं, काले मृग का चर्म ओढ़े हुए और चीर पहिने हुए हैं तथा जो इस घोर दण्डकवन में, स्त्री सहित आये हुए हैं ॥ २२ ॥

तौ हत्वा तां च दुर्वृत्तामपावर्तितुमर्हथ ।
इयं च रुधिरं तेषां भगिनी मम पास्यति ॥ २३ ॥

उन दोनों जनों को, उस दुष्ट स्त्री के सहित मार कर, लौट आओ। क्योंकि यह मेरी बहिन उनका रुधिर पीवेगी ॥ २३ ॥

---

१ प्रथमः—श्रेष्ठः । (गो०) २ कामः—अभिलाषः । (गो०)

मनोरथोऽयमिष्टोऽस्या भगिन्या मम राक्षसः[1] ।
शीघ्रं सम्पाद्यतां तौ च प्रमथ्य[2] स्वेन तेजसा ॥ २४ ॥

हे राक्षसो ! मेरी बहिन का यह मनोरथ है और मुझे भी यही इष्ट है कि, तुम लोग शीघ्र उन तीनों को अपने बल पराक्रम से मार डालो ॥ २४ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता यथा ॥ २५ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार खर की आज्ञा पा कर, चौदहों राक्षस, वायु से उड़ाये हुए मेघों की तरह, शूर्पणखा के साथ वहाँ गये, जहाँ श्रीरामाश्रम था ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्नीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:※:—

त्रिंशः सर्गः

—:※:—

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता ।
रक्षसामाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया ॥ १ ॥

तदनन्तर वह भयङ्कर रूपवाली शूर्पणखा, श्रीरामाश्रम में पहुँची और उन दोनों भाई राम, लक्ष्मण तथा सीता को, उन राक्षसों को दिखलाया ॥ १ ॥

---

१ अस्याअयंमनोरथः ममचायमिष्टः सम्मतइत्यर्थः । (गो०) २ प्रमथ्य—हत्वा । (गो०)

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महाबलम् ।
दहशुः सीतया सार्धं वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २ ॥

उन राक्षसों ने पर्णकुटी में महाबली श्रीराम को सीता और लक्ष्मण सहित बैठे हुए देखा ॥ २ ॥

तान्दृष्ट्वा राघवः श्रीमानागतां तां च राक्षसाम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उन राक्षसों को और शूर्पणखा को आया हुआ देख, तेजस्वी लक्ष्मण से कहा ॥ ३ ॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः[1] ।
इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागतान्[2]िह ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! थोड़ी देर तुम सीता के पास रह कर इनकी, रखवाली करो। इतने में मैं इस राक्षसी के इन हिमायतियों को मार डालूँगा ॥ ४ ॥

वाक्यमेतत्ततः श्रुत्वा रामस्य विदितात्मनः ।
तथेति लक्ष्मणो वाक्यं रामस्य प्रत्यपूजयत् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी ने विदितात्मा श्रीरामचन्द्र के वचन सुन कर और उनके कथन को स्वीकार करते हुए, "बहुत अच्छा" कहा ॥ ५ ॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम् ।
चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत् ॥ ६ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी, सुवर्णभूषित अपने बड़े धनुष पर रोदा चढ़ा, उन राक्षसों से कहा ॥ ६ ॥

---

१ प्रत्यनन्तरः—रक्षणार्थं समीपवर्ती भव । (शि०) २ पदवीमागतान्—तत्सहायत्वेन प्राप्तान् । (शि०)

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम् ॥ ७ ॥

देखो हम दोनों महाराज दशरथ के पुत्र, सीता को अपने साथ ले, इस दुर्गम दण्डकवन में आये हैं ॥ ७ ॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।
वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंसथ ॥ ८ ॥

हम फलमूल खाने वाले, जितेन्द्रिय, तपस्वी और धर्मचारी हो, इस दण्डकवन में रहते हैं, सो तुम हमारे ऊपर क्यों चढ़ कर आये हो अथवा हमें मारने आये हो ? ॥ ८ ॥

युष्मान्पापात्मकान्हन्तुं विप्रकारान्महाहवे ।
ऋषीणां तु नियोगेन प्राप्तोऽहं सशरायुधः ॥ ९ ॥

(हम तपस्वी तो हैं, किन्तु हम लोगों के धनुष धारण करने का कारण यह है कि,) हम इस महावन में, तुम्हारे जैसे पापिष्ठों को, जो ऋषियों को सताया करते हैं, ऋषियों की आज्ञा से, मारने के लिये, धनुष बाण ले कर आये हैं ॥ ९ ॥

तिष्ठतैवात्र सन्तुष्टा[1] नोपावर्तितुमर्हथ[2] ।
यदि प्राणैरिहार्थो वा निवर्तध्वं निशाचराः ॥ १० ॥

इस लिये तुम निर्भय जहां के तहां खड़े रहना—भागना मत । और यदि अपने प्राण बचाने हों तो, हे राक्षसों ! तुम यहां से लौट जाओ ॥ १० ॥

---

१ सन्तुष्टा—अभीता । (गो०) २ नोपावर्तितुमर्हथ—मा पलायध्वमित्यर्थः । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
ऊचुर्वाचं सुसंक्रुद्धा ब्रह्मघ्नाः शूलपाणयः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, वे ब्रह्मघाती और शूलधारी चौदह राक्षस, महाक्रुद्ध हो बोले ॥ ११ ॥

संरक्तनयना घोरा रामं संरक्तलोचनम् ।
परुषं मधुराभाषं हृष्टा दृष्टपराक्रमम् ॥ १२ ॥

वे लाल लाल नेत्र कर, लाल लाल नेत्रों वाले, मधुरभाषी, परम प्रसन्न रहने वाले और दृढ़ पराक्रमी श्रीरामचन्द्र से कठोर वचन बोले ॥ १२ ॥

क्रोधमुत्पाद्य नो भर्तुः खरस्य सुमहात्मनः ।
त्वमेव हास्यसे प्राणानद्यास्माभिर्हतो युधि ॥ १३ ॥

देखो, तुमने हमारे महात्मा खर को अपने ऊपर क्रुद्ध स्वयं किया है। सो तुम आज लड़ाई में हमारे हाथ से मारे जाओगे ॥ १३ ॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि ।
अस्माकमग्रतः स्थातुं किं पुनर्योद्धुमाहवे ॥ १४ ॥

तुम्हारे अकेले की क्या ताब है, जो हमारे सामने रण में खड़े भी रह सको! हमारे साथ लड़ना तो बात ही निराली है ॥ १४ ॥

एहि बाहुप्रयुक्तैर्नः परिघैः[1] शूलपट्टिशैः[2] ।
प्राणांस्त्यक्ष्यसि वीर्यं च धनुश्च करपीडितम्[3] ॥ १५ ॥

---

१ परिघैः—गदाभेदैः । (गो०) २ पट्टिशैः—असिभेदैः । (गो०) ३ करपीडितम्—करेण दृढ गृहीतम् । (शि०)

हमारी चलायी इन गदाओं और तलवारों से घायल हो, तुमको केवल अपने हाथ का यह धनुष ही नहीं त्यागना पड़ेगा; किन्तु तुम्हें अपने बलवीर्य और प्राणों से भी हाथ धोने पड़ेंगे ॥१५॥

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धा राक्षसास्ते चतुर्दश ।
उद्यतायुधनिस्त्रिंशा राममेवाभिदुद्रुवुः ॥ १६ ॥

यह कह वे चौदहो राक्षस क्रुद्ध हो और अपने आयुधों को उठा, एक साथ श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटे ॥ १६ ॥

चिक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम् ।
तानि शूलानि काकुत्स्थ समस्तानि चतुर्दश ॥ १७ ॥
तावद्भिरेव चिच्छेद शरैः काञ्चनभूषणैः ।
ततः पश्चान्महातेजा नाराचान्[1] सूर्यसन्निभान् ॥ १८ ॥
जग्राह परमक्रुद्धश्चतुर्दश शिलाशितान्[2] ।
गृहीत्वा धनुरायस्य लक्ष्यानुद्दिश्य राक्षसान् ॥ १९ ॥
मुमोच राघवो बाणान्वज्रानिव शतक्रतुः ।
ते भित्त्वा रक्षसां वेगाद्वक्षांसि रुधिराप्लुताः ॥ २० ॥

दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी पर उन लोगों ने त्रिशूल चलाये । तब श्रीरामचन्द्र जी ने उन समस्त चौदहों त्रिशूलों को सुवर्णभूषित उतने ही (१४) बाणों से काट डाला । तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो सूर्य के समान चमचमाते, बिना फरके और सिली पर पैनाये हुए चौदह बाण ले, उनको धनुष पर रखा और राक्षसों को लक्ष्य कर उसी प्रकार उन्हें छोड़े, जिस प्रकार इन्द्र वज्र

---

१ नाराचान्—अफलकान् बाणान् (गो०) २ शिलाशितान—शाणोपल निघृष्टान् । शिलानिर्मेदक्षमानित्यर्थः । (गो० – रा०)

को चलाते हैं। वे सब बाण, बड़े वेग से राक्षसों की छाती फोड़, रुधिर में सने, ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

विनिष्पेतुस्तदा भूमौ न्यमज्जन्ताशनिस्वनाः ।
ते भिन्नहृदया भूमौ च्छिन्नमूला इव द्रुमाः ॥ २१ ॥

वज्र की तरह घहराते हुए पृथिवी पर जा गिरे। बाणों के आघात से वे चौदहों राक्षस भी विदीर्ण हृदय हो, जड़ से कटे हुए वृक्ष की तरह भूमि पर गिर पड़े ॥ २१ ॥

निपेतुः शोणितार्द्राङ्गा विकृता विगतासवः[1] ।
तान्दृष्ट्वा पतितान्भूमौ राक्षसी क्रोधमूर्छिता ॥ २२ ॥

वे राक्षस खून से लथर पथर थे, उनकी शक्लें बिगड़ गयी थीं और वे निर्जीव हो गये थे। उनको ज़मीन पर गिरा हुआ देख, शूर्पणखा क्रोध से अधीर हो गयी ॥ २२ ॥

परित्रस्ता पुनस्तत्र व्यसृजद्भैरवस्वनान् ।
सा नदन्ती* महानादं जवाच्छूर्पणखा पुनः ॥ २३ ॥

और भयभीत हो, उसने वहाँ पुनः बड़ा भयङ्कर शब्द किया और महानाद करती हुई वह शूर्पणखा, ॥ २३ ॥

उपगम्य खरं सा तु किञ्चित्संशुष्कशोणिता ।
पपात पुनरेवार्ता सनिर्यासेववल्लरी† ॥ २४ ॥

जिसके शरीर का खून सूख गया था—खर के पास पहुँची और कातर हो सूखी हुई लता की तरह फिर गिर पड़ी ॥ २४ ॥

---

१ विगतासवः—विगतप्राणाः । (गो०)

* पाठान्तरे "पुनर्नादं" । † पाठान्तरे—"सल्लकी" ।

भ्रातुः समीपे शोकार्ता ससर्ज निनदं मुहुः ।
सस्वरं मुमुचे बाष्पं विषण्णवदना तदा ॥ २५ ॥

भाई के पास जा, वह शोकातुर हो बहुत चीखने लगी और चिल्ला चिल्ला कर रोने लगी। तब मारे शोक के उसका चेहरा फीका पड़ गया ॥ २५ ॥

निपातितान्दृश्य रणे तु राक्षसा-
न्प्रधाविता शूर्पणखा पुनस्ततः ।
वधं च तेषां निखिलेन रक्षसां
शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

वह खर की बहिन शूर्पणखा, युद्ध में राक्षसों को मरा हुआ देख, दौड़ी दौड़ी खर के पास गयी और बोली कि, सब राक्षस मारे गये ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकविंशः सर्गः

—*—

स पुनः पतितां दृष्ट्वा क्रोधाच्छूर्पणखां खरः ।
उवाच व्यक्तया वाचा तामनर्थार्थ[1]मागताम् ॥ १ ॥

सब राक्षसों का सत्यानाश करवाने को उद्यत शूर्पणखा को फिर ज़मीन पर पड़ी हुई देख, क्रोध में भर, खर फिर चिल्ला कर बोला ॥ १ ॥

---

१ अनर्थार्थं—सर्वराक्षस विनाशार्थं । (गो०)

मया त्विदानीं शूरास्ते राक्षसा रुधिराशनः ।
त्वत्प्रियार्थं विनिर्दिष्टाः किमर्थं रुद्यते पुनः ॥ २ ॥

मैंने तुझे प्रसन्न करने के लिये रुधिर पीने वाले और शूरवीर चौदह राक्षस भेजे दिये—अब तू क्यों फिर रो रही है ॥ २ ॥

भक्ताश्चैवानुरक्ताश्च हिताश्च मम नित्यशः ।
घ्नन्तोऽपि न निहन्तव्या न न कुर्युर्वचो मम ॥ ३ ॥

जिन राक्षसों को मैंने (छाँट कर) भेजा है, वे मेरे विश्वासपात्र हैं और उनका मुझमें पूर्ण अनुराग होने के कारण, वे मेरे सदा हित चाहने वाले हितैषी हैं। वे किसी के मारने पर भी, मारे नहीं जा सकते और न मेरी आज्ञा टाल सकते हैं (अर्थात् न तो उनके मारे जाने की मुझे शङ्का है और न मुझे उनके वहाँ न जाने का सन्देह ही है) ॥ ३ ॥

किमेतच्छ्रोतुमिच्छामि कारणं यत्कृते पुनः ।
हा नाथेति विनर्दन्ती सर्पवद्वेष्टसे* क्षितौ ॥ ४ ॥

यह क्या बात है और इसका क्या कारण है, जो तू फिर "हा नाथ" कह कर चिल्लाती हुई साँप की तरह ज़मीन पर लोट रही है। मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

अनाथवद्विलपसि नाथे तु मयि संस्थिते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ मा भैषीर्वैक्लव्यं[1] त्यज्यतामिह ॥ ५ ॥

अरे जब मैं तेरा रक्षक मौजूद हूँ, तब तू अनाथ की नाईं विलाप क्यों करती है उठ! उठ! डर मत और कातरता त्याग दे अर्थात् अधीर मत हो ॥ ५ ॥

---

१ भक्ताः—विश्वासभाजः। (गो०) २ वैक्लव्यं—कातर्यं। (गो०)

* पाठान्तरे—" सर्पवल्लुठसि "।

इत्येवमुक्ता दुर्धर्षा खरेण परिसान्त्विता ।
विमृज्य नयने सास्रे खरं भ्रातरमब्रवीत् ॥ ६ ॥

जब खर ने इस प्रकार उस दुर्धर्षा को धीरज बंधाया, तब वह आंसुओ को पोंछ कर, अपने भाई खर से कहने लगी ॥ ६ ॥

अस्मीदानीमहं प्राप्ता हृतश्रवणनासिका ।
शोणितौघपरिक्लिन्ना त्वया च परिसान्त्विता ॥ ७ ॥

हे खर ! नाक और कानों से हीन, और लोहू से तरवतर, मैं जब (पहले) तेरे पास आयी थी, तब तूने धीरज बंधा कर ॥ ७ ॥

प्रेषिताश्च त्वया वीर राक्षसास्ते चतुर्दश ।
निहन्तुं राघवं क्रोधान्मत्प्रियार्थं सलक्ष्मणम् ॥ ८ ॥

और क्रुद्ध हो कर, चौदह राक्षस मेरे सन्तोषार्थ, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र का वध करने को भेजे थे ॥ ८ ॥

ते तु रामेण सामर्षाः शूलपट्टिशपाणयः ।
समरे निहताः सर्वे सायकैर्मर्मभेदिभिः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र ने मर्मभेदी पैने बाणों से शूल पटा आदि हाथों में लिये हुए और क्रोध में भरे हुए उन चौदहों राक्षसों को युद्ध में मार डाला ॥ ९ ॥

तान्दृष्ट्वा पतितान्भूमौ क्षणेनैव महाबलान् ।
रामस्य च महत्कर्म महांस्त्रासोऽभवन्मम ॥ १० ॥

उन महाबली राक्षसों का एक क्षण ही में पृथिवी पर गिरना (अर्थात् मरना) तथा श्रीरामचन्द्र के इस महत् कर्म को देख, मुझे बड़ा डर लगा ॥ १० ॥

अहमस्मि समुद्विग्ना[1] विषण्णा[2] च निशाचर।
शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतोभयदर्शिनी॥ ११॥

हे निशाचर! मैं भयभीत, और दुखी हूँ और हर ओर मुझे भय ही भय देख पड़ता है। इसीसे पुनः तेरे शरण आयी हूँ॥ ११॥

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि।
किं मां न त्रायसे मग्नां विपुले शोकसागरे॥ १२॥

विषाद रूप मगरों से पूर्ण और त्रास रूपी लहरों से युक्त महासागर में, मैं डूब रही हूँ। सो मुझे तू क्यों नहीं बचाता?॥ १२॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितैः शरैः।
येऽपि मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः॥ १३॥

जो मांसभक्षी हिमायती राक्षस तूने मेरे साथ भेजे थे। वे श्रीराम के पैने बाणों से मार डाले जा कर ज़मीन में पड़े हैं॥ १३॥

मयि ते यद्यनुक्रोशो यदि रक्षःसु तेषु च।
रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर॥ १४॥

यदि मेरे ऊपर और उन राक्षसों के ऊपर तुझे दया हो और श्रीराम के साथ युद्ध करने की तुझमें शक्ति और तेज अर्थात् पराक्रम हो;॥ १४॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि राक्षसकण्टकम्।
यदि रामं ममामित्रं न त्वमद्य वधिष्यसि॥ १५॥

तो दण्डकारण्यवासी राक्षसों के इस कण्टक अर्थात् शत्रु को मार डाल। यदि आज ही तू मेरे शत्रु राम को नहीं मार डालेगा;॥ १५॥

---

1 समुद्विग्ना—भीता। (गो०) 2 विषण्णा—दुःखिता। (गो०)

तव चैवाग्रतः प्राणांस्त्यक्ष्यामि निरपत्रपा।
बुद्ध्याहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥ १६ ॥

स्थातुं प्रतिमुखे शक्तः सबलश्च महात्मनः।
शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥ १७ ॥

तो मैं तेरे सामने ही लाज छोड़, अपने प्राण दे दूँगी। क्योंकि, मैं यह जानती हूँ कि, तू श्रीरामचन्द्र के साथ युद्ध में बड़ी भारी सेना को साथ ले कर भी नहीं ठहर सकता। तू अपने को शूर समझे हुए बैठा है, पर वास्तव में तू शूर है नहीं और तू अपने पराक्रम की जो डींगे मारता है, वे सब झूठी हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥

मानुषौ यौ न शक्नोषि हन्तुं तौ रामलक्ष्मणौ।
रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥ १८ ॥

क्योंकि तू उन दो मनुष्यों अर्थात् श्रीराम और लक्ष्मण को भी नहीं मार सकता। अगर तुझमें श्रीराम के साथ युद्ध करने की शक्ति और तेज नहीं है; ॥ १८ ॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि तं कुलपांसन।
निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य वासस्ते कीदृशस्त्विह ॥ १९ ॥

तो हे कुलाधम! तू दण्डकारण्य में बसना छोड़ कर, चला जा। क्योंकि तुझ जैसा निःसत्व और निर्बल यहाँ कैसे रह सकता है ॥१९॥

अपयाहि जनस्थानात्त्वरितः सहबान्धवः।
रामतेजोभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि ॥ २० ॥

तू शीघ्र अपने कुटुम्ब को साथ ले, जनस्थान से चला जा। नहीं तो तू श्रीरामचन्द्र के तेज से पराजित हो, शीघ्र ही मारा जायगा ॥ २० ॥

स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्मजः ।
भ्राता चास्य महावीर्यो येन चास्मि विरूपिता ॥ २१ ॥

क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र एक तेजस्वी पुरुष हैं और उनका भाई भी, जिसने मेरी नाक और कान काटे, बड़ा पराक्रमी है ॥ २१ ॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी विततोदरी[1] ।
भ्रातुः समीपे दुःखार्ता नष्टसंज्ञा बभूव ह ।
कराभ्यामुदरं हत्वा रुरोद भृशदुःखिता ॥ २२ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार वह बड़े पेटवाली राक्षसी बहुत भाँति विलाप कर, भाई के निकट, शोकाकुल हो, मूर्छित हो गयी और फिर होश में आ, अत्यन्त दुःखी हो, दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर, रोने लगी ॥ २२ ॥

अरण्यकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

द्वाविंशः सर्गः

—:*:—

एवमाधर्षितः शूरः शूर्पणख्या खरस्तदा ।
उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

जब शूर्पणखा ने खर को धिक्कारा, तब वह शूर, राक्षसों के बीच (शूर्पणखा से) ये कठोर वचन बोला ॥ १ ॥

---

१ विततोदरी—विस्तृतोदरी । (गो०)

त्वद्धर्षणप्रभवः क्रोधोऽयमतुलो मम ।
न शक्यते धारयितुं लवणाम्भ[1] इवोत्थितम् ॥ २ ॥

हे शूर्पणखे ! तेरा अपमान होने से मेरे मन में जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह अतुल क्रोध मुझसे वैसे ही नहीं सम्हाला जाता, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र अपने जल के वेग को नहीं सम्हाल सकता ॥ २ ॥

न रामं गणये वीर्यान्मानुषं क्षीणजीवितम् ।
आत्मदुश्चरितैः प्राणान्हतो योऽद्य विमोक्ष्यति ॥ ३ ॥

मैं अपने बल के सामने मरणोन्मुख मनुष्य शरीरधारी श्रीराम को, कुछ भी नहीं गिनता । उसने जो कुकर्म किया है, उससे उसे आज ही अपने प्राण त्यागने पड़ेंगे ॥ ३ ॥

बाष्पः संह्रियतामेष सम्भ्रमश्च विमुच्यताम् ।
अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥

अब तू अपना रोना धोना बंद कर, व्याकुलता को त्याग दे । श्रीराम को, उसके भाई सहित मैं यमपुरी भेजता हूँ ॥ ४ ॥

परश्वध[2]हतस्याद्य मन्दप्राणस्य संयुगे ।
रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ ५ ॥

हे राक्षसी ! युद्ध में कुठार से काटे गये और अधमरे श्रीराम के गर्मागर्म और लाल लाल लोहू को तू पीना ॥ ५ ॥

सा प्रहृष्टा वचः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्च्युतम् ।
प्रशशंस पुनर्मौर्ख्याद्भ्रातरं रक्षसां वरम् ॥ ६ ॥

---

१ लवणाम्भ इवोत्थितम्—लवण समुद्रःउल्वणं पर्वोत्थितं स्ववेगमिव । (शि०) २ परश्वधः—कुठारः । (गो०)

खर के मुख से निकले हुए इन वचनों को सुन, शूर्पणखा बहुत प्रसन्न हो गयी और मूर्खतावश राक्षसश्रेष्ठ खर की पुनः प्रशंसा करने लगी ॥ ६ ॥

तया परुषितः पूर्वं पुनरेव प्रशंसितः ।
अब्रवीद्दूषणं नाम खरः सेनापतिं तदा ॥ ७ ॥

इस प्रकार पहिले धिक्कारा हुआ और पीछे प्रशंसित खर, अपने सेनापति दूषण से बोला ॥ ७ ॥

चतुर्दश सहस्राणि मम चित्तानुवर्तिनाम् ।
रक्षसां भीमवेगानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥
नीलजीमूतवर्णानां घोराणां क्रूरकर्मणाम् ।
लोकहिंसाविहाराणां बलिनामुग्रतेजसाम् ॥ ९ ॥
तेषां शार्दूलदर्पाणां महास्यानां महौजसाम् ।
सर्वोद्योगमुदीर्णानां[1] रक्षसां सौम्य कारय ॥ १० ॥

हे सौम्य ! मेरे मन के अनुसार काम करने वाले, अति वेगवान्, युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले, काले मेघों के समान वर्ण वाले घोर रूप धारी, क्रूरकर्मा, और लोगों की हत्या कर के सदा खेलने वाले, बलवान्, उग्रतेजधारी, शार्दूल की तरह दर्प वाले, विकृत मुख वाले, बड़े पराक्रमी, युद्ध के सब कार्यों में गर्वीले चौदह हज़ार राक्षसों को लड़ने के लिये तैयार करो ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

उपस्थापय मे क्षिप्रं रथं सौम्य धनूंषि च ।
शरांश्चित्रांश्च खड्गश्च शक्तीश्च विविधाः शिताः ॥११॥

---

१ उदीर्णानां — गर्वितानां । (गो०)

और हे सौम्य ! मेरे रथ को धनुष को, विचित्र बाणों को, पैनी पैनी अनेक तलवारों तथा शक्तियों को ला कर, शीघ्र उपस्थित करो ॥ ११ ॥

अग्रे निर्यातुमिच्छामि पौलस्त्यानां महात्मनाम् ।
वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविदः ॥ १२ ॥

हे रणपण्डित ! मैं, इन पुलस्त्य कुलोद्भव महानुभाव राक्षसों के आगे आगे, उस दुष्ट राम को मारने के लिये, प्रस्थान करना चाहता हूँ ॥ १२ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम् ।
सदश्वैः शवलैर्युक्तमाचचक्षेऽथ दूषणः ॥ १३ ॥

खर के ये वचन सुन, दूषण ने सूर्य की तरह चमचमाते रथ में, चितकबरे घोड़े जोत कर, उसे खर के सामने ला खड़ा किया ॥१३॥

तं मेरुशिखराकारं तप्तकाञ्चनभूषणम् ।
हेमचक्रमसंबाधं वैदूर्यमयकूवरम् ॥ १४ ॥

खर के रथ का आकार, मेरु पर्वत जैसा था, विशुद्ध खरे सोने के आभूषणों से वह रथ सजाया गया था, रथ के पहिये भी सोने ही के थे और उसके जुए में वैदूर्य मणि (पन्ने) जड़े हुए थे ॥ १४ ॥

मत्स्यैः पुष्पैर्द्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः ।
मङ्गलैः[1] पक्षिसङ्घैश्च ताराभिरभिसंवृतम् ॥ १५ ॥

उस रथ के भीतर सोने की मछलियाँ, पुष्पित वृक्ष, पहाड़, चन्द्र, सूर्य, तारागण और तरह तरह के पक्षियों के आकार की मङ्गलकारी प्रतिमाएँ यथास्थान जड़ी हुई थीं ॥ १५ ॥

---

[1] मङ्गलैः—मङ्गलावहैः अलङ्कारकैः । (गो०)

ध्वजनिस्त्रिंश[1]सम्पन्नं किङ्किणीकविराजितम् ।
सदश्वयुक्तं सोऽमर्षादारुरोह खरो रथम् ॥ १६ ॥

रथ पर ध्वजा फहरा रही थी। उसके भीतर यथास्थान खड्गादि अस्त्र शस्त्र रखे हुए थे और छोटी छोटी घंटियाँ उसके चारों ओर लटक रही थीं। उस रथ में अच्छी जाति के घोड़े जुते हुए थे। ऐसे उत्तम रथ पर खर अत्यन्त कुपित हो सवार हुआ ॥ १६ ॥

निशाम्य तु रथस्थं तं राक्षसा भीमविक्रमाः ।
तस्थुः संपरिवार्यैनं दूषणं च महाबलम् ॥ १७ ॥

खर को रथ में बैठा देख, महापराक्रमी राक्षसों की सेना सहित दूषण भी, खर को घेर कर, जाने को तैयार हो गया ॥ १७ ॥

खरस्तु तान्महेष्वासान्घोरवर्मायुधध्वजान् ।
निर्यातेत्यब्रवीद्धृष्टो रथस्थः सर्वराक्षसान् ॥ १८ ॥

खर ने, रथ में बैठे हुए महाधनुष लिये और बड़े मजबूत जिरह-बख़्तर पहिने तथा तलवार ढाल ध्वजा आदि अनेक प्रकार के आयुधों से सज्जित सब राक्षसों से प्रसन्न हो कर, आगे बढ़ने को कहा ॥१८॥

ततस्तद्राक्षसं सैन्यं घोरवर्मायुधध्वजम् ।
निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम् ॥ १९ ॥

तब वह अस्त्र शस्त्र से सजी हुई राक्षसों की सेना, महानाद करती हुई बड़ी तेज़ी के साथ जनस्थान से रवाना हुई ॥ १९ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः सुतीक्ष्णैश्च परश्वधैः ।
खड्गैश्चक्रैश्च हस्तस्थैर्भ्राजमानैश्च तोमरैः ॥ २० ॥

---

१ निस्त्रिंशैः - खड्गादिभिः । (शि०)

उस राक्षस सैन्य के योद्धा, मुद्गर, पट्टा, पैने त्रिशूल, फरसे, तलवार, चक्र, बल्लम आदि हथियार हाथों में लिये हुए थे और उन्हें घुमाते हुए, शोभायमान हो रहे थे ॥ २० ॥

शक्तिभिः परिघैर्घोरैरतिमात्रैश्च कार्मुकैः ।
गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥ २१ ॥

शक्ति, परिघ, महाभयङ्कर धनुष, गदा, तलवार, मूसल, वज्र, आदि भयङ्कर अस्त्र शस्त्रों को धारण कर, ॥ २१ ॥

राक्षसानां सुघोराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निर्यातानि जनस्थानात्खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ २२ ॥

चौदह हज़ार भयङ्कर राक्षस, जो खर के मन के अनुसार काम किया करते थे, जनस्थान से चले ॥ २२ ॥

तांस्त्वभिद्रवतो दृष्ट्वा राक्षसान्भीमविक्रमान् ।
खरस्यापि रथः किञ्चिज्जगाम तदनन्तरम् ॥ २३ ॥

जब वे भीम विक्रमी राक्षस महावेग से चल दिये, तब उनको जाते हुए देख, खर का रथ भी कुछ अन्तर पर, उनके साथ साथ चला ॥ २३ ॥

ततस्ताञ्शबलानश्वांस्तप्तकाञ्चनभूषितान् ।
खरस्य मतिमाज्ञाय सारथिः समचोदयत् ॥ २४ ॥

सारथी ने खर की आज्ञा से उन चितकबरे घोड़ों को जिन पर सोने का साज कसा हुआ था, हाँका ॥ २४ ॥

स चोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुघातिनः ।
शब्देनापूरयामास दिशश्च प्रदिशस्तदा ॥ २५ ॥

उस समय शत्रुघाती खर का चलता हुआ रथ, अपने चलने के शब्द से दिशाओं और विदिशाओं को नादित करता हुआ, चला ॥२८॥

प्रवृद्धमन्युस्तु खरः खरस्वनो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथाऽन्तकः ।
अचूचुदत्सारथिमुन्नदन्घनं
महाबलो मेघ इवाश्मवर्षवान् ॥ २६ ॥

इति द्वाविंशः सर्ग ॥

वह अति बलवान् उच्च स्वर वाला खर, अत्यन्त क्रुद्ध हो, यमराज की तरह, शत्रु के वध के लिये शीघ्रता के साथ, ओले बरसाने वाले मेघ की तरह गरजता हुआ, सारथी से बोला कि, रथ शीघ्र हाँको ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयोविंशः सर्गः

—:*:—

* तं प्रयान्तं जनस्थानादशिवं शोणितोदकम्[1] ।
अभ्यवर्षन्महामेघस्तुमुलो गर्दभारुणः ॥ १ ॥

जब जनस्थान से वह राक्षससैन्य युद्ध के लिये रवाना हुई, तब गधे के शरीर जैसे धूसर रंग के महामेघों ने खून जैसे लाल रंग का अमङ्गलसूचक जल बरसाया ॥ १ ॥

---

१ शोणितोदकम्—रक्तवर्णजलं । (गो०)

* पाठान्तरे—" तस्मिन्याते "

निपेतु[१]स्तुरगास्तस्य रथयुक्ता[२] महाजवाः ।
समे पुष्पचिते[३] देशे राजमार्गे यदृच्छया[४] ॥ २ ॥

खर के रथ में जो तेज़ चलने वाले घोड़े जुते हुए थे, वे चलते चलते राजमार्ग पर, जिस पर फूल बिछे हुए थे और जो समथर था, दैवयोग से गिर पड़े ॥ २ ॥

श्यामं रुधिरपर्यन्तं[५] बभूव परिवेषणम् ।
अलातचक्रप्रतिमं परिगृह्य[६] दिवाकरम् ॥ ३ ॥

सूर्य के चारों ओर श्याम वर्ण का घेरा बन गया, इस घेरे का बाहिरी भाग लाल रङ्ग का था ॥ ३ ॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रितम्[७] ।
समाक्रम्य महाकायस्तस्थौ गृध्रः सुदारुणः ॥ ४ ॥

एक बड़े डील डौल का और भयङ्कर गीध, रथ की ऊँची ध्वजा पर, जिसकी डंडी सोने की थी, चक्कर लगा कर, बैठ गया ॥४॥

जनस्थानसमीपे तु समागम्य खरस्वनाः[८] ।
विस्वरा[९]न्विविधांश्चक्रुर्मांसादा मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

जनस्थान के निकट जा, मांस-भक्षी एवं विकट शब्दकारी पशुपक्षी भयङ्कर शब्द कर, चिल्लाने लगे ॥ ५ ॥

---

१ निपेतुः—स्खलिताः । (गो०) २ रथयुक्ताः—रथेबद्धाः । (गो०) ३ पुष्पचिते—पुष्पैर्निबिडे । (गो०) ४ यदृच्छया—दैवगत्या । (गो०) ५ पर्यन्ते—प्रान्ते । (गो०) ६ परिगृह्य—परितोव्याप्य । (गो०) ७ समुच्छ्रितं—उन्नतं । (गो०) ८ खरस्वनाः—परुषस्वनाः । (गो०) ९ विस्वरान्—विकृतस्वरान् (गो०) ।

व्याजह्रुश्च प्रदीप्तायां दिशि वै भैरवस्वनम् ।
अशिवं यातुधानानां शिवा[1]घोरा महास्वनाः ॥ ६ ॥

भयानक सियार सूर्य की ओर मुख कर, राक्षसों के लिये अमङ्गल सूचक भयङ्कर शब्द कर, चिल्लाने लगे ॥ ६ ॥

प्रभिन्न[2]गिरिसङ्काशास्तोयशोणितधारिणः ।
आकाशं तदनाकाशं चक्रुर्भीमा बलाहकाः ॥ ७ ॥

इन्द्र द्वारा काटे हुए पर वाले पर्वतों की तरह बड़े बड़े मेघ, जिन में लाल रंग का जल भरा हुआ था, आकाश में छा गये। अर्थात् लाल लाल रंग के बड़े बड़े बादलों से आकाश छिप गया ॥ ७ ॥

बभूव तिमिरं घोरमुद्धतं रोमहर्षणम् ।
दिशो वा विदिशो वाऽपि न च व्यक्तं चकाशिरे ॥ ८ ॥

उस समय ऐसा रोमाञ्चकारी और घोर अन्धकार छा गया कि, दिशाएँ और विदिशाएँ ढप गयीं थीं और कुछ भी नहीं सूझ पड़ता था ॥ ८ ॥

क्षतजार्द्र[3]सवर्णाभा सन्ध्या कालं विना बभौ ।
खरस्याभिमुखा नेदुस्तदा घोरमृगाः खगाः ॥ ९ ॥

सूर्यास्त का समय न होने पर भी खून से भींगे कपड़े की तरह, लाल सन्ध्या हुई जान पड़ने लगी। भयङ्कर पशु पक्षी खर की ओर मुँह कर, भयङ्कर स्वर से चिल्लाने लगे ॥ ९ ॥

कङ्क[4]गोमायुगृध्राश्च चुक्रुशुर्भयशंसिनः ।
नित्याशिवकरा* युद्धे शिवा घोरनिदर्शनाः ॥ १० ॥

---

१ शिवाः—सृगालाः। (गो०) २प्रभिन्नाः—इन्द्रच्छिन्नपक्षाः (गो०) ३ क्षतजार्द्र—क्षतजेन रक्तेनार्द्रं संसिक्तं यत् पटादिकं तत्तुल्याभा। (गो०) ४कङ्काः—स्थूलकायाः, भयङ्कराः। (गो०) * पाठान्तरे—"शुभकरा"।

भयङ्कर सियार और गीध. स्वर के हृदय को दहलाने वाले उच्च स्वर से शब्द करने लगे। युद्ध में जिनका बोलना सदा अपशकुन सूचक माना गया है, ऐसी सियारनें भी भय उपजाती हुई ॥ १० ॥

नेदुर्बलस्याभिमुखं ज्वालोद्गारिभिराननैः ।
कबन्ध[1] परिघाभासो[2] दृश्यते भास्करान्तिके ॥ ११ ॥

सेना के सामने मुख से आग उगलती हुई, घोर चीत्कार करने लगीं। सूर्य के निकट परिघ (लोहे का डंडा) की तरह पुच्छल तारा देख पड़ा ॥ ११ ॥

जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः ।
प्रवाति मारुतः शीघ्रंनिष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः ॥ १२ ॥

ग्रहण लगने का समय न होने पर भी राहु ने सूर्य को ग्रस लिया। हवा भी बड़े वेग से चलने लगी। सूर्य प्रभाहीन हो गया ॥ १२ ॥

उत्पेतुश्च विना रात्रिं ताराः खद्योतसप्रभाः ।
संलीनमीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः ॥ १३ ॥

रात न होने पर भी जुगुनू की तरह आकाश में तारे चमकने लगे। मछलियां जल के भीतर और पक्षी पेड़ों के पतों में जा छिपे। तालावों के कमल सूख गये ॥ १३ ॥

तस्मिन्क्षणे बभूवुश्च विना पुष्पफलैर्द्रुमाः ।
उद्धूतश्च विना वातं रेणुर्जलधरारुणः ॥ १४ ॥

उस समय वहां के पेड़ों के फूल और फल अपने आप गिर पड़े। विना पवन के अंधड़ उठा। बादलों का रंग लाल हो गया ॥१४॥

---

[1] कबन्धो—धूमकेतुः। (रा०) [2] परिघ—आयुधविशेष। (रा०)

वीचीकूचीति वाश्यन्त्यो बभूवुस्तत्र शारिकाः ।
उल्काश्चापि सनिर्घाता निपेतुर्घोरदर्शनाः ॥ १५ ॥

मैना (पक्षी) चीं चीं चूं चूं करने लगीं; कड़ कड़ शब्द के साथ भयङ्कर उल्कापात होने लगे ॥ १५ ॥

प्रचचाल मही सर्वा सशैलवनकानना ।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः ॥ १६ ॥

वन और पर्वतों के सहित पृथिवी कांप उठी । जब धीमान् खर रथ में बैठा हुआ, गरजने लगा ॥ १६ ॥

प्राकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत ।
सास्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः ॥ १७ ॥

तब उसकी वाम भुजा फड़की । उसका स्वर बिगड़ गया । इधर उधर देखते हुए खर के नेत्रों से आंसू निकल पड़े ॥ १७ ॥

ललाटे च रुजा जाता न च मोहान्न्यवर्तत ।
तान्समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान्रोमहर्षणान् ॥ १८ ॥

उसके माथे में दर्द होने लगा । तो भी मोहवश वह युद्ध-क्षेत्र में जाने से न रुका । प्रत्युत इन सब रोमाञ्चकारी महाउत्पातों को होते हुए देख कर भी, ॥ १८ ॥

अब्रवीद्राक्षसान्सर्वान्प्रहसन्स खरस्तदा ।
महोत्पातानिमान्सर्वानुत्थितान्घोरदर्शनान् ॥ १९ ॥
न चिन्तयाम्यहं वीर्याद्बलवान्दुर्बलानिव ।
तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयामि नभःस्थलात् ॥ २० ॥

वह खर हँसता रहा और सब राक्षसों से बोला—इन सब भयङ्कर उत्पातों को मैं अपने पराक्रम के समाने वैसे ही कुछ भी नहीं गिनता जैसे बलवान् पुरुष अपने सामने निर्बल पुरुष को कुछ भी नहीं समझता। मैं तो अपने पैने तीरों से तारों को आकाश से गिरा सकता हूँ॥ १९॥ २०॥

मृत्युं मरणधर्मेण संक्रुद्धो योजयाम्यहम्।
राघवं तं बलोत्सिक्तं भ्रातरं चास्य लक्ष्मणम्॥ २१॥

और क्रुद्ध होने पर मृत्यु को भी मार सकता हूँ। अब तो मैं अपने को बलवान् समझने वाले श्रीरामचन्द्र और उनके भाई लक्ष्मण को॥ २१॥

अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे।
सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः॥ २२॥

पैने बाणों से बिना मारे मैं लौट नहीं सकता। मेरी बहिन उन दोनों का रक्तपान कर, सफल मनोरथ होवे,॥ २२॥

यन्निमित्तस्तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः।
न क्वचित्प्राप्तपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः॥ २३॥

जिसके लिये श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की बुद्धि उल्टी हो गयी। आज तक मैं कभी किसी युद्ध में पराजित नहीं हुआ॥ २३॥

युष्माकमेतत्प्रत्यक्षं नानृतं कथयाम्यहम्।
देवराजमपि क्रुद्धो मत्तैरावतयायिनम्॥ २४॥
वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ कुमानुषौ।
सा तस्य गर्जितं श्रुत्वा राक्षसस्य महाचमूः॥ २५॥

यह बात तुम सब लोगों को मालूम ही है! इसमें मैं मिथ्या कुछ भी नहीं कह रहा हूँ। मैं तो क्रुद्ध हो, मत्त ऐरावत पर सवार होकर, चलने वाले और वज्रधारी देवराज को भी युद्ध में मार सकता हूँ। फिर इन दो दुष्ट मनुष्यों का मारना मेरे लिये कौन बड़ी बात है। इस प्रकार खर का गर्जन तर्जन सुन कर, वह राक्षसों की बड़ी सेना ॥ २४ ॥ २५ ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता ।
समीयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

जो मरणोन्मुखी थी, अत्यन्त हर्षित हुई। उधर युद्ध देखने के लिये महात्मा लोग आये ॥ २६ ॥

ऋषयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।
समेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २७ ॥

उन आने वालों में ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारणादि और भी अन्य पुण्यात्मा जन वहाँ एकत्र हो कर, कहने लगे ॥ २७ ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः[1] ।
जयतां राघवः संख्ये पौलस्त्यान्रजनीचरान् ॥ २८ ॥
चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान् ।
एतच्चान्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः परमर्षयः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार सुदर्शन चक्र से भगवान् विष्णु ने समस्त श्रेष्ठ दैत्यों का वध किया था—उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इन पुलस्त्य कुलोद्भव राक्षसों को जीत कर गौओं, ब्राह्मणों तथा भगवद्भक्तों का मङ्गल करें। परमर्षियों ने ऐसे तथा और भी अनेक प्रकार के वचन आपस में कहे ॥ २८ ॥ २९ ॥

---

१ अभिसङ्गताः—अनुकूलाः। (गो०)

जातकौतूहलास्तत्र विमानस्थाश्च देवताः ।
दद्दशुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥ ३० ॥

कुतूहलवश विमानों में बैठे हुए देवता गण, गतायु राक्षसों की सेना को देखने लगे ॥ ३० ॥

रथेन तु खरो वेगादुग्रसैन्यो विनिःसृतः ।
तं दृष्ट्वा राक्षसं भूयो राक्षसाश्च विनिःसृताः ॥ ३१ ॥

खर सेना के आगे अपना रथ ले गया । उसको आगे जाते देख, राक्षस भी उसके साथ आगे बढ़े ॥ ३१ ॥

श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ।
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ॥ ३२ ॥
मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ।
द्वादशैते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ॥ ३३ ॥

उस समय उसको घेर कर बारह बड़े पराक्रमी राक्षस चले । उन राक्षसों के नाम थे १ श्येनगामी, २ पृथुग्रीव, ३ यज्ञशत्रु, ४ विहङ्गम ५ दुर्जय, ६ करवीराक्ष, ७ परुष, ८ कालकार्मुक, ९ मेघमाली, १० महामाली, ११ सर्पास्य और १२ रुधिराशन ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी त्रिशिरास्तथा ।
चत्वार एते सेनान्यो दूषणं पृष्ठतो ययुः ॥ ३४ ॥

महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथी और त्रिशिरा; ये चार सेनापति दूषण के पीछे पीछे चले जाते थे ॥ ३४ ॥

सा भीमवेगा समराभिकामा
महाबला राक्षसवीरसेना ।

तौ राजपुत्रौ सहसाऽभ्युपेता
माला ग्रहाणामिव चन्द्रसूर्यौ ॥ ३५ ॥

इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार ग्रहों की माला सूर्य और चन्द्रमा को घेरती हैं, उसी प्रकार भयङ्कर वेगवाली और युद्ध की अभिलाषा रखने वाली राक्षसों की महाबलवती वीर सेना ने सहसा जा कर, राजकुमारों को घेर लिया ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चतुर्विंशः सर्गः

—*—

आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे ।
तानेवौत्पातिकान्रामः सह भ्रात्रा ददर्श ह ॥ १ ॥

जब कठोर पराक्रमी खर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम की ओर चला, तब उसके चलने के समय जो अपशकुन अथवा अमङ्गल सूचक उत्पात हुए थे, उन्हें श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने देखा ॥ १ ॥

तानुत्पातान्महाघोरानुत्थितान्रोमहर्षणान् ।
प्रजानामहितान्दृष्ट्वा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

उन रोमाञ्चकारी घोर उत्पातों को, जो प्रजाजनों के लिये अहितकारी थे, देख कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ २ ॥

इमान्पश्य महाबाहो सर्वभूतापहारिणः ।
समुत्थितान्महोत्पातान्संहर्तुं सर्वराक्षसान् ॥ ३ ॥

हे महाबाहो ! देखो, ये सब प्राणिनाशक उत्पात, राक्षसकुल का संहार करने के लिये हो रहे हैं ॥ ३ ॥

अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्तः खरस्वनान् ।
व्योम्नि मेघा विवर्तन्ते[1] परुषा गर्दभारुणाः ॥ ४ ॥

गधे के समान, मटमैले रंग वाले बादल, आकाश में इधर उधर दौड़ कर, भयङ्कर शब्द के साथ, रुधिर बरसा रहे हैं ॥ ४ ॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम युद्धाभिनन्दिनः ।
रुक्मपृष्ठानि चापानि[2] विवेष्टन्ते* च लक्ष्मण ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो मेरे बाणों से धुआं निकल रहा है, मानों युद्ध होने का ये आनन्द मना रहे हैं। और सुवर्ण से भूषित पीठ वाले धनुष चलायमान हो रहे हैं ॥ ५ ॥

यादृशा[3] इह कूजन्ति पक्षिणो वनचारिणः ।
अग्रतो नो भयं प्राप्तं संशयो जीवितस्य च ॥ ६ ॥

इन वनचारी पक्षियों के इस प्रकार बोलने से, ऐसा जान पड़ता कि, शीघ्र ही भय उपस्थित होने वाला है। यही क्यों, प्रत्युत प्राणसङ्कट मालूम होता है ॥ ६ ॥

संप्रहारस्तु[4] सुमहान्भविष्यति न संशयः ।
अयमाख्याति मे बाहुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

---

१ विवर्तन्ते—संचरन्ति । (गो०) २ विवेष्टन्ते—चलन्ति । (गो०) ३ यादृशाः—प्रसिद्धाः । (गो०) ४ संप्रहारः—युद्धं । (गो०)

* पाठान्तरे—"विवर्तन्ते" ।

निस्सन्देह महासमर होगा। किन्तु मेरे दक्षिण बाहु का बार बार फड़कना यह बतलाता है कि, ॥ ७ ॥

सन्निकर्षे तु नः शूर जयं शत्रोः पराजयम्।
सप्रभं च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते ॥ ८ ॥

हे शूर! शीघ्र ही मेरा विजय और शत्रुओं का पराजय होने वाला है। (इस अनुमान की पुष्टि इससे भी हो रही है कि,) तुम्हारा मुख कान्तिमय और हर्षित देख पड़ता है ॥ ८ ॥

उद्यतानां हि युद्धार्थं येषां भवति लक्ष्मण।
निष्प्रभं वदनं तेषां भवत्यायुःपरिक्षयः ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण! युद्ध के लिये उद्यत पुरुषों का मुख यदि प्रभाहीन देख पड़े तो जानना चाहिये कि, उनकी आयु क्षीण हो चुकी है अर्थात् युद्ध में वे अवश्य मारे जायँगे ॥ ९ ॥

रक्षसां नर्दतां घोरः श्रूयते च महाध्वनिः।
आहतानां च भेरीणां राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ १० ॥

राक्षसों के गर्जने की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है और क्रूरकर्मा राक्षसों के मारू बाजों की भी कैसी महाध्वनि सुनाई दे रही है ॥ १० ॥

अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता।
आपदं शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥ ११ ॥

पण्डित और आपत्ति की शङ्का करने वाले पुरुष को, अपने कल्याण की कामना के लिये, पहिले ही से विपत्ति का प्रतिकार करना चाहिये ॥ ११ ॥

तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः ।
गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसङ्कुलाम् ॥ १२ ॥

अतएव हाथ में धनुष बाण ले तथा सीता जी को साथ ले, तुम वृक्षों की झुरमुट में छिपी हुई किसी दुर्गम पर्वत कन्दरा में शीघ्र जा बैठो ॥ १२ ॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया ।
शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम् ॥ १३ ॥

मैं यह नहीं चाहता कि, तुम मेरे कथन के प्रतिकूल कुछ कहो। हे वत्स ! तुम्हें मेरे चरणों की शपथ है। तुम शीघ्र जानकी को ले कर, गिरिकन्दरा में चले जाओ ॥ १३ ॥

त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या ह्येतान्न संशयः ।
स्वयं तु हन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान् ॥ १४ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि, तुम शूर हो और बलवान हो और इन सब राक्षसों का वध कर सकते हो। किन्तु मैं स्वयं ही इन सब राक्षसों को मारना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया ।
शरानादाय चापं च गुहां दुर्गां समाश्रयत् ॥ १५ ॥

जब श्रीराम ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी अपने साथ सीताजी को ले और हाथ में धनुर्बाण धारण कर, पर्वत की एक दुर्गम गुफा में चले गये ॥ १५ ॥

तस्मिन्प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणे सह सीतया ।
हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचमाविशत् ॥ १६ ॥

जब सीता जी को साथ ले लक्ष्मण जी गिरिगुहा में चले गये। तब श्रीरामचन्द्र जी इस बात से कि, लक्ष्मण ने उनका कहना मान लिया, प्रसन्न हुए और उन्होंने कवच (जिरह बख़्तर) धारण किया ॥ १६ ॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः।
बभूव रामस्तिमिरे विधूमोऽग्निरिवोत्थितः ॥ १७ ॥

अग्नि की तरह चमचमाते कवच को धारण करने से, श्रीरामचन्द्र जी उसी प्रकार शोभित हुए, जिस प्रकार अन्धकार में प्रज्ज्वलित अग्नि की ज्वाला शोभित होती है ॥ १७ ॥

स चापमुद्यम्य महच्छरानादाय वीर्यवान्।
बभूवावस्थितस्तत्र ज्यास्वनैः पूरयन्दिशः ॥ १८ ॥

तदनन्तर वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी धनुष को उठा, बाणों को ले, धनुष के रोदे की टंकार से दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुए, खड़े हो गये ॥ १८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः।
समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ १९ ॥

इसके अनन्तर युद्ध देखने की इच्छा से देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण और महात्मा लोग एकत्र हुए ॥ १६ ॥

ऋषयश्च महात्मानो लोके ब्रह्मर्षिसत्तमाः।
समेत्य चोचुः सहिता अन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २० ॥

महात्मा ऋषि तथा लोकप्रसिद्ध ब्रह्मर्षि तथा अन्य पुण्यात्मा जन एकत्र हो आपस में कहने लगे ॥ २० ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः ।
जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान्रजनीचरान् ॥ २१ ॥

गौ, ब्राह्मण, और साधुओं का मङ्गल हो और श्रीरामचन्द्र जी युद्ध में पुलस्त्यवंशी निशाचरों को (उसी प्रकार) जीतें ॥ २१ ॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुङ्गवान् ।
एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परस्परम् ॥ २२ ॥

जिस प्रकार हाथ में चक्र ले, विष्णु भगवान ने सब श्रेष्ठ असुरों को जीता था । यह कह कर और आपस में एक दूसरे को देख, वे लोग फिर कहने लगे ॥ २२ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥ २३ ॥

इन चौदह हज़ार भीमकर्मा राक्षसों के साथ अकेले श्रीरामचन्द्र कैसे युद्ध कर सकेंगे ॥ २३ ॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विजर्षभाः ।
जातकौतूहलास्तस्थुर्विमानस्थाश्च देवताः ॥ २४ ॥

राजर्षि, सिद्ध, परिकर सहित ब्राह्मणश्रेष्ठ और विमानों में बैठे देवता गण, कौतूहलाक्रान्त हो, वहाँ उपस्थित थे ॥ २४ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि[1] स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयाद्विव्यथिरे तदा ॥ २५ ॥

उस समय तेजस्वी और संग्राम के लिये तैयार श्रीरामचन्द्र जी को खड़ा देख, प्राणि मात्र ही त्रस्त हो, दुःखी हुए ॥ २५ ॥

---

१ संग्रामशिरसि—युद्धाग्रे । (गो०)

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
बभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव पिनाकिनः ॥ २६ ॥

क्योंकि उस समय क्लेश रहित कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी का अनुपम रूप ऐसा देख पड़ता था, जैसा क्रुद्ध और धनुषधारी रुद्र का रूप होता है ॥ २६ ॥

इति संभाष्यमाणे तु देवगन्धर्वचारणैः ।
ततो गम्भीरनिर्ह्रादं घोरवर्मायुधध्वजम् ॥ २७ ॥
अनीकं यातुधानानां समन्तात्प्रत्यदृश्यत ।
सिंहनादं विसृजतामन्योन्यमभिगर्जताम्[1] ॥ २८ ॥

देवता, गन्धर्व और चारण इस प्रकार आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में महागम्भीर शब्द करती तथा कवच, आयुध धारण किये तथा ध्वजा फहराती हुई राक्षसों की सेना चारों ओर से आती हुई देख पड़ी। उस सेना में राक्षस वीर सिंहनाद कर रहे थे और आपस में कह रहे थे कि, हम शत्रु को मारेंगे, हम शत्रु को मारेंगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

चापानि विस्फारयतां जृम्भतां चाप्यभीक्ष्णशः ।
विप्रघुष्टस्वनानां च दुन्दुभींश्चापि निघ्नताम् ॥ २९ ॥

उनमें से कोई कोई अपने धनुषों को बार बार टंकोरते थे। कोई कोई जंभाई लेते थे और कोई कोई उच्च स्वर से चिल्लाते थे और कोई कोई नगाड़ों को बजाते थे ॥ २९ ॥

तेषां सुतुमुलः शब्दः पूरयामास तद्वनम् ।
तेन शब्देन वित्रस्ताः श्वापदा वनचारिणः ॥ ३० ॥

---

१ अन्योन्यमभिगर्जतः—अहमेव शत्रुं हनिष्यामि इति जल्पताम् । (गो०)

उन राक्षसों ने ऐसा घोर शब्द किया कि, वह बन उस शब्द से प्रतिध्वनित होने लगा और उस शब्द को सुन कर, वनचारी पशु डर गये ॥ ३० ॥

दुद्रुवुर्यत्र निःशब्दं पृष्ठतो न व्यलोकयन् ।
तत्त्वनीकं महावेगं रामं समुपसर्पत ॥ ३१ ॥

और जिस ओर वह शब्द नहीं सुन पड़ता था, उस ओर को भागे जाते थे और उनमें से कोई पीछे मुड़ कर न देखता था। इस ओर वह राक्षसी सेना बड़े वेग के साथ श्रीरामचन्द्र जी के समीप आ पहुँचा ॥ ३१ ॥

धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम् ।
रामोऽपि चारयंश्चक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥ ३२ ॥

उस सेना के योद्धा तरह तरह के हथियार लिये हुए थे। वह सेना गम्भीर समुद्र की तरह उफनती हुई आ पहुँची। तब रण-विद्या में निपुण श्रीरामचन्द्र जी ने अपने चारों ओर देखा ॥ ३२ ॥

ददर्श खरसैन्यं तद्युद्धाभिमुखमुत्थितम् ।
वितत्य च धनुर्भीमं तूण्योश्चोद्धृत्य सायकान् ॥ ३३ ॥
क्रोधमाहारयत्तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
दुष्प्रेक्षः सोऽभवत्क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, खर की सेना, लड़ने के लिये, सामने चली आती है। तब श्रीरामचन्द्र जी, अपने भयङ्कर धनुष को उठा और तरकस से बाणों को निकाल, सब राक्षसों के वध के लिये अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उस समय क्रोध में भरे श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखना उसी प्रकार दुष्कर था, जिस प्रकार प्रलयकालीन अग्नि को देखना दुष्कर होता है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तं दृष्ट्वा तेजसाऽऽविष्टं प्राद्रवन्वनदेवताः ।
तस्य क्रुद्धस्य रूपं तु रामस्य ददृशे तदा ।
दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥ ३५ ॥

तेजोयुक्त श्रीरामचन्द्र जी को देख, वनदेवता भाग खड़े हुए। उस समय क्रुद्ध हुए श्रीरामचन्द्र जी का रूप ऐसा जान पड़ता था, जैसा कि दक्षयज्ञ को विध्वंस करने को उद्यत शिव जी का रूप हो गया था ॥ ३५ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि स्थितम् ।
दृष्ट्वा सर्वाणि भूतानि भयार्तानि प्रदुद्रुवुः ॥ ३६ ॥

तेज से आविष्ट श्रीरामचन्द्र जी को युद्धार्थ खड़ा देख, सब लोग डर कर इधर उधर भाग गये ॥ ३६ ॥

तत्कार्मुकैराभरणैर्ध्वजैश्च
तैर्वर्मभिश्चाग्निसमानवर्णैः ।
बभूव सैन्यं पिशिताशनानां
सूर्योदये नीलमिवाभ्रवृन्दम् ॥ ३७ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार नीले बादल सूर्योदय काल में शोभित होते हैं उसी प्रकार राक्षससेना भी, अग्नि समान चमकते हुए कवच, धनुष, आभरण और ध्वजाओं से युक्त हो कर, शोभित हुई ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का चौवीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

पञ्चविंशः सर्गः

—*—

अवष्टब्धधनुं रामं क्रुद्धं च रिपुघातिनम् ।
ददर्शाश्रममागम्य खरः सह पुरःसरैः ॥ १ ॥

अपने साथियों सहित खर ने श्रीरामाश्रम में जा, श्रीरामचन्द्र जी को क्रुद्ध हो, हाथ में धनुष लिये और शत्रुओं का वध करने के लिये उद्यत देखा ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा सशरं चापमुद्यम्य खरनिःस्वनम् ।
रामस्याभिमुखं सूतं चोद्यतामित्यचोदयत् ॥ २ ॥

यह देख, उसने बाण सहित धनुष उठा, सारथी से उच्चस्वर से कहा कि, श्रीरामचन्द्र के सामने रथ ले चलो ॥ २ ॥

स खरस्याज्ञया सूतस्तुरगान्समचोदयत् ।
यत्र रामो महाबाहुरेको धुन्वन्स्थितो धनुः ॥ ३ ॥

खर की आज्ञा के अनुसार सारथी ने घोड़े हाँके और वह रथ वहाँ ले गया, जहाँ पर महाबाहु श्रीराम धनुष को टंकोरते हुए अकेले खड़े थे ॥ ३ ॥

तं तु निष्पतितं दृष्ट्वा सर्वे ते रजनीचराः ।
नर्दमाना महानादं सचिवाः पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

खर को श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाते देख, उसके समस्त राक्षस सैनिक और सचिव गर्जते गर्जते खर के पास जा, उसे घेर कर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः खरः ।
बभूव मध्ये ताराणां लोहिताङ्ग इवोदितः ॥ ५ ॥

तब रथ पर चढ़ा हुआ खर, राक्षसों के बीच ऐसा देख पड़ता था, जैसा कि, तारों के बीच में मङ्गल का तारा देख पड़ता है ॥५॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम् ।
अर्दयित्वा[1] महानादं ननाद समरे खरः ॥ ६ ॥

खर ने एक हज़ार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, बड़े ज़ोर से गर्जना की ॥ ६ ॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः ।
रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्षन्त दुर्जयम् ॥ ७ ॥

तब तो सब राक्षस क्रुद्ध हो, महा-धनुर्धर एवं दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर तरह तरह के शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासैः खड्गैः परश्वधैः ।
राक्षसाः समरे रामं निजघ्नू रोषतत्पराः ॥ ८ ॥

रोष में भरे राक्षस लोग उस युद्ध में, श्रीरामचन्द्र को मुद्गर, पटा, शूल, भाला, तलवार और फरसे से मारने लगे ॥ ८ ॥

ते बलाहकसङ्काशा[2] महानादा महौजसः ।
अभ्यधावन्त काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च ॥ ९ ॥
गजैः पर्वतकूटाभै रामं युद्धे जिघांसवः ।
ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजन्रक्षसां गणाः ॥ १० ॥

---

[1] अर्दयित्वा—पीडयित्वा । (गो०) [2] बलाहकसङ्काशाः—मेघतुल्याः । (गो०)

वे सब राक्षस जो बड़े बलवान और मेघ के समान गर्जने वाले थे, रथों, घोड़ों और पर्वत समान हाथियों को दौड़ा कर, श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिये उन पर बाणों की वर्षा कर, आक्रमण करने लगे ॥ ९ ॥ १० ॥

शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणा: बलाहका: ।
स तैः परिवृतो घोरै राघवो रक्षसां गणैः ॥ ११ ॥

जैसे मेघ, पर्वतों पर जल की वर्षा करते हैं, वैसे ही राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर बाणों की वर्षा की। उस समय उन भयङ्कर राक्षसों ने श्रीरामचन्द्र जी को घेर लिया ॥ ११ ॥

तानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः ।
प्रतिजग्राह[1] विशिखैर्नद्योघानिव[2] सागरः ॥ १२ ॥

राक्षसों के चलाये हुए शस्त्रों को श्रीरामचन्द्र जी ने उसी प्रकार अपने बाणों से रोका, जिस प्रकार समुद्र नदियों की धारों को रोकता है ॥ १२ ॥

स तैः प्रहरणैर्घोरैर्भिन्नगात्रो न विव्यथे ।
रामः प्रदीप्तैर्बहुभिर्वज्रैरिव महाचलः ॥ १३ ॥

उनके चलाये शस्त्रों के प्रहार से घायल हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही व्यथित न हुए, जैसे जाज्वल्यमान बहुत से वज्रों के गिरने से हिमालय पर्वत व्यथित नहीं होता ॥ १३ ॥

स विद्धः क्षतजैर्दिग्धः[3] सर्वगात्रेषु राघवः ।
बभूव रामः सन्ध्याभ्रैर्दिवाकर इवावृतः ॥ १४ ॥

---

१ प्रतिजग्राह—प्रतिरुरोध। (गो०) नद्योघान्—नदीप्रवाहान्। (गो०)
२ क्षतजदिग्धः—रुधिरालिप्तः। (गो०)

उस समय श्रीरामचन्द्र के समस्त अंगों के घायल हो जाने के कारण उनसे रुधिर के बहने से वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे सन्ध्या काल में मेघों से घिरा हुआ सूर्य जान पड़ता है ॥ १४ ॥

निषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
एकं सहस्रैर्बहुभिः[1]तदा दृष्ट्वा समावृतम् ॥ १५ ॥

अकेले श्रीरामचन्द्र जी को चौदह हज़ार राक्षसों से घिरा देख, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि गण दुखी हुए ॥ १५ ॥

ततो रामः सुसंक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ।
ससर्ज विशिखान्बाणाञ्शतशोथ सहस्रशः ॥ १६ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, अपने धनुष को मण्डलाकार कर, सैकड़ों हज़ारों पैने बाण छोड़े ॥ १६ ॥

दुरावारान्दुर्विषहान्[2]कालदण्डोपमान्रणे ।
मुमोच लीलया रामः कङ्कपत्रानजिह्मगान्[3] ॥ १७ ॥

रणक्षेत्र में ये बाण कालदण्ड की तरह न तो किसी के रोके रुक ही सकते थे और न उनकी मार कोई सह ही सकता था। श्रीरामचन्द्र जी ने अनायास (अर्थात् खेल ही खेल में) सुवर्ण भूषित और कङ्क-पत्र से युक्त तथा अपनी सीध पर जाने वाले हज़ारों बाण छोड़े ॥ १७ ॥

ते शराः शत्रुसैन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ।
आददू रक्षसां प्राणान्[4]पाशाः कालकृता इव ॥ १८ ॥

---

१ बहुभिः सहस्रैः—चतुर्दश सहस्रैः। (गो०) २ दुर्विषहान्—दुःसहान्। (गो०) ३ अजिह्मगान्—अवक्रगामिनः। (गो०) ४ प्राणानददुः—अपहारयन्नित्यर्थः। (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के अनायास चलाये बाणों ने, कालपाश की तरह, राक्षसों के प्राण हरण किये ॥ १८ ॥

भित्त्वा राक्षसदेहांस्तांस्ते शरा रुधिराप्लुताः ।
अन्तरिक्षगता रेजुर्दीप्ताग्निसमतेजसः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चलाये बाण राक्षसों के शरीर को भेद और खून से तर हो, आकाश में जा, जाज्वल्यमान् अग्नि की तरह शोभायमान हुए ॥ १९ ॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाश्चापमण्डलात् ।
विनिष्पेतुरतीवोग्रा रक्षःप्राणापहारिणः ॥ २० ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के धनुषमण्डल से अगणित बाण, जो अति उग्र थे और राक्षसों के लिये प्राणनाशक थे, छूट रहे थे ॥ २० ॥

ते रथो साङ्गदान्बाहून्सहस्ताभरणान्भुजान् ।*
धनूंषि च ध्वजाग्राणि वर्माणि† च शिरांसि च ॥ २१ ॥

राक्षसों के बाजूबन्द सहित बाहुओं और हाथ में पहिनने योग्य गहनों सहित भुजाओं, धनुषों, ध्वजाओं के अग्र भागों, कवचों और शिरों को श्रीरामचन्द्र के बाणों ने काट गिराया ॥ २१ ॥

चिच्छिदुर्विभिदुश्चापि रामचापगुणाच्युता ।
बाहून्सहस्ताभरणानूरून्करिकरोपमान् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों ने राक्षसों के हाथ में पहनने योग्य आभूषणों सहित बाहुओं और हाथी की तरह जंघाओं को छिन्न भिन्न कर डाला ॥ २२ ॥

---

* पाठान्तरे—"चर्माणि"।

† २१ वें श्लोक का यह पाठ कई संस्करणों में नहीं पाया जाता ।

चिच्छेद रामः समरे शतशोथ सहस्रशः ।

हयान्काञ्चनसन्नाहान्रथयुक्तान्ससारथीन् ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इस युद्ध में सैकड़ों हज़ारों काञ्चन भूषित रथों में जुते हुए घोड़ों को सारथी सहित काट कर गिरा दिया ॥ २३ ॥

गजांश्च सगजारोहान्सहयान्सादिनस्तथा[1] ।

पदातीन्समरे हत्वा ह्यनयद्यमसादनम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने हाथियों को उनके सवारों सहित तथा घोड़ों को घुड़सवारों सहित और पैदल सैनिकों को मार कर, यमालय भेज दिया ॥ २४ ॥

ततो नालीक[2]नाराचै[3]स्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः[4] ।

भीममार्तस्वरं चक्रुर्भिद्यमाना निशाचराः ॥ २५ ॥

नालीक, नाराच (लोहे के बाण) और पैनी नोक के विकर्णि (कान के आकार की नोंक वाले) नाम के बाणों से जब राक्षस मारे जाते, तब वे घायल हो, बड़ा भयङ्कर आर्तनाद करते थे ॥ २५ ॥

तत्सैन्यं निशितैर्बाणैरर्दितं मर्मभेदिभिः ।

रामेण न सुखं[5] लेभे शुष्कं वनमिवाग्निना ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मर्मभेदी पैने बाणों से मर्दित, वह राक्षस सेना किसी प्रकार अपनी रक्षा न कर सकी। जैसे सूखा जंगल आग लगने पर आग से अपनी रक्षा नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

---

१ सादिनः—अश्वारोहान् । (गो०) २ नालीकः—नालमात्रशराः । (गो०) ३ नाराचाः—आयसशराः । (गो०) ४ विकर्णिनः—कर्णशराः । (गो०) ५ सुखं—दुःख निवृत्तिं । (गो०)

केचिद्भीमबलाः शूराः शूलान्खड्गान्परश्वधान्।
रामस्याभिमुखं गत्वा चिक्षिपुः परमायुधान्[1] ॥ २७ ॥

राक्षससेना के किसी किसी बलवान शूर योद्धा ने, श्रीरामचन्द्र जी के सामने जा, उन पर अपने बड़े बड़े आयुध—यथा त्रिशूल, तलवारें और फरसे चलाये ॥ २७ ॥

तानि बाणैर्महाबाहुः शस्त्राण्यावार्य राघवः।
जहार समरे प्राणांश्चिच्छेद च शिरोधरान् ॥ २८ ॥

परन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने अपने बाणों से केवल उनके चलाये शस्त्रों को ही नहीं काट कर गिराया, प्रत्युत उन उन चलाने वालों के सिरों को काट कर उनको मार भी डाला ॥ २८ ॥

ते च्छिन्नशिरसः पेतुश्छिन्नवर्मशरासनाः।
सुपर्णवातविक्षिप्ता जगत्यां पादपा यथा ॥ २९ ॥

वे राक्षस सिरों के कट जाने से, कटे हुए कवचों और धनुषों को लिये हुए ऐसे गिरे, जैसे गरुड़ जी के पंखों की हवा के झोंकों से वृक्ष उखड़ कर, ज़मीन पर गिर पड़ते हैं ॥ २९ ॥

अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णा[2]श्च निशाचराः।
खरमेवाभ्यधावन्त शरणार्थं[3] शरार्दिताः ॥ ३० ॥

जो राक्षस मारे जाने से बच गये थे वे बाणों की मार से पीड़ित रक्षा के लिये खर की ओर दौड़े ॥ ३० ॥

तान्सर्वान्पुनरादाय समाश्वास्य च दूषणः।
अभ्यधावत काकुत्स्थं क्रुद्धो रुद्रमिवान्तकः[4] ॥ ३१ ॥

---

१ परमायुधानिति शूलादि विशेषणं। (गो०) २ विषण्णाः—दुःखिता। (गो०) ३ शरणार्थं—रक्षणार्थं। (गो०) ४ रुद्रमिवान्तकः—रुद्रपराजितोयमः। (गो०)

दूषण ने उन सब को धीरज बँधाया और उनको अपने साथ ले, वह रुद्र से पराजित क्रुद्ध यमराज की तरह, श्रीरामचन्द्र जी की ओर दौड़ा ॥ ३१ ॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः ।
राममेवाभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥ ३२ ॥

दूषण का सहारा पा कर वे सब भागे हुए राक्षस निर्भीक हो और साल, ताल (वृक्ष विशेष) एवं शिला रूपी आयुधों को ले, फिर श्रीरामचन्द्र जी के सामने गये ॥ ३२ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च चापहस्ता महाबलाः ।
सृजन्तः शरवर्षाणि शस्त्रवर्षाणि संयुगे[1] ॥ ३३ ॥

वे महाबली राक्षस हाथों में त्रिशूलों, मुगदरों और धनुषों को ले, श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर युद्धक्षेत्र में बाणों और शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

द्रुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः ।
तद्बभूवाद्भुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥

राक्षसों ने वृक्षों और शिलाओं की श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वर्षा की। उस समय अपूर्व, भयङ्कर, और रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ ॥ ३४ ॥

रामस्य च महाघोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम् ।
ते समन्तादभिक्रुद्धा राघवं पुनरभ्ययुः ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र और राक्षसों का फिर बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। राक्षसों ने क्रोध में भर चारों ओर से श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

---

[1] संयुगे—संग्रामे । (शि०)

तैश्च सर्वा दिशो दृष्ट्वा प्रदिशश्च समावृताः ।
राक्षसैरुद्यतप्रासैः शरवर्षाभिवर्षिभिः ॥ ३६ ॥
स कृत्वा भैरवं नादमस्त्रं परमभास्वरम् ।
संयोजयत गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥ ३७ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सब दिशाएँ और विदिशाएँ राक्षसों से भरी हुई हैं और राक्षस मेरे ऊपर चारों ओर से, प्रास और बाणों की वर्षा करने को उद्यत हैं, तब उन्होंने बड़ा भयङ्कर नाद कर, प्रज्वलित गान्धर्वास्त्र को राक्षसों पर छोड़ने के लिये धनुष पर रखा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात्[1] ।
सर्वा दश दिशो बाणैरावार्यन्त समागतैः ॥ ३८ ॥

उस समय उस गन्धर्वास्त्र से हज़ारों बाण निकले, जिनसे दसों दिशाएँ ढक गयीं ॥ ३८ ॥

नाददानं शरान्घोरान्न मुञ्चन्तं शिलीमुखान् ।
विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ऐसी फुर्ती से बाण छोड़ रहे थे कि बाणों से पीड़ित राक्षसों को यह न मालूम पड़ता था कि, श्रीरामचन्द्र जी कब भयङ्कर पैने बाणों को तरकस से निकालते और कब छोड़ते थे ॥ ३९ ॥

शरान्धकारमाकाशमावृणोत्सदिवाकरम् ।
बभूवावस्थितो रामः प्रवमन्निव तान्शरान् ॥ ४० ॥

---

१ चापमण्डलात्—संहितगान्धर्वास्त्रात् । (गो०)

उन बाणों ने आकाश को ढक लिया और सूर्य के ढक जाने से अंधकार छा गया। किन्तु तिस पर भी श्रीरामचन्द्र जी धीर भाव से खड़े हुए उन पर बाणों की वर्षा करते ही रहे ॥ ४० ॥

युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् ।
युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाभवत् ॥ ४१ ॥

उन बाणों से कितने ही राक्षस एक साथ गिर पड़ते, कितने ही अत्यन्त आहत (घायल) होते और बहुत से एक साथ ही मूर्छित हो गिर पड़ते थे। उनके शरीरों से (रणभूमि) ढक गयी ॥४१॥

निहताः[1] पतिताः[2] क्षीणा[3]श्छिन्ना[4] भिन्ना[5] विदारिताः[6] ।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसास्ते सहस्रशः ॥ ४२ ॥

उस रणाङ्गण में जिधर देखो उधर ही हज़ारों राक्षस ऐसे पड़े हुए देख पड़ते थे; जो युद्ध में मारे गये थे; जो भयभीत हो भूमि पर गिर पड़े थे; जिनके प्राण कण्ठ में अटके हुए थे; जिनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे; जिनके शरीर के कट कर टुकड़े कटुड़े हो गये थे और जिनके पेट फटे हुए थे ॥ ४२ ॥

सोष्णीषैरुत्तमाङ्गैश्च साङ्गदैर्बाहुभिस्तथा ।
ऊरुभिर्जानुभिश्छिन्नैर्नानारूपविभूषणैः ॥ ४३ ॥

कहीं पर राक्षसों के पगड़ी सहित कटे सिर, कहीं पर उनकी बाजूबन्द सहित कटी बाँहें, कहीं पर उनके कटे हुए ऊरू; कहीं पर उनकी कटी हुई जाँघें और कहीं पर उनके तरह तरह के गहने पड़े हुए थे ॥ ४३ ॥

---

१ निहताः—केवलं प्रहताः । (गो०) २ पतिताः—अशनिपातइवभयेन भूमौपतिताः । (गो०) ३ क्षीणाः—कण्ठगतप्राणाः । (गो०) छिन्नाः—द्विधा कृताः । (गो०) ५ भिन्ना—खण्डितावयवाः । (गो०) ६ विदारिताः—नृसिंहेन हिरण्यवदानाभिकण्ठमुद्भिन्नशरीराः । (गो०)

हयैश्च द्विपमुख्यैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः ।
चामरैर्व्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥ ४४ ॥

उस रणक्षेत्र में, अनेक मरे हुए घोड़े, हाथी, तथा अनेक टूटे हुए रथ और तरह तरह के छत्र, चंवर, पंखा तथा ध्वजाएँ टूटी फूटी पड़ी हुई थीं ॥ ४४ ॥

रामस्य बाणाभिहतैर्विचित्रैः शूलपट्टिशैः ।
खड्गैः खण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णैश्च परश्वधैः ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कटे हुए त्रिशूल, पटा, और तलवारें, भाले, फरसे आदि शस्त्र रणभूमि में बिखरे हुए थे ॥ ४५ ॥

चूर्णिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चित्रैरनेकशः ।
विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विकीर्णाभूद्भयङ्करा ॥ ४६ ॥

तथा टूटी शिलाओं और अनेक कटे हुए शरों के इधर उधर रणक्षेत्र में पड़े रहने से, वहाँ की भूमि बड़ी भयानक देख पड़ती थी ॥ ४६ ॥

तान्दृष्ट्वा निहतान्संख्ये राक्षसान्परमातुरान् ।
न तत्र सहितुं शक्ता रामं परपुरञ्जयम् ॥ ४७ ॥

इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार बहुत से आतुर राक्षसों को युद्ध में मरा हुआ देख, जो राक्षस जीते बच गये थे, वे शत्रुओं को जीतनेवाले श्रीरामचन्द्र जी के प्रहार को न सह सके । अर्थात् भाग खड़े हुए ॥ ४७ ॥

अरण्यकाण्ड का बाईसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

षड्विंशः सर्गः

—:*:—

दूषणस्तु स्वकं सैन्यं हन्यमानं निरीक्ष्य सः ।
सन्दिदेश महाबाहुर्भीमवेगान्दुरासदान् ॥ १ ॥
राक्षसान्पञ्च साहस्रान्समरेष्वनिवर्तिनः ।
ते शूलैः पट्टिशैः खड्गैः शिलावर्षैर्द्रुमैरपि ॥ २ ॥

महाबाहु दूषण ने जब देखा कि, उसकी सेना मारी जाती है, तब उसने भयङ्कर आक्रमणकारी, दुर्धर्ष और रणक्षेत्र में कभी पीठ न दिखाने वाले पांच हज़ार राक्षसों को युद्ध करने की आज्ञा दी। दूषण की आज्ञा पा कर, वे सैनिक राक्षस शूलों, पटों, खड्गों, शिलाओं और वृक्षों की वर्षा करने लगे ॥ १ ॥ २ ॥

शरवर्षैरविच्छिन्नं ववृषुस्तं समन्ततः ।
स द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत् ॥ ३ ॥

इनके अतिरिक्त उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर अविच्छिन्न रूप से और चारों ओर से बाणों की वृष्टि भी की। वृक्षों और शिलाओं की वह महावृष्टि प्राणों की हरने वाली थी ॥ ३ ॥

प्रतिजग्राह[1] धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायकैः ।
प्रतिगृह्य च तद्वर्षं निमीलित इवर्षभः ॥ ४ ॥

---

1 प्रतिजग्राह—प्रतिरुरोध । (गो०)

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने अपने पैने बाणों से उस वृष्टि को रोका। जैसे बैल आंख बन्द कर वर्षा को सहता है (अर्थात् जिस प्रकार बैल वृष्टि की कुछ भी परवाह नहीं करता) वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी ने उस वृष्टि की कुछ भी परवाह न की ॥ ४ ॥

रामः क्रोधं परं भेजे वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।
ततः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा ॥ ५ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और सब राक्षसों के मारने का दृढ़ निश्चय किया। उस समय क्रोध और तेज से प्रकाशमान हो उन्होंने ॥ ५ ॥

शरैरवाकिरत्सैन्यं सर्वतः सहदूषणम् ॥
ततः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः ॥ ६ ॥

दूषण और उसकी सेना के ऊपर तीरों की वर्षा की। फिर शत्रुदूषण सेनापति दूषण क्रुद्ध हो कर, ॥ ६ ॥

शरैरशनिकल्पैस्तं राघवं समवाकिरत् ।
ततो रामः सुसंक्रुद्धः क्षुरेणास्य महद्धनुः ॥ ७ ॥

वज्र तुल्य बाणों से श्रीरामचन्द्र के ऊपर वृष्टि करने लगा। तब श्रीरामचन्द्र जी ने क्रुद्ध हो छुरे की धार के समान पैने बाणों से दूषण का बड़ा धनुष ॥ ७ ॥

चिच्छेद समरे वीरश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
हत्वा चाश्वाञ्शरैस्तीक्ष्णैरर्धचन्द्रेण सारथेः ॥ ८ ॥
शिरो जहार तद्रक्षस्त्रिभिर्विव्याध वक्षसि ।
स च्छिन्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ॥ ९ ॥

काट कर, और चार बाण चला, उसके रथ के चारों घोड़ों को मार डाला। फिर घोड़ों को मार, एक अर्धचन्द्राकार बाण से दूषण के सारथी का सिर काट गिराया, और तीन बाण दूषण की छाती में मारे। तब दूषण ने, जिसका धनुष कट चुका था, और घोड़ों के और सारथी के मारे जाने के कारण, जो रथहीन हो गया था ॥ ८ ॥ ९ ॥

जग्राह गिरिशृङ्गाभं परिघं रोमहर्षणम् ।
वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैर्देवसैन्यप्रमर्दनम् ॥ १० ॥

गिरिशृङ्ग के तुल्य, रोमाञ्चकारी एक परिघ को उठाया। वह परिघ, सुवर्ण से मढ़ा हुआ था और देवताओं की सेना को मर्दन करने वाला था ॥ १० ॥

आयसैः शङ्कुभिस्तीक्ष्णैः कीर्णं परवसोक्षितम्[1] ।
वज्राशनिसमस्पर्शं परगोपुरदारणम् ॥ ११ ॥

उसमें लोहे की पैनी नुकीली कीलें जड़ी थीं और वह शत्रुओं की चर्बी में सना हुआ था। वह वज्र के समान कठोर था और वह शत्रु के नगर के फाटक को तोड़ने वाला था ॥ ११ ॥

तं महोरगसङ्काशं प्रगृह्य परिघं रणे ।
दूषणोऽभ्यपतद्रामं क्रूरकर्मा निशाचरः ॥ १२ ॥

महासर्प के समान उस परिघ को उठा, युद्ध क्षेत्र में, क्रूरकर्मा दूषण राक्षस, श्रीरामचन्द्र के ऊपर दौड़ा ॥ १२ ॥

तस्याभिपततस्तस्य दूषणस्य स राघवः ।
द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद सहस्ताभरणौ भुजौ ॥ १३ ॥

---

१ परवसोक्षितम्—शत्रुमेदः सिक्तं । गो०

तब उसको अपनी ओर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथों सहित उसकी दोनों भुजाएँ, जो भूषणों से भूषित थीं दो बाण मार कर, काट डालीं ॥ १३ ॥

भ्रष्टः[1]तस्य[2] महाकायः[3] पपात रणमूर्धनि ।
परिघश्छिन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥ १४ ॥

भुजाओं के कटने से उसका वह बृहदाकार परिघ भी इन्द्रध्वजा की तरह रणक्षेत्र में गिर पड़ा ॥ १४ ॥

स कराभ्यां विकीर्णाभ्यां पपात भुवि दूषणः ।
विषाणाभ्यां विशीर्णाभ्यां मनस्वीव[4] महागजः ॥ १५ ॥

हाथों के कटने से दूषण ज़मीन पर उसी प्रकार गिरा, जिस प्रकार, दांतों के टूट जाने पर धीर गजराज गिरता है ॥ १५ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे ।
साधु साध्विति काकुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन्[5] ॥ १६ ॥

दूषण को युद्ध में मरा और ज़मीन पर पड़ा देख, सब लोगों ने (दर्शक लोग) साधु साधु कह कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा की ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः ।
संहत्याभ्यद्रवन्रामं मृत्युपाशावपाशिताः ॥ १७ ॥

---

१ भ्रष्टः—हस्ताच्च्युतः । (गो०) २ तस्य—दूषणस्य । (गो०) ३ महाकायः—महाप्रमाणः । (गो०) ४ मनस्वी—धीरः । (गो०) ५ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०)

इसी बीच में एकत्र हो, खर के तीन सेनाग्रगण्य (सेनापति) मृत्यु के वशवर्ती होने के कारण, क्रोध में भर, श्रीरामचन्द्र जी का सामना करने गये ॥ १७ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महाबलः ।
महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥ १८ ॥

उन महाबलवान राक्षस सेना-पतियों के नाम महाकपाल, स्थूलाक्ष, और प्रमाथी थे। इनमें से महाकपाल एक बड़ा त्रिशूल उठा ॥ १८ ॥

स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्य प्रमाथी च परश्वधम् ।
दृष्ट्वैवापततस्तूर्णं राघवः सायकैः शितैः ॥ १९ ॥
तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह संप्राप्तानतिथीनिव ।
महाकपालस्य शिरश्चिच्छेद परमेषुभिः ॥ २० ॥

और स्थूलाक्ष पटा ले कर तथा प्रमाथी फरसा ले कर, श्रीराम-चन्द्र जी की ओर चले। इन तीनों के चलाये हुए शस्त्रों को अपने ऊपर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने पैने बाणों से इन तीनों का वैसा ही स्वागत किया; जैसा कि, आये हुए पाहुने का किया जाता है। श्रीरामचन्द्र जी ने एक पैने बाण से महाकपाल का सिर काट डाला ॥ १९ ॥ २० ॥

असंख्येयैस्तु बाणौघैः प्रममाथ[1] प्रमाथिनम् ।
स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः ॥ २१ ॥

तदनन्तर अगणित बाणों से प्रमाथी का सिर चूर चूर कर दिया। वह कटे हुए महावृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २१ ॥

---

१ प्रममाथः—चूर्णीचकारेत्यर्थः । (गो०)

स्थूलाक्षस्याक्षिणी तीक्ष्णैः पूरयामास सायकैः ।
दूषणस्यानुगान्पञ्चसाहस्रान्कुपितः क्षणात् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पैने पैने बाणों से स्थूलाक्ष की आँखें भर दीं, क्षण भर में श्रीरामचन्द्र जी ने दूषण के पांच हज़ार ॥ २२ ॥

बाणौघैः पञ्चसाहस्रैरनयद्यमसादनम् ।
दूषणं निहतं दृष्ट्वा तस्य चैव पदानुगान् ॥ २३ ॥

अनुयायी राक्षस सैनिकों को क्रोध में भर, पांच हज़ार बाण चला, यमालय को भेज दिया। दूषण और उसकी पैदल सेना को मरा हुआ देख, ॥ २३ ॥

व्यादिदेश खरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान्महाबलान् ।
अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः ॥ २४ ॥

खर ने क्रोध में भर अन्य महाबलवान् सेनापतियों को यह आज्ञा दी कि, यह दूषण तो अपने पैदल सैनिकों सहित युद्ध में मारा गया ॥ २४ ॥

महत्या सेनया सार्धं युध्वा रामं कुमानुषम् ।
शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः ॥ २५ ॥

अब तुम सब लोग मिल कर और अपनी महती सेना को साथ ले, विविध प्रकार के शस्त्रों से मनुष्याधम राम को मार डालो ॥२५॥

एवमुक्त्वा खरः क्रुद्धो राममेवाभिदुद्रुवे ।
श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ॥ २६ ॥
दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।
मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ॥ २७ ॥

द्वादशैते महावीर्या बलाध्यक्षाः ससैनिकाः ।
राममेवाभ्यवर्तन्त विसृजन्तः शरोत्तमान् ॥ २८ ॥

यह कह कर और क्रोध में भर स्वयं ही खर ने श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया। श्येनगामी, पृथुग्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीराक्ष, परुष, कालकार्मुक, मेघमाली, महामाली, सर्पास्य और रुधिराशन नाम के १२ महाबली सेनाध्यक्षों ने अपनी अधीनस्थ सेनाओं को साथ ले, बड़े पैने पैने बाण चला कर, श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

ततः पावकसङ्काशैर्हेमवज्रविभूषितैः ।
जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः ॥ २९ ॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी अग्नि तुल्य तथा सुवर्ण और हीरों से भूषित बाणों से उस बची हुई सेना का नाश करने लगे ॥ २९ ॥

ते रुक्मपुङ्खा विशिखाः सधूमा इव पावकाः ।
निजघ्नुस्तानि रक्षांसि वज्रा इव महाद्रुमान् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार वज्र के आघात से बड़े बड़े वृक्ष गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अपने सुवर्ण पुङ्ख वाले सधूम अग्नि के समान बाणों से, राक्षसों को मार कर, गिराना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

रक्षसां तु शतं रामः शतेनैकेन कर्णिना[1] ।
सहस्रं च सहस्रेण जघान रणमूर्धनि ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में एक सौ (कान के आकार के) बाण चला कर, एक सहस्र राक्षसों का एक एक शर में संहार किया ॥ ३१ ॥

---

१ कर्णिना—कर्णाकार शरेण । गो०

तैर्भिन्नवर्माभरणाश्छिन्नभिन्नशरासनाः ।
निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां रजनीचराः ॥ ३२ ॥

उनके वाणों से राक्षसों के कवच, आभूषण और धनुष टूट कर गिर पड़े। वे राक्षस स्वयं भी खून से तरबतर हो और मर कर ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

तैर्मुक्तकेशैः समरे पतितैः शोणितोक्षितैः ।
आस्तीर्णा वसुधा कृत्स्ना महावेदिः कुशैरिव ॥ ३३ ॥

खून में सने और समरभूमि में मर कर गिरे हुए राक्षसों के खुले हुए बालों से, वह समस्त रणभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानों यज्ञ की वेदी पर कुश बिछे हों ॥ ३३ ॥

क्षणेन तु महाघोरं वनं निहतराक्षसम् ।
बभूव निरयप्रख्यं[1] मांसशोणितकर्दमम् ॥ ३४ ॥

बात की बात में उन राक्षसों के मारे जाने से वहाँ महाघोर वन, मरे हुए राक्षसों के मांस और रक्त की कीचड़ से नरक के समान हो गया ॥ ३४ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण मानुषेण पदातिना ॥ ३५ ॥

मनुष्य श्रीरामचन्द्र ने अकेले और पैदल ही चौदह हज़ार भयङ्कर कर्म करने वाले राक्षसों को मार डाला ॥ ३५ ॥

तस्य सैन्यस्य सर्वस्य खरः शेषो महारथः ।
राक्षसस्त्रिशिराश्चैव रामश्च रिपुसूदनः ॥ ३६ ॥

---

1 निरयप्रख्यं—नरकतुल्यं । (गो०)

इस राम-राक्षस-युद्ध में अब केवल तीन जन अर्थात् शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्र, महारथी खर और त्रिशिरा राक्षस बच रहे ॥ ३६ ॥

शेषा हता महासत्त्वा राक्षसा रणमूर्धनि ।
घोरा दुर्विषहाः सर्वे लक्ष्मणस्याग्रजेन ते ॥ ३७ ॥

इनके अतिरिक्त जो राक्षस थे उन सब को महाबली श्रीरामचन्द्र जी ने मार डाला था। वे राक्षस बड़े भयङ्कर और दुर्धर्ष थे ॥ ३७ ॥

ततस्तु तद्भीमबलं महाहवे
समीक्ष्य रामेण हतं बलीयसा ।
रथेन रामं महता खरस्तदा
समाससादेन्द्र इवोद्यताशनिः ॥ ३८ ॥

इति षड्विंशः सर्गः ॥

उस महासंग्राम में भयङ्कर एवं बलवान् समस्त राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा मरा हुआ देख, खर एक बड़े रथ पर सवार हो, वज्र उठाये इन्द्र की तरह, श्रीराम के सामने हुआ ॥ ३८ ॥

अरण्यकाण्ड का छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तविंशः सर्गः

—:*:—

खरं तु रामाभिमुखं प्रयान्तं वाहिनीपतिः[1] ।
राक्षसस्त्रिशिरा नाम सन्निपत्ये[2]दमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

१ वाहिनीपतिः—सेनापतिः। (गो०) २ सन्निपत्य—समीपमागत्येत्यर्थः। (गो०)

खर को श्रीरामचन्द्र के सामने जाते देख, त्रिशिरा नाम के सेनापति ने, खर के समीप जा कर, यह बात कही ॥ १ ॥

मां नियोजय विक्रान्त सन्निवर्तस्व साहसात् ।
पश्य रामं महाबाहुं संयुगे विनिपातितम् ॥ २ ॥

हे स्वामिन् ! आप इस समय रामचन्द्र जी के सामने जाने का साहस न कीजिये और (अपने बदले) मुझ पराक्रमी को राम से लड़ने के लिये नियुक्त कीजिये। देखिये, मैं इस महाबाहु रामचन्द्र को युद्ध में मार कर, अभी गिराये देता हूँ ॥ २ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे[1] ।
यथा रामं वधिष्यामि वधार्हं सर्वरक्षसाम् ॥ ३ ॥

मैं हथियार छू कर, आपके सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं इस रामचन्द्र को, जो समस्त राक्षसों के मारने योग्य है, अवश्य मारूँगा ॥ ३ ॥

अहं वाऽस्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम ।
विनिवृत्य रणोत्साहान्मुहूर्तं प्राश्निको[2] भव ॥ ४ ॥

चाहे तो मैं इसको मारूँ अथवा यह मुझे मार डाले। आप स्वयं युद्ध में प्रवृत्त न हो कर, मुहूर्त्त भर मध्यस्थ बन कर, दोनों ओर का युद्ध देखिये ॥ ४ ॥

*प्रहृष्टो[3] वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि ।
मयि वा निहते रामं संयुगायो[4]पयास्यसि ॥ ५ ॥

---

१ आलभे—स्पृशामि । (गो०) २ प्राश्निकः—जयापजयनिर्णायकः। (गो०)
३ प्रहृष्टे—गर्विष्टे। (गो०) ४ संयुगाय—युद्धं कर्तुं । (गो०)
* पाठान्तरे—"प्रहृष्टे"

यदि राम मारा जाय, तो आप गर्व सहित जनस्थान को चले जाइयेगा और यदि कहीं मैं ही मारा जाऊँ, तो आप उससे युद्ध करने को उसके सामने जाना ॥ ५ ॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात्प्रसादितः ।
गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

जब उस (श्रीरामचन्द्र) की मृत्यु का लालच दिखा, त्रिशिरा ने खर को प्रसन्न किया, तब खर ने उससे कहा कि, अच्छा जाओ और लड़ो। यह आज्ञा पा कर, त्रिशिरा श्रीरामचन्द्र जी के सन्मुख गया ॥ ६ ॥

त्रिशिराश्च रथेनैव वाजियुक्तेन भास्वता ।
अभ्यद्रवद्रणे रामं त्रिशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७ ॥

वह तीन सिरों वाला (त्रिशिरा) घोड़ों के देदीप्यमान् रथ पर सवार हो, युद्ध करने को श्रीरामचन्द्र जी के सामने गया—मानों तीन शिखर वाला पर्वत जाता हो ॥ ७ ॥

शरधारासमूहान्स महामेघ इवोत्सृजन् ।
व्यसृजत्सदृशं नादं जलार्द्रस्य तु दुन्दुभेः ॥ ८ ॥

वह त्रिशिरा महामेघ की तरह, बाणों की वर्षा करने लगा और ऐसे गर्जा मानों जल से भींगा नगाड़ा बज रहा हो ॥ ८ ॥

आगच्छन्तं त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः ।
धनुषा प्रतिजग्राह विधून्वन्[1]सायकाञ्शितान् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने त्रिशिरा को आते देख और धनुष ले, उस पर तीखे बाण छोड़े ॥ ९ ॥

---

1 विधून्वन्—मुञ्चन् । (गो०)

स संप्रहार[1]स्तुमुलो रामत्रिशिरसोर्महान् ।
बभूवातीव बलिनोः सिंहकुञ्जरयोरिव ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र और त्रिशिरा का बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ; मानों अति बलवान् सिंह और गजेन्द्र का युद्ध हो ॥ १० ॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितास्त्रिभिः ।
अमर्षी[3] कुपितो रामः संरब्ध[2]मिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

त्रिशिरा ने तीन बाण श्रीरामचन्द्र जी के ललाट में मारे। तब ऋषियों के कष्टों को न सहने वाले श्रीरामचन्द्र ने क्रोध में भर त्रिशिरा को झिड़क कर कहा ॥ ११ ॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदृशं बलम् ।
पुष्पैरिव शरैर्यस्य ललाटेऽस्मि परिक्षतः[4] ॥ १२ ॥

अरे विक्रमी शूर राक्षस! क्या तुझमें इतना ही बल है कि, तेरे मारे हुए बाण मेरे ललाट में फूलों की तरह जान पड़े ॥ १२ ॥

ममापि प्रतिगृह्णीष्व शरांश्चापगुणच्युतान् ।
एवमुक्त्वा तु संरब्धः शरानाशीविषोपमान् ॥ १३ ॥

अच्छा अब तू मेरे धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों को रोक सकता हो तो रोक। यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने कुपित हो, सर्पों की तरह ॥ १३ ॥

त्रिशिरोवक्षसि क्रुद्धो निजघान चतुर्दश ।
चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ १४ ॥

---

१ संप्रहारो—युद्धं । (गो०) २ संरब्धम्—सकोपं । (गो०) ३ अमर्षी—ऋष्यपराधासहनशीलः । (शि०) ४ परिक्षतो—हतोस्मि । (शि०)

चौदह बाण त्रिशिरा की छाती में मारे और चार पैने पैने बाण उसके रथ के चारों घोड़ों के मारे ॥ १४ ॥

न्यपातयत तेजस्वी चतुरस्तस्य वाजिनः ।
अष्टभिः सायकैः सूतं रथोपस्थान्न्यपातयत् ॥ १५ ॥

तेजस्वी श्रीरामचन्द्र ने त्रिशिरा के चारों घोड़े मार कर गिरा दिये, फिर आठ बाण मार कर त्रिशिरा के सारथी को मार, रथ पर गिरा दिया ॥ १५ ॥

रामश्चिच्छेद बाणेन ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम् ।
ततो हतरथा[1]त्तस्मादुत्पन्तं निशाचरम् ॥ १६ ॥
बिभेद रामस्तं बाणैर्हृदये सोऽभवज्जडः[2] ।
सायकैश्चाप्रमेयात्मा सामर्षस्तस्य रक्षसः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उसके रथ की ऊँची ध्वजा भी एक बाण से काट दी । तब घोड़ों और सारथी से रहित उस रथ से त्रिशिरा को कूदते देख, अप्रमेयात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, उसकी छाती को मारे बाणों के विदीर्ण कर डाला। तब त्रिशिरा निश्चेष्ट हो गया ॥ १६ ॥ १७ ॥

शिरांस्यपातयद्रामो वेगवद्भिस्त्रिभिः शितैः ।
स भूमौ रुधिरोद्गारी रामबाणाभिपीडितः ॥ १८ ॥
न्यपतत्पतितैः पूर्वं स्वशिरोभिर्निशाचरः ।
हतशेषास्ततो भग्ना राक्षसाः खरसंश्रयाः[3] ।
द्रवन्ति स्म न तिष्ठन्ति व्याघ्रत्रस्ता मृगा इव ॥ १९ ॥

---

१ हतरथात्—हतहयसारथिकरथात् । (गो०) २ जडः—निश्चेष्टः । (गो०) ३ खरसंश्रयाः—खरसेनकाः । (गो०) * पाठान्तरे—"रथोपस्थेन्यपातयत् ।"

तब श्रीरामचन्द्र जी ने तुरन्त तीन बाण मार उसके तीनों सिर काट कर गिरा दिये। वह त्रिशिरा, श्रीराम के बाणों से पीड़ित हो, भूमि पर रुधिर गिराता हुआ, अपने मस्तकों के साथ रणभूमि में गिर पड़ा। उसको मरा देख, बचे हुए खर के सेवक राक्षस हतोत्साह हो, रणभूमि में खड़े न रह कर, वैसे ही भाग गये, जैसे व्याघ्र से भयभीत हो, मृग भागते हैं॥ १८ ॥ १९ ॥

तान्खरो द्रवतो दृष्ट्वा निवर्त्य रुषितः स्वयम्।
रामभेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमसं यथा॥ २० ॥

इति सप्तविंशः सर्गः॥

उनको भागते देख, खर ने रोष में भर उनको लौटाया और स्वयं श्रीरामचन्द्र जी की ओर वैसे ही दौड़ा, जैसे राहु, चन्द्रमा के ऊपर दौड़ता है॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

अष्टाविंशः सर्गः

—*—

निहतं दूषणं दृष्ट्वा रणे त्रिशिरसा सह।
खरस्याप्यभवत्त्रासो दृष्ट्वा रामस्य विक्रमम्॥ १ ॥

त्रिशिरा सहित दूषण को मरा हुआ देख, खर भी श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से डर गया॥ १ ॥

स दृष्ट्वा राक्षसं सैन्यमविषह्यं महाबलः।
हतमेकेन रामेण त्रिशिरोदूषणावपि॥ २ ॥

वह सोचने लगा कि, अकेले श्रीराम ने अति बलवती राक्षसों की सेना त्रिशिरा और दूषण सहित मार डाली ॥ २ ॥

तद्बलं[1] हतभूयिष्ठं[2] विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः ।
आससाद खरो रामं नमुचिर्वासवं यथा ॥ ३ ॥

उस सेना को तथा चुने चुने वीर राक्षसों को मरा हुआ देख, खर उदास हुआ और श्रीरामचन्द्र के ऊपर वैसे ही झपटा, जैसे इन्द्र के ऊपर नमुचि दैत्य झपटा था ॥ ३ ॥

विकृष्य बलवच्चापं[3] नाराचान्रक्तभोजनान् ।
खरश्चिक्षेप रामाय क्रुद्धानाशीविषानिव ॥ ४ ॥

खर ने बड़े ज़ोर से धनुष को खींच, श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर क्रुद्ध सर्प के विष के समान रुधिर पान करने वाले बाण छोड़े ॥ ४ ॥

ज्यां विधून्वन्सुबहुशः शिक्षयाऽस्त्राणि दर्शयन् ।
चकार समरे मार्गाञ्शरै रथगतः खरः ॥ ५ ॥

धनुष के रोदे को बार बार झटकारता और अपनी शस्त्रविद्या का परिचय देता हुआ और तरह तरह के बाण छोड़ता हुआ रथ पर सवार खर, रणभूमि में घूमने लगा ॥ ५ ॥

स सर्वाश्च दिशो बाणैः प्रदिशश्च महारथः ।
पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुमहद्धनुः ॥ ६ ॥

उस महारथी को बाणों से समस्त दिशाएँ और विदिशाएँ पूरित करते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने भी बड़ा धनुष हाथ में लिया ॥ ६ ॥

---

१ बलं—सैन्यं । (गो०) २ हतभूयिष्ठं—हतप्रवरराक्षसं । (गो०) ३ बलवत्—अत्यन्तं । (गो०)

स सायकैर्दुर्विषहैः सस्फुलिङ्गैरिवाग्निभिः ।
नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥ ७ ॥

और आग के अंगारों की तरह न सहने योग्य तीरों से आकाश को छा दिया । मानों मेघ बरस रहा हो ॥ ७ ॥

तद्बभूव शितैर्बाणैः खररामविसर्जितैः ।
पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शरसङ्कुलम् ॥ ८ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र और खर के छोड़े हुए बाणों से सारा आकाश भरा हुआ था ॥ ८ ॥

शरजालावृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते ।
अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः संप्रयुध्यतोः ॥ ९ ॥

एक दूसरे को मार डालने की इच्छा से युद्ध करते हुए दोनों के शरजाल से सूर्य ढक गये थे और सूर्य का प्रकाश नहीं देख पड़ता था ॥ ९ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः ।
आजघान खरो रामं तोत्रैरिव[1] महाद्विपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर महावत जिस प्रकार महागज के अंकुश मारता है, उसी प्रकार खर ने पैने नालीक, नाराच और विकीर्ण नामक बाण श्रीरामचन्द्र जी के मारे ॥ १० ॥

तं रथस्थं धनुष्पाणिं राक्षसं पर्यवस्थितम् ।
ददृशुः सर्वभूतानि पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

---

१ तोत्रैः—गजशिक्षणयष्टिभिः । (गो०)

उस समय हाथ में धनुष लिये और रथ पर सवार खर, सब प्राणियों को ऐसा देख पड़ता था, मानों पाश को हाथ में लिये काल घूमता हो ॥ ११ ॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम् ।
परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥ १२ ॥

अपनी समस्त सेना का विनाश करने वाले पुरुषार्थी, श्रीरामचन्द्र जी को, जो उस समय कुछ कुछ श्रान्त हो गये थे, खर ने बड़ा बलवान् समझा अथवा पुरुषार्थी बलवान् श्रीराम को श्रान्त समझा ॥ १२ ॥

तं सिंहमिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
दृष्ट्वा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १३ ॥

सिंह तुल्य पराक्रमी और सिंह सदृश व्यवहार करने वाले श्रीरामचन्द्र खर को देख, उसी प्रकार कुछ भी न घबड़ाये, जिस प्रकार सिंह एक क्षुद्र हिरन को देख नहीं घबड़ाता ॥ १३ ॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः ।
आससाद रणे रामं पतङ्ग इव पावकम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर खर, सूर्य समान द्युतिमान रथ पर सवार हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास वैसे ही पहुँचा जैसे पतंगे अग्नि के समीप जाते हैं ॥ १४ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्टिदेशे महात्मनः ।
खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन्पाणिलाघवम् ॥ १५ ॥

खर ने जाते ही, अपने हाथ की सफाई दिखाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी के धनुष को उस जगह से काट डाला जहाँ पर वे उसे पकड़े हुए थे ॥ १५ ॥

स पुनस्त्वपरान्सप्त शरानादाय वर्मणि[1] ।
निजघान खरः क्रुद्धः शक्राशनिसमप्रभान् ॥ १६ ॥

फिर खर ने क्रोध में भर और वज्र समान सात बाणों को चला, श्रीरामचन्द्र जी का कवच विदीर्ण कर डाला ॥ १६ ॥

ततस्तत्प्रहतं बाणैः खरमुक्तैः सुपर्वभिः ।
पपात कवचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसः ॥ १७ ॥

खर के चलाये बाणों से श्रीरामचन्द्र जी का सूर्य के समान चमकीला कवच टूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम्[2] ।
अर्दयित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ १८ ॥

फिर अगणित बाणों से अनुपम पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, रणभूमि में खर ने महानाद किया ॥ १८ ॥

स शरैरर्पितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः ।
रराज समरे रामो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १९ ॥

उस समय खर के बाणों से सम्पूर्ण अंगों के विध जाने से क्रुद्ध श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी शोभा जान पड़ी, जैसी धूम रहित अग्नि की ॥ १९ ॥

ततो गम्भीरनिर्हादं रामः शत्रुनिबर्हणः ।
चकारान्ताय स रिपोः सज्यमन्यन्महद्धनुः ॥ २० ॥

---

१ वर्मणि निजघान—अवदारयति स्म । (गो०) २ अप्रतिमौजसम्—अनुपम पराक्रमंरामं । (शि०)

तदनन्तर शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने, शत्रुओं का नाश करने के लिये गंभीर शब्द करने वाले बड़े धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ २० ॥

सुमहद्वैष्णवं यत्तदति[1]सृष्टं[2] महर्षिणा ।
वरं तद्धनुरुद्यम्य खरं समभिधावत ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, महर्षि अगस्त्य जी के दिये हुए प्रसिद्ध वैष्णव धनुषश्रेष्ठ को उठा कर, खर की ओर झपटे ॥ २१ ॥

ततः कनकपुङ्खैस्तु शरैः सन्नतपर्वभिः[3] ।
बिभेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम् ॥ २२ ॥

युद्ध में क्रुद्ध हो श्रीरामचन्द्र जी ने सुवर्ण के पुंख लगे हुए और सीधी गांठो वाले तीरों से खर के रथ की ध्वजा काट डाली ॥ २२ ॥

स दर्शनीयो बहुधा विकीर्णः काञ्चनध्वजः ।
जगाम धरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया[4] ॥ २३ ॥

उस समय खर के रथ की, वह देखने योग्य सुवर्ण निर्मित ध्वजा, ज़मीन पर गिर कर, वैसे ही सुशोभित हुई, जैसे देवताओं के शाप से भूमि पर गिरे हुए सूर्य की शोभा हुई थी ॥ २३ ॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः ।
विव्याध युधि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः ॥ २४ ॥

तब मर्मस्थलों को जानने वाले खर ने क्रुद्ध हो कर, चार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी के हृदय तथा अन्य मर्मस्थलों को वैसे ही वेध डाला, जैसे भाले से हाथी वेधा जाता है ॥ २४ ॥

---

१ यत्तदिति—प्रसिद्ध्यतिशयवाची । (गो०) २ अतिसृष्टं—दत्तं । (गो०) ३ सन्नतपर्वभिः—ऋजुपर्वभिः । (गो०) ४ आज्ञया—शापेन । (गो०)

स रामो बहुभिर्बाणैः खरकार्मुकनिःसृतैः ।
विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो बभूव रुषितो भृशम् ॥ २५ ॥

खर के धनुष से छूटे हुए बहुत से बाणों के लगने से श्रीरामचन्द्र जी घायल हो गये और खून से सराबोर हो गये। अतः वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए ॥ २५ ॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः प्रगृह्य परमाहवे ।
मुमोच परमेष्वासः षट् शरानभिलक्षितान्[1] ॥ २६ ॥

धनुषधारियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने एक बढ़िया धनुष ले, खर का निशाना बाँध, उसके ऊपर छः बाण छोड़े ॥ २६ ॥

शिरस्येकेन बाणेन द्वाभ्यां बाह्वोरथार्दयत् ।
त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च[2] वक्षस्यभिजघान ह ॥ २७ ॥

इनमें से एक बाण से खर का माथा, दो से उसकी दोनों भुजाएँ घायल कीं और तीन अर्धचन्द्राकार मुख वाले बाण उसकी छाती में मारे ॥ २७ ॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान्भास्करोपमान् ।
जिघांसू राक्षसं क्रुद्धस्त्रयोदश समाददे ॥ २८ ॥

इसके बाद महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने क्रुद्ध हो सूर्य के समान चमकते हुए १३ नाराच (बाण विशेष) ले, खर को मारने की इच्छा से उस पर छोड़े ॥ २८ ॥

---

१ अभिलक्षितान्—लक्ष्योद्देश्यत्वेन बोधितान् । (शि०) २ चन्द्रार्धवक्त्रैः—अर्धचन्द्राकारमुखैः । (गो०)

ततोऽस्य युगमेकेन चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।
षष्ठेन तु शिरः संख्ये खरस्य रथसारथेः ॥ २९ ॥

एक से रथ के जुआं को, चार से चारों घोड़ों को और छठवें से खर के रथ के सारथी के सिर को छेद डाला ॥ २९ ॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं बलवान्द्वाभ्यामक्षं महाबलः ।
द्वादशेन तु बाणेन खरस्य सशरं धनुः ॥ ३० ॥
छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव[1] ।
त्रयोदशेनेन्द्रसमो बिभेद समरे खरम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने तीन बाणों से रथ के तीनों बांसों को, दो से रथ की धुरी को, और बारहवें बाण से खर के बाण सहित धनुष को काट डाला। फिर खेल ही खेल में (अनायास) वज्र समान तेरहवां बाण, इन्द्र समान श्रीरामचन्द्र जी ने खर के मारा ॥३०॥३१॥

प्रभग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
गदापाणिरवप्लुत्य तस्थौ भूमौ खरस्तदा ॥ ३२ ॥

धनुष और रथ के टूट जाने से, घोड़ों और सारथि के मारे जाने से, खर रथहीन होने के कारण, हाथ में गदा ले, रथ से कूदा और रणभूमि पर खड़ा हो गया ॥ ३२ ॥

तत्कर्म रामस्य महारथस्य
समेत्य[2] देवाश्च महर्षयश्च ।

---

1 प्रहसन्निव—लीलयेत्यर्थः । (गो०) 2 समेत्य—समूहीभूय । (गो०)

अपूजयन्[1]प्राञ्जलयः प्रहृष्टा-
स्तदा विमानाग्रगताः समेताः[2] ॥ ३३ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

उस समय महारथी श्रीरामचन्द्र जी के इस (अद्भुत) कर्म को देख, देवता और महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए और एकत्र हो तथा विमानों पर चढ़, वहाँ (जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे) आये और हाथ जोड़, श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति की ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनत्रिंशः सर्गः

—*—

खरं तु विरथं रामो गदापाणिमवस्थितम् ।
मृदुपूर्वं[3] महातेजाः परुषं[4] वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

रथहीन खर को हाथ में गदा लिये हुए देख, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने उससे न्यायोचित और मर्मस्पर्शी वचन कहे ॥ १ ॥

गजाश्वरथसंबाधे बले महति तिष्ठता[5] ।
कृतं सुदारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम् ॥ २ ॥

हे वीर ! अनेक हाथियों, घोड़ों, रथों, और बहुत सी सेना का अधिपति हो, तूने सर्वलोकनिन्दित घोर पाप कर्म किये हैं ॥ २ ॥

---

१ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०) २ समेताः—आगताः । (गो०) ३ मृदुपूर्वं—न्यायाऽऽलम्बनेनोक्तं । (गो०) ४ परुषं—मर्मोद्घाटनरूपत्वात् । (गो०) ५ तिष्ठता—अधिपतित्वेन तिष्ठतेत्यर्थः । (गो०)

उद्वेजनीयो[1] भूतानां नृशंसः[2] पापकर्मकृत् ।
त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोऽपि न तिष्ठति[3] ॥ ३ ॥

(कदाचित् इन पापकर्मों को करते समय तुझे यह नहीं मालूम था कि,) प्राणियों को दुःख देने वाला घातक (अत्याचारी) और पापकर्म करने वाला पुरुष, भले ही वह त्रिलोकीनाथ ही क्यों न हो–(अधिक दिनों) नहीं जी सकता । (फिर तुझ जैसे तुच्छ जीव की तो बिसात ही क्या है) ॥ ३ ॥

कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर[4] ।
तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्पं दुष्टमिवागतम् ॥ ४ ॥

हे रजनीचर ! लोकविरुद्ध कर्म करने वाले, अत्याचारी को सब लोग वैसे ही मारते हैं, जैसे आये हुए दुष्ट सर्प को ॥ ४ ॥

लोभा[5]त्पापानि कुर्वाणः कामाद्वा[6] यो न बुध्यते[7] ।
भ्रष्टः[8]पश्यति[9]तस्यान्तं[10] ब्राह्मणी[11]करकादिव[12]॥५॥

जो मनुष्य लालचवश अथवा अपूर्व लाभ की इच्छा से काम कर के नहीं पछताता, उसे उस कर्म का फल, ऐश्वर्य से भ्रष्ट होना वैसे ही अनुभव करना पड़ता है, जैसे बमनी जाति का जन्तु वृष्टि के ओलों को खा कर, उसका परिणाम स्वरूप मृत्यु का अनुभव करता है ॥५॥

---

१ उद्वेजनीयः—उद्वेजकः । २ नृशंसो—घातकः ।(गो०) ३ न तिष्ठति—न जीवेत् । (गो०) ४ क्षणदाचर—रजनीचर । (गो०) ५ लोभात्—लब्धस्यत्यागासहिष्णुतया । (गो०) ६ कामात्—अपूर्वलाभेच्छया । (गो०) ७ नबुध्यते—नपश्चातापं करोति । (रा०) ८ भ्रष्टः—ऐश्वर्याद्भ्रष्टः । (गो०) ९ अन्तं—फलं । (गो०) १० पश्यति—अनुभवति । (गो०) ११ करकाः—वर्षोपलाः । (गो०) १२ ब्राह्मणी—रक्त पुच्छिका । (गो०)

वसतो दण्डकारण्ये तापसान्धर्मचारिणः ।
किंनु हत्वा महाभागान्फलं प्राप्स्यसि राक्षस ॥ ६ ॥

हे राक्षस ! इस दण्डकवन में बसने वाले धर्माचरण में रत महाभाग तपस्वियों को (निरपराध) मारने से, तुझे इसका फल भोगना होगा, क्या तू यह नहीं जानता था ॥ ६ ॥

न चिरं पापकर्माणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।
ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार गली हुई जड़ के वृक्ष बहुत दिनों तक नहीं खड़े रह सकते अर्थात् गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार पापी, क्रूर और लोकनिन्दित जन ऐश्वर्य पा कर भी बहुत दिनों तक नहीं जीवित रह सकते ॥ ७ ॥

अवश्यं लभते जन्तुः फलं पापस्य कर्मणः ।
घोरं पर्यागते काले द्रुमाः पुष्पमिवार्तवम् ॥ ८ ॥

जिस प्रकार समय पा कर, पेड़ फूलते हैं, उसी प्रकार समय प्राप्त होने पर जीवों को उनके किये पाप कर्मों का घोर फल अवश्य मिलता है । अर्थात् समय पर पाप का फल अवश्य प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

न चिरात्प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम् ।
सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर ॥ ९ ॥

हे निशाचर ! जिस प्रकार विषमिश्रित अन्न खाने से शीघ्र ही आदमी मर जाता है, उसी प्रकार पापी को किये हुए पापों का फल प्राप्त होने में विलंब नहीं होता । अर्थात् शीघ्र मिलता है ॥ ९ ॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम् ।
अहमासादितो राज्ञा[1] प्राणान्हन्तुं निशाचर ॥ १० ॥

---

[1] राज्ञा—दशरथेननियुक्त । (रा०)

हे निशाचर ! तू लोकों का अहित चाहने वाला होने के कारण महापापी है। अतः महाराज दशरथ का भेजा हुआ मैं तेरे प्राणों का नाश करने को यहाँ आया हूँ ॥ १० ॥

अद्य हि त्वां मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।
विदार्य निपतिष्यन्ति[1] वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ११ ॥

आज ये सुवर्ण भूषित मेरे छोड़े हुए बाण तेरे शरीर को चीर कर वैसे ही घुसेंगे, जैसे सर्प अपनी बांबी में घुसता है ॥ ११ ॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः ।
तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि ॥ १२ ॥

जिन धर्मचारी ऋषि मुनियों को तूने इस दण्डकारण्य में आ कर खाया है, आज युद्ध में सेना सहित मर कर, तू भी उनके पीछे जायगा ॥ १२ ॥

अद्य त्वां विहतं बाणैः पश्यन्तु परमर्षयः ।
निरयस्थं विमानस्था ये त्वया हिंसिताः पुरा ॥ १३ ॥

पहिले जिन तपस्वियों को तूने मारा है, आज वे विमान में लौट कर, तुझको मेरे बाणों से मरा और नरक में जाता हुआ देखें ॥ १३ ॥

प्रहर त्वं यथाकामं कुरु यत्नं कुलाधम ।
अद्य ते पातयिष्यामि शिरस्तालफलं यथा ॥ १४ ॥

अरे कुलाधम ! मेरे मरने के लिये तुझे जो उपाय करना हो सो कर ले और यथेष्ट प्रहार भी कर ले। अन्त में तो मैं, अवश्य ही ताल के फल की तरह तेरा सिर काट कर, गिरा ही दूँगा ॥ १४ ॥

---

१ निपतिष्यन्ति—प्रवेक्ष्यन्ति । (गो०)

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।
प्रत्युवाच खरो रामं प्रहसन्क्रोधमूर्छितः ॥ १५ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब खर क्रुद्ध हो और लाल लाल आँखें निकाल तथा (तिरस्कार सूचक) हँसी हँस कर, श्रीराम से बोला ॥ १५ ॥

प्राकृता[1]न्राक्षसान्हत्वा युद्धे दशरथात्मज ।
आत्मना[2] कथमात्मानमप्रशस्यं प्रशंससि ॥ १६ ॥

हे दशरथ के पुत्र! क्षुद्र (अर्थात् साधारण) राक्षसों को मार कर, प्रशंसा योग्य न होने पर भी, तू अपने मुँह अपनी प्रशंसा कर रहा है ॥ १६ ॥

विक्रान्ता बलवन्तो वा ये भवन्ति नरर्षभाः ।
कथयन्ति न ते किञ्चित्तेजसा[3] स्वेन गर्विताः ॥ १७ ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष पराक्रमी और बलवान होते हैं, वे अपने प्रताप का गर्व कर, कभी अपना बखान नहीं करते ॥ १७ ॥

प्राकृतास्त्वकृतात्मानो लोके[4] क्षत्रियपांसनाः ।
निरर्थकं विकत्थन्ते यथा राम विकत्थसे ॥ १८ ॥

हे श्रीराम! जो क्षुद्र, कल्मष चित्त वाले और क्षत्रियाधम हैं, वे ही तेरी तरह व्यर्थ बकवाद किया करते हैं ॥ १८ ॥

कुलं व्यपदिशन्वीरः समरे कोऽभिधास्यति ।
मृत्युकाले हि सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे[5] स्तवम् ॥ १९ ॥

---

१ प्राकृताः—क्षुद्राः ।(गो०) २ आत्मना—स्वयमेव । (गो०) ३ तेजसा—प्रतापेन । (गो०) ४ अकृतात्मानः—कल्मषचित्ताः । (रा०) ५ अप्रस्तवे—अनवसरे । (गो०)

रणभूमि में, जहां मृत्यु होना कोई अनहोनी बात नहीं, वहां पर कौन ऐसा शूर है, जो अपने कुल का बखान कर, ऐसे अनवसर में अपनी बड़ाई अपने आप करेगा ॥ १९ ॥

सर्वथैव लघुत्वं ते कत्थनेन विदर्शितम् ।
सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना[1] ॥ २० ॥

अतएव तूने अपना बखान कर, सब प्रकार से अपना ओछापन वैसे ही दिखलाया है, जैसे अग्नि में तपाने पर बनावटी सोना अपना बनावटीपन प्रकट कर देता है ॥ २० ॥

न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यति त्वं गदाधरम् ।
धराधरमिवाकम्प्यं पर्वतं धातुभिश्चितम् ॥ २१ ॥

हे श्रीराम ! क्या तु यह नहीं देखता कि, मैं गदा लिये लड़ने के लिये उद्यत, यहां पर विविध धातुओं से शोभित पर्वत की तरह, अचल अटल खड़ा हुआ हूँ ॥ २१ ॥

पर्याप्तोऽहं गदापाणिर्हन्तुं प्राणान्रणे तव ।
त्रयाणामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः ॥ २२ ॥

मैं इस अपने हाथ की गदा से पाशधारी यमराज की तरह युद्ध में केवल तेरा ही नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों का संहार कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

कामं बह्वपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम् ।
अस्तं गच्छेद्धि सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

---

[1] कुशाग्निना—स्वर्णोद्दीपनाग्निना । (रा०) यद्वा दर्भमाश्रितेनाग्निना । (गो०)

तेरी इस आत्मश्लाघा के उत्तर में यद्यपि मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ, तथापि मैं तुझसे अब और कुछ कहना नहीं चाहता— क्योंकि (कहने सुनने में व्यर्थ समय निकला जाता है और) यदि सूर्यास्त हो गया तो युद्ध में विघ्न पड़ेगा ॥ २३ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते ।
त्वद्विनाशात्करोम्येष तेषामास्रप्रमार्जनम् ॥ २४ ॥

तूने जो चौदह हज़ार राक्षसों को मारा है, सो अब मैं तुझे मार कर, उनकी विधवा स्त्रियों और अनाथ बच्चों के आँसू पोछूँगा ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धस्तां गदां परमाङ्गदः[1] ।
खरश्चिक्षेप रामाय प्रदीप्तामशनिं यथा ॥ २५ ॥

यह कह कर, खर ने अत्यन्त कुपित हो, सुवर्ण के बंदों से बँधी हुई, इन्द्र के वज्र के समान, देदीप्यमान गदा, श्रीराम के ऊपर फेंकी ॥ २५ ॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीप्ता महती गदा ।
भस्म वृक्षांश्च गुल्मांश्च कृत्वागात्तत्समीपतः ॥ २६ ॥

खर की फेंकी हुई वह चमचमाती बड़ी भारी गदा, अगल बगल के वृक्षों और लता गुल्मों को भस्म करती हुई, श्रीरामचन्द्र जी के पास आ पहुँची ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं ज्वलितां मृत्युपाशोपमां गदाम् ।
अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः ॥ २७ ॥

---

१ परमाङ्गदः—कनकवलयानि यस्यास्तां प्रसिद्धांहस्तस्यागदां । (रा०)

तब श्रीरामचन्द्र जी ने उस चमचमाती और मृत्युपाश के समान गदा के, आकाश ही में मार बाणों के टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ २७ ॥

सा विकीर्णा शरैर्भग्ना पपात धरणीतले ।
गदा मन्त्रौषधबलैर्व्यालीव विनिपातिता ॥ २८ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

बाणों से चूर चूर हो कर, वह पृथिवी पर वैसे ही गिर पड़ी, जैसे मंत्र और ओषधि के प्रभाव से नागिन गिर पड़ती है ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रिंशः सर्गः

—:*:—

भित्त्वा तु तां गदां बाणै राघवो धर्मवत्सलः ।
स्मयमानः[1] खरं वाक्यं संरब्ध[2]मिदमब्रवीत् ॥१॥

धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी उस गदा को बाणों से नष्ट कर, उपहास करते हुए उस घबड़ाये हुए खर से यह बोले ॥ १ ॥

[नोट—"धर्मवत्सल" विशेषण श्रीरामचन्द्र जी के लिये इस लिये यहाँ दिया गया है कि, श्रीरामचन्द्र जी "निरायुध" शत्रु का वध करना धर्मविरुद्ध समझते हैं ।]

एतत्ते बलसर्वस्वं दर्शितं राक्षसाधम ।
शक्तिहीनतरो मत्तो वृथा त्वमवगर्जसि ॥ २ ॥

---

१ स्मयमानः—परिहसन्नित्यर्थः । (गो०) संरब्धं—भ्रान्तचित्तखरविशेषणं, "संरम्भः सम्भ्रमे कोपे" इत्यमरः । (गो०)

हे राक्षसाधम ! (क्या) तेरा सब बल इतना ही था, जो तूने अभी दिखलाया । (किन्तु आश्चर्य है कि,) मुझसे बल में न्यून होने पर भी, मतवाले की तरह तू वृथा ही डींग मारता है ॥ २ ॥

एषा बाणविनिर्भिन्ना गदा भूमितलं गता ।
अभिधान[1]प्रगल्भस्य[2] तव प्रत्यरिघातिनी[3] ॥ ३ ॥

बढ़ बढ़ कर बातें मारने वाले, तुझ ढीठ की, शत्रुनाशिनी यह गदा, मेरे बाणों से चूर हो , पृथिवी पर पड़ी है ॥ ३ ॥

यत्त्वयोक्तं विनष्टानामहमास्रप्रमार्जनम् ।
राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः ॥ ४ ॥

तूने जो कहा था कि, "मैं मरे हुए राक्षसों की विधवाओं और अनाथ बच्चों के आंसू पोंछूँगा" सो तेरी वह बात भी झूठी हो गयी ॥ ४ ॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य रक्षसः ।
प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा ॥ ५ ॥

जिस प्रकार गरुड़ जी ने अमृत को हरा था, उसी प्रकार मैं भी नीच, ओछे स्वभाव वाले, झूठा व्यवहार करने वाले, तुझ राक्षस के प्राण (अभी) हरता हूँ ॥ ५ ॥

अद्य ते च्छिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदभूषितम् ।
विदारितस्य मद्बाणैर्मही पास्यति शोणितम् ॥ ६ ॥

मेरे बाणों से विदारित हो, जब तेरा सिर कट जायगा, तब तेरे गले के झाग सहित रक्त को पृथिवी आज पान करेगी ॥ ६ ॥

---

१ अभिधाने—वचसि । (गो०) २ प्रगल्भस्य—धृष्टस्य । (गो०)
३ प्रत्यरिघातिनी—अरीनरीन् प्रतिघातिनी गदा । (गो०)

पांसुरूषितसर्वाङ्गः स्रस्तन्यस्तभुजद्वयः ।
स्वप्स्यसे गां समालिङ्ग्य दुर्लभां प्रमदामिव ॥ ७ ॥

अभी तू धूल धूसरित हो और अपनी दोनों भुजाओं को फैला कर, भूमि को वैसे ही आलिङ्गन किये हुए सोवेगा, जैसे कोई कामी पुरुष किसी दुर्लभ स्त्री को आलिङ्गन कर के सोता है ॥ ७ ॥

प्रवृद्धनिद्रे[1] शयिते त्वयि राक्षसपांसने ।
भविष्यन्त्यशरण्यानां[2] शरण्या[3] दण्डका इमे ॥ ८ ॥

अरे राक्षसाधम ! जब तू दीर्घ निद्रा में सो जायगा, (अर्थात् मर जायेगा) तब अरक्षित ऋषियों के लिये यह दण्डकवन, सुख से रहने योग्य स्थान हो जायगा ॥ ८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने[4] तव राक्षस मच्छरैः ।
निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने ॥ ९ ॥

जब मेरे बाणों से यह जनस्थान राक्षसशून्य हो जायगा, तब मुनि लोग इस वन में निर्भय हो, सर्वत्र आ जा सकेंगे ॥ ९ ॥

अद्य विप्रसरिष्यन्ति राक्षस्यो हतबान्धवाः ।
बाष्पार्द्रवदना दीना भयादन्यभयावहाः ॥ १० ॥

दूसरों को भयभीत करने वाली राक्षसियां, अपने सम्बन्धियों के मारे जाने के कारण, दीनभाव से रोती हुई और भयभीत हो, आज यहां से भाग जायगी ॥ १० ॥

---

१ प्रवृद्धनिद्रे—दीर्घनिद्रे । (गो०) २ अशरण्यानां—ऋष्यादीनामगतीनां । (गो०) ३ शरण्याः—सुखावासभूताः (गो०) ४ हतं निवृत्तं । स्थानं—राक्षसस्थितिर्यस्मात् । (शि०)

अद्य शोकरसज्ञास्ता भविष्यन्ति निरर्थकाः ।
अनुरूपकुलाः पत्न्यो यासां त्वं पतिरीदृशः ॥ ११ ॥

जिन राक्षसियों के तुम जैसे दुराचारी पति हैं, वे अपने कुल के अनुरूप दुराचारिणी राक्षसियां, आज शोकरस का आस्वादन कर, हीनवीर्य हो जायँगी। अर्थात् अब वे उपद्रव न करेंगी ॥ ११ ॥

नृशंस नीच क्षुद्रात्मन्नित्यं ब्राह्मणकण्टक ।
यत्कृते शङ्कितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः ॥ १२ ॥

रे निष्ठुर! रे नीच! रे क्षुद्र बुद्धि वाले! अरे ब्राह्मणों को सदा सताने वाले! तुम जैसे लोगों के डर ही से मुनि लोग निःशङ्क हो हवन नहीं करने पाते ॥ १२ ॥

तमेवमभिसंरब्धं[1] ब्रुवाणं राघवं रणे ।
खरो निर्भर्त्सयामास रोषात्खरतरस्वनः ॥ १३ ॥

जब कुपित हो श्रीरामचन्द्र जी ने खर से ऐसे वचन कहे; तब खर भी क्रोध में भर, उच्चस्वर से श्रीरामचन्द्र जी को दुर्वादिक कहता हुआ बोला ॥ १३ ॥

दृढं[2] खल्ववलिप्तोसि[3] भयेष्वपि च निर्भयः ।
वाच्यावाच्यं ततो हि त्वं मृत्युवश्यो न बुध्यसे ॥ १४ ॥

निश्चय ही तू बड़ा घमंडी है। इसीसे तू भय रहने पर भी निर्भयसा जान पड़ता है। तेरी मृत्यु निकट है। इसीसे तू बोलते समय यह नहीं समझ सकता कि, क्या कहना चाहिये और क्या नहीं ॥ १४ ॥

---

१ तमेवमभिसंरब्ध—एवं वचोब्रुवाणम् । (शि०) २ दृढं—निश्चितं । (श्री०) ३ अवलिप्तोसि—गर्वितोसि । (गो०)

कालपाशपरिक्षिप्ता भवन्ति पुरुषा हि ये ।
कार्याकार्यं न जानन्ति ते निरस्तषडिन्द्रियाः ॥ १५ ॥

जो लोग शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनकी अन्तःकरणादि छःओं इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसीसे उनको करने अनकरने कामों का ज्ञान नहीं रहता ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुध्य भ्रुकुटीं ततः ।
स ददर्श महासालमविदूरे निशाचरः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी से इस प्रकार कह और भौंहें सकोड़, खर ने पास ही साल का एक बहुत बड़ा वृक्ष देखा ॥ १६ ॥

रणे प्रहरणस्यार्थे सर्वतो ह्यवलोकयन् ।
स तमुत्पाटयामास संदश्य दशनच्छदम् ॥ १७ ॥

उसने युद्ध करने के लिये शस्त्र की खोज में अपने चारों ओर निगाह डाली, (किन्तु जब उसे अन्य कोई शस्त्र अपने योग्य न देख पड़ा, तब) उसने किचकिचा कर उस वृक्ष को उखाड़ा ॥ १७ ॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनद्य च महाबलः ।
राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

और घोर गर्जना कर, दोनों भुजाओं से उस वृक्ष को, श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्य कर और यह कह कर कि, "बस अब तुम मारे गये" फेंका ॥ १८ ॥

तमापतन्तं बाणौघैश्छित्त्वा रामः प्रतापवान् ।
रोषमाहारयत्तीव्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥ १९ ॥

प्रतापी श्रीरामचन्द्र जी ने उस साल वृक्ष को अपनी ओर आते देख, बाण मार कर उसके खण्ड खण्ड कर डाले और क्रोध में भर खर को मार डालने के लिये तीव्र बाण निकाले ॥ १९ ॥

जातस्वेदस्ततो रामो रोषाद्रक्तान्तलोचनः ।
निर्बिभेद सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥ २० ॥

उस समय मारे क्रोध के श्रीराम जी का शरीर पसीने से तर और उनके नेत्र ख़ून की तरह लाल, हो गये। उन्होंने एक हज़ार बाण खर के मारे ॥ २० ॥

तस्य बाणान्तरा[1]द्रक्तं बहु सुस्राव फेनिलम्[2] ।
गिरेः प्रस्रवणस्येव तोयधारापरिस्रवः[3] ॥ २१ ॥

उन बाणों के घावों में से फेनयुक्त रक्त की धारें उसी प्रकार बहने लगीं, जिस प्रकार पहाड़ी झरनों से पानी की धारें बहती हैं ॥ २१ ॥

विह्वलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे ।
मत्तो रुधिरगन्धेन तमेवाभ्यद्रवद्द्रुतम् ॥ ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने खर को उस युद्ध में, बाणों के आघात से व्याकुल कर दिया। तब तो वह (अपने शरीर से निकलते हुए) रक्त की गन्ध से मतवाला हो, बड़े वेग से श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटा ॥ २२ ॥

तमापतन्तं संरब्ध[4] कृतास्त्रो रुधिराप्लुतम् ।
अपासर्पत्प्रतिपदं[5] किञ्चित्त्वरितविक्रमः ॥ २३ ॥

---

१ बाणान्तरात्—बाणक्षतविवरात् । (गो०) २ फेनिलं—फेनवत् । (गो०) ३ परिस्रवः—प्रवाहः । (गो०) ४ संरब्धं—सम्भ्रान्तं । (गो०) ५ प्रतिपदं—अस्त्र मोचनप्रतिकूलं । (गो०)

खर को, क्रुद्ध और खून में डूबा हुआ अपनी ओर आते देख, और उस पर अस्त्र छोड़ने की घात न पा, श्रीरामचन्द्र जी तुरन्त कुछ पीछे हट गये ॥ २३ ॥

[नोट— 'श्रीरामचन्द्र जी का दो चार पग पीछे हटना खर के भय से नहीं, किन्तु अस्त्र चलाने के लिये पर्याप्त अन्तर प्राप्त करने के लिये था।]

ततः पावकसङ्काशं वधाय समरे शरम् ।
खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम् ॥ २४ ॥

युद्ध में खर का वध करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी ने दूसरे ब्रह्मदण्ड के समान और अग्नि तुल्य बाण (अपने तरकस से) निकाला ॥ २४ ॥

स तं दत्तं मघवता सुरराजेन धीमता ।
सन्दधे चापि धर्मात्मा मुमोच च खरं प्रति ॥ २५ ॥

यह बाण अगस्त्य जी को धीमान् इन्द्र ने दिया था, (और अगस्त्य से श्रीरामचन्द्र जी को मिला था,) धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वही बाण धनुष पर रख, खर के ऊपर छोड़ा ॥ २५ ॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्घातसमनिस्वनः ।
रामेण धनुरायम्य खरस्योरसि चापतत् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष को तान कर जब बाण छोड़ा, तब वह बाण वज्र के समान महानाद करता हुआ खर की छाती में जा कर लगा ॥ २६ ॥

स पपात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना ।
रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथान्तकः ॥ २७ ॥

उस बाण से निकले अग्नि से खर दग्ध हो कर, पृथिवी पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे श्वेतारण्य में रुद्र ने अपने तृतीय नेत्र के अग्नि से अन्तकासुर को दग्ध कर, गिराया था ॥ २७ ॥

[नोट—कूर्मपुराण के उत्तरखण्ड के ३६ वें अध्याय में लिखा है कि, परमशैव श्वेत नाम के एक राजर्षि कालञ्जर पर्वत पर जप तप कर रहे थे; तब अन्तकासुर ने उन्हें मार डालने के लिये, उन पर आक्रमण किया। उस समय भक्तवत्सल शिव जी ने अपने बांए पैर के आघात से अन्तकासुर को मार डाला था। (रा०)]

स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा ।
वलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः ॥ २८ ॥

जैसे वज्र से वृत्तासुर, फेन से नमुचि, और इन्द्र के वज्र से वलि मारे गये, वैसे ही खर भी श्रीरामचन्द्र जी के बाण से मर कर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २८ ॥

ततो राजर्षयः सर्वे सङ्गताः परमर्षयः[1] ।
सभाज्य[2] मुदिता राममिदं वचनमब्रुवन् ॥ २९ ॥

तब सब राजर्षि और ब्रह्मर्षि एकत्र हो और प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास गये और उनका पूजन कर, उनसे यह बोले ॥२९॥

एतदर्थं महाभाग* महेन्द्रः पाकशासनः ।
शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः ॥ ३० ॥

इसी उद्देश्य से पाकशासन महेन्द्र शरभङ्ग जी के पुण्याश्रम में आये थे ॥ ३० ॥

आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ।
एषां वधार्थं क्रूराणां रक्षसां पापकर्मणाम् ॥ ३१ ॥

और इन क्रूरकर्मा पापी राक्षसों के वध के लिये ही यत्नपूर्वक महर्षिगण आपको यहाँ लाये थे ॥ ३१ ॥

---

१ परमर्षयः—महर्षयः । (गो०) २ सभाज्य—सम्पूज्य । (गो०)

* पाठान्तरे—" महातेजा " ।

तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ।
सुखं धर्मं चरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः ॥ ॥ ३२ ॥

हे दशरथात्मज ! सो हमारा यह काम आपने कर दिया । अब इस दण्डकवन में महर्षि लोग सुख से धर्मानुष्ठान किया करेंगे ॥ ३२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह सङ्गताः ।
दुन्दुभींश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥ ३३ ॥

इतने ही में देवता लोग चारणों को साथ लिये हुए आये और उन लोगों ने नगाड़े बजा कर चारों ओर फूलों की वर्षा की ॥ ३३ ॥

रामस्योपरि संहृष्टा ववृषुर्विस्मितास्तदा ।
अर्धाधिकमुहूर्तेन[1] रामेण निशितैः शरैः ॥ ३४ ॥

फिर हर्षित हो और श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर पुष्पों की वृष्टि कर, वे विस्मित हुए कि, तीन ही घड़ी में अपने पैने बाणों से ॥३४॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
खरदूषणमुख्यानां निहतानि महाहवे ॥ ३५ ॥

उस महायुद्ध में खर दूषणादि मुख्य राक्षसों के सहित, श्रीरामचन्द्र ने घोर कर्म करने वाले १४ हज़ार राक्षसों को (कैसे) मार डाला ॥ ३५ ॥

अहो वत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः ।
अहो वीर्यमहो दाक्ष्यं[2] विष्णोरिव हि दृश्यते ॥ ३६ ॥

---

१ अर्धाधिक मुहूर्तेन—घटिकात्रयेण । (गो०) २ दाक्ष्यं—सर्व संहारचातुर्यं । (गो०)

विदितात्मा श्रीरामचन्द्र का यह कर्म बड़ा भारी है। आहा इनका यह पराक्रम और सर्व-संहार-चातुर्य विष्णु के तुल्य देख पड़ता है ॥ ३६ ॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम् ।
एतस्मिन्नन्तरे[1] वीरो लक्ष्मणः सह सीतया ॥ ३७ ॥

यह कह कर, वे सब देवता जहाँ से आये थे, वहाँ लौट कर चले गये। इसी बीच में शूरवीर लक्ष्मण, सीता जी को साथ लिये हुए ॥ ३७ ॥

गिरिदुर्गाद्विनिष्क्रम्य संविवेशाश्रमं सुखी[2] ।
ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३८ ॥

गिरिगुहा से निकल कर और श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से प्रसन्न होते हुए आश्रम में पहुँचे। तदनन्तर विजयी श्रीरामचन्द्र जी की महर्षियों ने पूजा की ॥ ३८ ॥

प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः ।
तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ॥ ३९ ॥

फिर लक्ष्मण जी से पूजित हो, वीरवर श्रीरामचन्द्र जी ने आश्रम में प्रवेश किया। शत्रुहन्ता एवं महर्षियों को आनन्द देने वाले श्रीरामचन्द्र जी को देख ॥ ३९ ॥

बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे ।
मुदा परमया युक्ता दृष्ट्वा रक्षोगणान्हतान् ।
रामं चैवाव्यथं दृष्ट्वा तुतोष जनकात्मजा ॥ ४० ॥

---

१ अन्तरे—अवसरे। (गो०) २ सुखी—रामपराक्रमदर्शनजन्यसन्तोषवान्। (गो०)

जनकनन्दिनी सीता जी प्रसन्न हुईं और राक्षसों को मरा हुआ देख, जानकी जी ने परम सुख माना। फिर श्रीरामचन्द्र जी को विथा रहित अथवा निरापद देख, जानकी जी सन्तुष्ट हुई ॥ ४० ॥

ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं
सभाज्यमानं मुदितैर्महर्षिभिः ।
पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥ ४१ ॥

इति त्रिंशः सर्गः ॥

राक्षस समूह को मर्दन करनेवाले और प्रसन्नचित्त महर्षियों द्वारा पूजित श्रीरामचन्द्र को देख, चन्द्रवदनी जनकनन्दिनी सीता प्रसन्न हुईं और पुनः श्रीरामचन्द्र जी को गले लगाया ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का तीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकत्रिंशः सर्गः

—*—

त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः ।
प्रविश्य लङ्कां वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर अकम्पन नामक राक्षस शीघ्रता पूर्वक जनस्थान से लङ्का को गया और वहाँ जा कर, रावण से बोला ॥ १ ॥

जनस्थानस्थिता राजन्राक्षसा बहवो हताः ।
खरश्च निहतः संख्ये कथञ्चिदहमागतः ॥ २ ॥

---

१ कथञ्चिदिति — जीवेषधारणेनेति भावः। (गो०)

हे राजन्! जनस्थान में रहने वाले खर समेत बहुत से राक्षस युद्ध में मारे गये। मैं किसी तरह जीता जागता यहाँ आया हूँ॥ २॥

[नोट—भूषणटीकाकार ने "किसी तरह" का भाव यह दर्शाया है कि, अकम्पन् स्त्रीवेष धारण कर भागा था।]

एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः।

अकम्पनमुवाचेदं निर्दहन्निव चक्षुषा॥ ३॥

अकम्पन के ये वचन सुन, रावण के नेत्र क्रोध के मारे लाल हो गये और वह अकम्पन से त्योरी चढ़ा ऐसे बोला, मानों उसे नेत्राग्नि से भस्म ही कर देगा॥ ३॥

केन रम्यं जनस्थानं हतं मम परासुना[1]।

को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं[2] चाधिगमिष्यति॥ ४॥

किस गतायु ने मेरे उस रमणीय जनस्थान को ध्वंस कर दिया! किसकी यह इच्छा हुई है कि, वह त्रिलोकी में न रहने पावे॥ ४॥

न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम्।

प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन न विष्णुना॥ ५॥

मुझे चिढ़ा कर, इन्द्र, यम, कुवेर और विष्णु भी सुख से नहीं रह सकते॥ ५॥

कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम्।

मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे॥ ६॥

क्योंकि मैं काल का भी काल हूँ और अग्नि को भी भस्म कर सकता हूँ। अधिक क्या मैं मृत्यु को भी मरणशील बना सकता हूँ॥ ६॥

दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ।

वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमहमुत्सहे॥ ७॥

---

१ परासुना—परागत प्राणेन। (शि०) २ गतिं—स्थितिं। (गो०)

क्रुद्ध होने पर, मैं अपने तेज से अग्नि और सूर्य को भी दग्ध कर सकता हूँ और अपने वेग से वायु का वेग नष्ट कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः ।
भयात्सन्दिग्धया[1] वाचा रावणं याचतेऽभयम् ॥ ८ ॥

रावण को इस प्रकार क्रुद्ध देख, अकम्पन बहुत डरा और हाथ जोड़ अस्पष्ट अक्षरों से युक्त शब्दों में, अर्थात् लड़खड़ाती ज़बान से उसने अभयदान माँगा ॥ ८ ॥

दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसांवरः ।
स विश्रब्धोऽब्रवीद्वाक्यमसन्दिग्धमकम्पनः ॥ ९ ॥

तब राक्षसश्रेष्ठ रावण ने अकम्पन को अभय प्रदान किया। तब रावण के अभयदान पर विश्वास कर, अकम्पन ने साफ साफ समस्त वृत्तान्त कहा ॥ ९ ॥

पुत्रो दशरथस्यास्ति सिंहसंहननो युवा ।
रामो नाम वृषस्कन्धो वृत्तायतमहाभुजः ॥ १० ॥
वीरः पृथुयशाः श्रीमानतुल्यबलविक्रमः ।
हतं तेन जनस्थानं खरश्च सहदूषणः ॥ ११ ॥

सिंह के समान सुन्दर शरीरावयव वाले, युवावस्था को प्राप्त, ऊँचे कन्धों वाले, गोल एवं लंबी भुजाओं वाले, वीर, महायशस्वी, सुस्वरूप, और अतुलित बल पराक्रम वाले श्रीरामचन्द्र ने, जो महाराज दशरथ के पुत्र हैं, जनस्थान में आ कर, खर और दूषण को मारा है ॥ १० ॥ ११ ॥

---

१ सन्दिग्धया—सन्दिग्धाक्षरया। (गो०) २ याचते—अयाचत। (गो०)

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।
नागेन्द्र[1] इव निःश्वस्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

राक्षसेश्वर रावण, अकम्पन के वचन सुन, सर्पेन्द्र की तरह फुंफकार छोड़ता हुआ बोला ॥ १२ ॥

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह ।
उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकम्पन ॥ १३ ॥

हे अकम्पन ! तू यह तो बतला कि, क्या वह राम देवराज इन्द्र और सब देवताओं को साथ ले, जनस्थान में आया है ? ॥ १३ ॥

रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः ।
आचचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः ॥ १४ ॥

रावण के इस प्रश्न के उत्तर में अकम्पन रावण से श्रीरामचन्द्र जी के बल विक्रम का बखान करता हुआ, पुनः बोला ॥ १४ ॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।
दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः पुरन्दरसमो युधि ॥ १५ ॥

हे रावण ! श्रीरामचन्द्र बड़ा तेजस्वी और धनुषधारियों में श्रेष्ठ है। युद्ध में दिव्यास्त्रों के चलाने में उसकी इन्द्र की तरह सामर्थ्य है ॥ १५ ॥

तस्यानुरूपो बलवान्रक्ताक्षो दुन्दुभिस्वनः ।
कनीयाँल्लक्ष्मणो नाम भ्राता शशिनिभाननः ॥ १६ ॥

चन्द्रमा के समान मुख वाला उसका छोटा भाई लक्ष्मण है। वह राम के समान बली है। उसके बोलने का शब्द नगाड़े के शब्द की तरह गम्भीर है और उसके दोनों नेत्र लाल रंग के हैं ॥ १६ ॥

---

1 नागेन्द्र—सर्पेन्द्र। (गो०)

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा ।
श्रीमान्राजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम् ॥ १७ ॥

जैसे पवन की सहायता से अग्नि वन को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार श्रीमान् राजश्रेष्ठ राम ने अपने भाई के साथ जनस्थान को उजाड़ा है ॥ १७ ॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा ।
शरा रामेण तूत्सृष्टा रुक्मपुङ्खाः पतत्रिणः ॥ १८ ॥

राम की सहायता को महानुभाव देवता नहीं आये थे । इस विषय में आप और कुछ सोच विचार न करें । क्योंकि श्रीरामचन्द्र ने उस युद्ध में सुवर्ण पुंख युक्त ऐसे बाण छोड़े थे ॥ १८ ॥

सर्पाः पञ्चानना[1] भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् ।
येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्शिताः[2] ॥ १९ ॥
तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् ।
इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ ॥ २० ॥

जो सर्प बन और मुँह फाड़ राक्षसों को खा गये । उन बाणों से भयभीत हो, राक्षस लोग जब भागते, तब जहाँ जहाँ वे जाते वहाँ वहाँ वे श्रीराम को सामने खड़ा पाते थे । हे अनघ ! इस प्रकार राम ने तुम्हारा जनस्थान ध्वस्त किया ॥ १९ ॥ २० ॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।
जनस्थानं गमिष्यामि हन्तुं रामं सलक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

अकम्पन का वचन सुन, रावण बोला—मैं राम और लक्ष्मण को मारने के लिये जनस्थान जाऊँगा ॥ २१ ॥

---

१ पञ्चाननाः—विस्तृताननाः (गो०) २ भयकर्शिताः—भयपीडिताः । (गो०)

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः ।
शृणु राजन्यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम् ॥ २२ ॥

रावण की यह बात सुन, अकम्पन बोला—हे राजन्! श्रीरामचन्द्र जैसे चरित्रवान्, बली, और पुरुषार्थी हैं, सो मैं कहता हूँ; आप उसे सुनिये ॥ २२ ॥

असाध्यः[1] कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः ।
आपगायाः सुपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः ॥ २३ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जब क्रुद्ध हों तब किसी में ऐसी शक्ति नहीं, जो पराक्रम से उनको जीत सके। वे बाणविद्या में ऐसे पटु हैं कि, जल से लबालब भरी नदी के प्रवाह के वेग को, वे अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥ २३ ॥

सतारग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्[2] ।
असौ रामस्तु मज्जन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तरैयों, नवग्रह, और सत्ताइसों नक्षत्रों सहित आकाशमण्डल को खण्ड खण्ड कर सकते हैं। डूबती हुई पृथिवी को भी श्रीमान् रामचन्द्र उबार सकते हैं ॥ २४ ॥

भित्त्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्लावयेद्विभुः ।
वेगं वाऽपि समुद्रस्य वायुं वा विधमेच्छरैः[3] ॥ २५ ॥

और यदि वे चाहें तो समुद्र की वेलाभूमि (तट की भूमि) को तोड़ कर, सारे संसार को जलमग्न कर सकते हैं। (इसी प्रकार) वे समुद्र अथवा पवन का वेग अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥ २५ ॥

---

१ असाध्यः—अनिग्राह्यः । (गो०) २ अवसादयेत्—विशीर्णंकुर्यात् । (गो०) ३ विधमेत्—रोधेत् । (गो०)

संहृत्य वा पुनर्लोकान्विक्रमेण महायशाः ।
शक्तः स पुरुषव्याघ्रः स्रष्टुं पुनरपि प्रजाः ॥ २६ ॥

पुरुषश्रेष्ठ एवं महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी अपने पराक्रम से समस्त लोकों का संहार कर, फिर नयी सृष्टि रच सकते हैं ॥ २६ ॥

न हि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं त्वया युधि ।
रक्षसां वाऽपि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव ॥ २७ ॥

हे दशग्रीव! तुम या तुम्हारे राक्षस युद्ध में राम को परास्त नहीं कर सकते। जैसे पापी लोग स्वर्ग नहीं पा सकते ॥ २७ ॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि ।
अयं तस्य वधोपायस्तं [1]ममैकमनाः[2] शृणु ॥ २८ ॥

मेरी जान में तो सब देवता और असुर मिल कर भी उन्हें नहीं मार सकते। किन्तु उनके मारने का मैं उपाय बतलाता हूँ, उसे ध्यान दे कर, सुनिये ॥ २८ ॥

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा[3] ।
श्यामा[4] समविभक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं[5] रत्नभूषिता ॥ २९ ॥

उनके साथ उनकी भार्या सीता है। वह संसार की समस्त स्त्रियों से चढ़ बढ़ कर है। उसकी पतली कमर है और उसके शरीर के अन्य सब अँग भी सुन्दर और सुडौल हैं। इस समय उसकी चढ़ती हुई जवानी है। वह स्त्रियों में श्रेष्ठ और रत्न जटित भूषणों से भूषित है ॥ २९ ॥

---

१ मम—मत्तः (गो०) २ एकमनाः—सावधानाः (गो०) ३ सुमध्यमा—शोभन कटि विशिष्टं। (शि०) ४ श्यामा—यौवनमध्यस्था। (गो०) ५ स्त्रीरत्नं—स्त्रीश्रेष्ठा । (गो०)

नैव देवी[1] न गन्धर्वी नाप्सरा नाऽपि दानवी।
तुल्या सीमन्तिनी[2] तस्या मानुषीषु कुतो भवेत् ॥ ३० ॥

सौन्दर्य में उनकी स्त्री का सामना न तो किसी देवता की कोई स्त्री, न किसी गन्धर्व की कोई स्त्री, न कोई अप्सरा और न किसी दानव की स्त्री कर सकती है। फिर भला मनुष्य की स्त्री तो उसके सौन्दर्य के समान हो ही कैसे सकती है ॥ ३० ॥

तस्यापहर भार्यां त्वं प्रमथ्य तु महावने।
सीतया रहितः कामी रामो हास्यति जीवितम् ॥ ३१ ॥

सो तुम उस महावन में जा, जैसे बने वैसे छलबल से रामचन्द्र की भार्या को हर लाओ। सीता रहित हो, रामचन्द्र जो कामी हैं, अपने प्राण (आप) छोड़ देंगे ॥ ३१ ॥

अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः।
चिन्तयित्वा महाबाहुरकम्पनमुवाच ह ॥ ३२ ॥

महाबाहु राक्षसेश्वर रावण को अकम्पन का बतलाया हुआ यह उपाय पसंद आया, वह सोच विचार कर अकम्पन से बोला ॥ ३२ ॥

बाढं काल्यं गमिष्यामि ह्येकः सारथिना सह।
आनयिष्यामि वैदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम् ॥ ३३ ॥

बहुत अच्छा! कल मैं अकेला सारथी को अपने साथ ले कर, जाऊँगा और जानकी को हर्षित हो, इस लङ्कापुरी में ले आऊँगा ॥ ३३ ॥

---

१ देवी—देवस्त्री। (गो०) २ सीमन्तिनी—स्त्री। (गो०)

अथैवमुक्त्वा प्रययौ खरयुक्तेन रावणः ।
रथेनादित्यवर्णेन दिशः सर्वा प्रकाशयन् ॥ ३४ ॥

दूसरे दिन रावण सूर्य के समान चमकते हुए रथ पर, जिसमें खच्चर जुते हुए थे, सवार हो, सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ, चला ॥ ३४ ॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्षत्रपथगो महान् ।
सञ्चार्यमाणः शुशुभे जलदे चन्द्रमा इव ॥ ३५ ॥

राक्षसराज का वह आकाशगामी महारथ, नक्षत्र मार्ग से चलता हुआ ऐसा शोभित हुआ, जैसे मेघमण्डल में चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ३५ ॥

स मारीचाश्रमं प्राप्य ताटकेयमुपागमत् ।
मारीचेनार्चितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः॥ ३६ ॥

रावण, ताड़का के पुत्र मारीच के आश्रम में पहुँच, मारीच के पास गया। मारीच ने मनुष्यलोक में मिलना जिनका दुर्लभ था, ऐसे खाने पीने के पदार्थों को सामने रख रावण का आतिथ्य किया ॥ ३६ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया[2] वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

और मारीच ने स्वयं बैठने को आसन और पैर धोने को जल दे, रावण का सत्कार किया। तदनन्तर मारीच ने रावण से प्रयोजन की बात कही ॥ ३७ ॥

---

१ अमानुषैः – मनुष्यलोकदुर्लभैः । २ (गो०) अर्थोपहितया—प्रयोजनेन विशिष्टया । गो०)

कच्चित्सुकुशलं राजँल्लोकानां[1] राक्षसेश्वर।
आशङ्के नाथ जाने त्वं यतस्तूर्णमिहागतः॥ ३८॥

हे राजन्! हे राक्षसेश्वर! कहिये राक्षस लोग सकुशल तो हैं? हे नाथ! हड़बड़ा कर यहाँ आपके आने से, मुझे राक्षसों के सकुशल होने में शङ्का होती है॥ ३८॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः।
ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः॥ ३९॥

मारीच द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर, महातेजस्वी और बात-चीत करने में चतुर रावण बोला॥ ३९॥

आरक्षो[2] मे हतस्तात रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
जनस्थानमवध्यं तत्सर्वं युधि निपातितम्॥ ४०॥

बड़े कठिन कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने हमारे जनस्थान के रक्षक खर दूषणादि सब राक्षसों को, जो किसी के मारे नहीं मर सकते थे, युद्ध में मार डाला॥ ४०॥

तस्य मे कुरु साचिव्यं[3] तस्य भार्यापहारणे।
राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत्॥ ४१॥

अतः श्रीराम की स्त्री हर लाने के काम में तुमको मेरी सहायता करनी चाहिये। रावण की यह बात सुन मारीच बोला॥ ४१॥

आख्याता केन सीता सा मित्ररूपेण शत्रुणा।
त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति निन्दितः[4]॥ ४२॥

---

१ लोकानां—राक्षसलोकानां। (गो०) २ आरक्षः—अन्तपालः। (गो०) ३ साचिव्यं—साहाय्यं। (गो०) ४ निन्दितः—तिरस्कृतः। (गो०)

किस मित्ररूप शत्रु ने तुमको सीता का नाम बतलाया है? हे राक्षसशार्दूल! (जिसने तुम्हें यह काम करने की सलाह दी है) उसने ऐसा कर, तुम्हारा तिरस्कार किया है। वह कौन है, जो तुम्हारे ऐश्वर्य को देख प्रसन्न नहीं होता अर्थात् जिसने ऐसी बुरी सलाह तुम्हें दी है, वह तुम्हारे ऐश्वर्य से जलता है॥ ४२॥

सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे।
रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं[1] छेत्तुमिच्छति॥ ४३॥

"सीता को यहाँ ले आओ" यह बात तुमसे किसने कही है? यह मुझे बतलाओ कि, वह कौन है जो समस्त राक्षसों के प्राधान्य को नष्ट करना चाहता है?॥ ४३॥

प्रोत्साहयति कश्चित्त्वां स हि शत्रुरसंशयः।
आशीविषमुखादंष्ट्रामुद्धर्तुं चेच्छति त्वया॥ ४४॥

किसने तुम्हें इस काम के लिये प्रोत्साहित किया है? जिसने तुम्हें इसके लिये प्रोत्साहित किया है, वह निस्सन्देह तुम्हारा शत्रु है। क्योंकि वह तुम्हारे हाथ से विषधर सर्प के मुख से, विषदन्त उखड़वाना चाहता है॥ ४४॥

कर्मणा तेन केनाऽसि कापथं प्रतिपादितः।
सुखसुप्तस्य ते राजन्प्रहृतं केन मूर्धनि॥ ४५॥

यह काम तुमसे करवा कर कौन तुम्हें कुपथ में ले जाना चाहता है? हे राजन्! सुख से सोते हुए, तुम्हारे मस्तक पर किसने प्रहार किया है?॥ ४५॥

मारीच नीचे के श्लोक में श्रीराम को गन्धहस्ती की उपमा देता है।

---

1 शृङ्गं—प्राधान्यं। (गो०)

विशुद्धवंशाभिजनाग्रहस्त-
स्तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः।
उदीक्षितुं रावण नेह युक्तः
स संयुगे राघवगन्धहस्ती[1] ॥४६॥

हे रावण! शुद्धवंशोद्भव, विशुद्ध वंश ही जिनकी लंबी सूंड़ है, प्रताप जिनका मद है, और दोनों लंबी भुजाएँ ही जिनके दोनों दांत हैं, उन राम रूपी मदमत्त हाथी से युद्ध में तुम उसके सामने भी जाने योग्य नहीं हो, लड़ना तो बात ही दूसरी है ॥ ४६ ॥

[नोट—गन्धहस्ती - मदमत्त गज। गन्धहस्ती उसे कहते हैं जिसकी गन्धि मात्र से अन्य हाथी भाग जाते हैं।]

अब नीचे के श्लोक में मारीच श्रीरामचन्द्र की उपमा सिंह से देता है।

असौ रणान्तः स्थितिसन्धिवालो[2]
विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः।
सुप्तस्त्वया बोधयितुं न युक्तः
शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ॥

रणपटुता रूपी पूँछधारी और राक्षसरूपी हिरनों का शिकार करने वाले. तथा पैने पैने बाण रूपी दांत वाले, रामरूपी पुरुष-सिंह को, जो सो रहे हैं, तुम जगाने योग्य नहीं हो ॥ ४७ ॥

नीचे के श्लोक में श्रीरामचन्द्र जी की उपमा पाताल से दी गयी है।

चापावहारे भुजवेगपङ्के
शरोर्मिमाले सुमहाहवौघे।

---

१ गन्धहस्ती — मदगजः यस्य गन्धमात्रेण अन्यगजाः पलायन्ते सगन्धहस्ती। (गो०) २ वालो — लाङ्गूलं। (गो०)

न रामपातालमुखेऽतिघोरे
प्रस्कन्दितुं[1] राक्षसराज युक्तम् ॥ ४८ ॥

धनुष रूपी नक्रों से युक्त, भुजवेगरूपी दल दल से परिपूर्ण, बाण रूपी लहरों से तरङ्गित और महासंग्रामरूपी प्रवाह वाले श्रीरामरूपी घोर पाताल के मुख में कूदने की शक्ति, तुममें नहीं है। अथवा ऐसे भयङ्कर पाताल के मुख में कूदना तुम्हें उचित नहीं है ॥४८॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र
लङ्कां प्रसन्नो भव साधु गच्छ ।
त्वं स्वेषु दारेषु रमस्व नित्यं
रामः सभार्यो रमतां वनेषु[2] ॥ ४९ ॥

अतएव हे लङ्केश्वर! तुम प्रसन्न हो (अर्थात् मेरा कहना मान लो) और लङ्का पर प्रसन्न हो कर (अनुग्रह कर के), सुमार्गगामी हो। सुमार्गगामी हो कर सदा अपनी धर्म पत्नियों के साथ विहार करो और श्रीरामचन्द्र प्रसन्न हो वन में अपनी भार्या के साथ विहार करें ॥ ४९ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः ।
न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम् ॥ ५० ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

मारीच ने जब इस प्रकार कह कर रावण को समझाया, तब रावण लङ्का को लौट कर अपने श्रेष्ठभवन में चला गया ॥ ५० ॥

अरण्यकाण्ड का इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

---

१ प्रस्कन्दितुं—पतितुं। (गो०) २ हे लंकेश्वर! त्वं प्रसीद अतएव लंकां प्रसन्न प्रसादको भव। अतएव साधु सुमार्गं गच्छ प्राप्य हि सुमार्गमेवाहत्वं स्वेषुदारेषु नित्यं रमस्व। स्वभार्यो रामः वनेषु रमताम्। (शि०)

द्वात्रिंशः सर्गः

—*—

ततः शूर्पणखा दृष्ट्वा सहस्राणि चतुर्दश ।
हतान्येकेन रामेण रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १ ॥
दूषणं च खरं चैव हतं त्रिशिरसा सह ।
दृष्ट्वा पुनर्महानादं ननाद जलदो यथा ॥ २ ॥

तदनन्तर जब शूर्पणखा ने देखा कि, अकेले राम ने चौदह हज़ार भीमकर्मा राक्षसों को मार डाला और दूषण, खर तथा त्रिशिरा भी मारे गये; तब वह मेघ की तरह गम्भीर गर्जना करने लगी ॥ १ ॥ २ ॥

सा दृष्ट्वा कर्म रामस्य कृतमन्यैः सुदुष्करम् ।
जगाम परमोद्विग्ना लङ्कां रावणपालिताम् ॥ ३ ॥

जो काम दूसरों से कभी नहीं हो सकता था, उस काम को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा किया हुआ देख, शूर्पणखा बहुत घबड़ानी और रावण की लङ्का को गयी ॥ ३ ॥

सा ददर्श विमानाग्रे[१] रावणं दीप्ततेजसम् ।
उपोपविष्टं सचिवैर्मरुद्भिर्[२]इव वासवम् ॥ ४ ॥

शूर्पणखा ने बड़े तेज से युक्त रावण को पुष्पक विमान के अग्र भाग में मंत्रियों सहित उसी प्रकार बैठा देखा, जिस प्रकार इन्द्र देवताओं सहित बैठते हैं ॥ ४ ॥

---

१ विमानाग्रे—पुष्पक विमानाग्रे । (गो०) २ मरुद्भिः—देवैः । (गो०)

आसीनं सूर्यसङ्काशे काञ्चने परमासने ।
रुक्मवेदिगतं प्राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ५ ॥

सूर्य के समान चमकते हुए सुवर्णनिर्मित श्रेष्ठसिंहासन पर बैठने से, रावण की शोभा वैसी ही रही थी, जैसी कि, सुवर्ण भूषित वेदी पर, प्रज्वलित अग्नि की होती है ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।
अजेयं समरे शूरं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

युद्ध में, देवता, गन्धर्व, भूत, ऋषि, व महात्माओं से अजेय (न जीते जाने योग्य) शूरवीर और काल की तरह मुख खोले ॥ ६ ॥

देवासुरविमर्देषु[1] वज्राशनिकृतव्रणम् ।
ऐरावतविषाणाग्रैरुद्धृष्टकिणवक्षसम् ॥ ७ ॥

देवासुर संग्राम में वज्र के लगने के कारण घाव से युक्त, और छाती में ऐरावत गज के दाँतों के घाव के चिन्हों से भूषित ॥ ७ ॥

विंशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम् ।
विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणशोभितम् ॥ ८ ॥

बीस भुजाओं और दस सीस वाला, देखने योग्य, छत्र चँवर सहित, विशाल छाती वाला, शूर, राजलक्षणों से शोभित ॥ ८ ॥

स्निग्धवैडूर्यसङ्काशं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।
सुभुजं शुक्लदशनं महास्यं पर्वतोपमम् ॥ ९ ॥

चमकीले पन्ने की तरह शरीर की कान्ति से युक्त, विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए, लंबी बाहों और बड़े मुख वाला और पर्वत के समान लंबा ॥ ९ ॥

---

[1] विमर्देषु—युद्धेषु । (गो०)

विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे ।
अन्यैः शस्त्रप्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥ १० ॥

सैकड़ों वार देवताओं के साथ लड़ते समय विष्णु के चक्र से तथा अन्य अनेक महायुद्धों में शस्त्रों से घायल, ॥ १० ॥

आहताङ्गंसमस्तैश्च देवप्रहरणैस्तथा ।
अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम् ॥ ११ ॥

तथा देवताओं के प्रहार से जिसके समस्त अंग घायल थे, अक्षोभ्य समुद्रों को भी क्षुब्ध करने वाला तथा सब कामों को शीघ्र करने वाला, ॥ ११ ॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां सुराणां च प्रमर्दनम् ।
उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिमर्शनम् ॥ १२ ॥

बड़े बड़े पर्वतों को उखाड़ कर फेंकने वाला, देवताओं को मर्दन करने वाला, सब धर्मों की जड़ काटने वाला, परस्त्रीगामी ॥ १२ ॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा ।
पुरीं भोगवतीं प्राप्य पराजित्य च वासुकिम् ॥ १३ ॥

समस्त दिव्यास्त्रों को चलाने वाला, सदा यज्ञों में विघ्न डालने वाला, भोगपुरी में जा, वासुकि को पराजित कर, ॥ १३ ॥

तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः ।
कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम् ॥ १४ ॥

तक्षक को युद्ध में पराजित कर, उसकी प्यारी स्त्री को हर लाने वाला, कैलास पर जा, कुवेर को जीत कर, ॥ १४ ॥

विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः ।
वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं[1] नन्दनं वनम् ॥ १५ ॥

विनाशयति यः क्रोधाद्देवोद्यानानि वीर्यवान् ।
चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ[2] परन्तपौ ॥ १६ ॥

उनका इच्छाचारी पुष्पक विमान छीनने वाला, क्रुद्ध हो दिव्य चैत्ररथ नामक वन को, तथा कुबेर की नलिनी नामक पुष्करिणी को और देवताओं के नन्दनादि उद्यानों का नाश करने वाला, पराक्रमी, उदय होते हुए सूर्य चन्द्र को ॥ १५ ॥ १६ ॥

निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः ।
दश वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥ १७ ॥

दोनों बाहों से निवारण करने वाला, पर्वतशिखर की तरह लंबा, महावन में दस हज़ार वर्ष तप कर, ॥ १७ ॥

पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः ।
देवदानवगन्धर्वपिशाचपतगोरगैः ॥ १८ ॥

अभयं यस्य संग्रामे मृत्युतो[3] मानुषादृते ।
मन्त्रैरभिष्टुतं पुण्यमध्वरेषु[4] द्विजातिभिः ॥ १९ ॥

हविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महाबलः ।
आप्तयज्ञहरं[5] क्रूरं ब्रह्मघ्नं दुष्टचारिणम् ॥ २० ॥

---

१ नलिनीं—कुबेरस्य पुष्करिणीं । (गो०) २ उत्तिष्ठन्तौ—उद्यन्तौ । (गो०) ३ मृत्युतः—मृत्योः । (गो०) ४ अध्वरेषु—यागेषु । (गो०) ५ आप्तयज्ञहरं—आप्तानदक्षिणाकालं प्राप्तान्यज्ञान् हरतीतिमथा । (गो०)

पूर्वकाल में ब्रह्मा जी को अपने मस्तकों को काट कर चढ़ाने वाला, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पों से युद्ध में मृत्यु को प्राप्त न होने वाला; मनुष्यों का तिरस्कार कर, उनके द्वारा मारे जाने का वरदान, न मांगने वाला, यज्ञों में मंत्रों से स्तुति किये गये ब्राह्मणों के पवित्र सोम को नष्ट करने वाला, महाबली, दक्षिणा देने के समय यज्ञ का ध्वंस करने वाला, नृशंस, ब्रह्महत्यारा, दुष्टाचारी ॥ १८ ॥ १६ ॥ २० ॥

कर्कशं निरनुक्रोशं[1] प्रजानामहिते रतम् ।
रावणं सर्वभूतानां सर्वलोकभयावहम् ॥ २१ ॥

कर्कश, दयाशून्य, प्रजाजनों का अहित करने वाला, सब प्राणियों और सब लोकों को भयभीत करने वाला जो रावण था, ॥२१॥

राक्षसी भ्रातरं शूरं सा ददर्श महाबलम् ।
तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ २२ ॥

उस महाबली शूर, अपने भाई को शूर्पणखा ने देखा। वह रावण सुन्दर वस्त्र पहिने हुए था और सुन्दर मालाओं से विभूषित था ॥ २२ ॥

आसने मूपविष्टं च कालकाल[2]मिवोद्यतम् ।
राक्षसेन्द्रं महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम् ॥ २३ ॥

वह आसन पर भली भांति बैठा हुआ था और उस समय वह मृत्यु के मृत्यु की तरह उद्यत सा देख पड़ता था। ऐसे राक्षसराज, महाभाग और पौलस्त्यनन्दन ॥ २३ ॥

---

१ निरनुक्रोशं--निर्दयं । (गो०) २ कालकालं—मृत्योरपिमृत्युं । (गो०)

रावणं शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम् ।
अभिगम्याब्रवीद्वाक्यं राक्षसी भयविह्वला ॥ २३ ॥

शत्रुहन्ता, और मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण के पास जा शूर्पणखा ने भय से व्याकुल हो कहा, ॥ २४ ॥

तमब्रवीद्दीप्तविशाललोचनं
प्रदर्शयित्वा[1] भयमोहमूर्छिता ।
सुदारुणं वाक्यमभीतचारिणी
महात्मना शूर्पणखा विरूपिता ॥ २५ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा विरूपित (शक्ल बिगड़ी हुई) शूर्पणखा अपने कटे हुए कानों और नाक को दिखला चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले रावण से भय और मोह से मोहित हो, निडर सी हो, कठोर वचन बोली ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

—*—

ततः शूर्पणखा दीना[2] रावणं लोकरावणम् ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धा[3] परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

---

१ प्रदर्शयित्वा—स्ववैरूप्यमितिशेषः । (गो०) २ दीना—रामपरिभूतत्वात् । (गो०) ३ संक्रुद्धा—स्वपरिभवदर्शनेपि भ्रातुर्निश्चलतया संक्रुद्धा । (गो०)

तदनन्तर मंत्रियों के बीच बैठे हुए और संसार को रुलाने वाले रावण पर शूर्पणखा क्रुद्ध हुई (क्रुद्ध इसलिये कि, खरदूषण आदि के मारे जाने पर भी वह हाथ पर हाथ धरे बैठा है) और उसने उससे कठोर वचन कहे ॥ १ ॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो[1] निरङ्कुशः[2] ।
समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे ॥ २ ॥

हे रावण ! तू अत्यन्त मतवाला हो, सदा कामपरवश बना रहता है । तूने नीति मर्यादा त्याग दी है । अतएव जो घोर विपत्ति इस समय सामने है और जिसे तुझे जानना चाहिये, उससे तू बेख़बर है ॥ २ ॥

सक्तं ग्राम्येषु[3] भोगेषु कामवृत्तं[4] महीपतिम् ।
लुब्धं न बहु मन्यन्ते श्मशानाग्निमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

देख, जो राजा सदा स्त्री मैथुनादि भोगों में आसक्त, स्वेच्छाचारी और लोभी होता है, उस राजा को, प्रजाजन श्मशान की आग की तरह बहुत नहीं मानते अर्थात् आदर नहीं करते ॥ ३ ॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः ।
स तु वै सह राज्येन तैश्च कार्यैर्विनश्यति ॥ ४ ॥

जो राजा समय पर अपने कार्यों को स्वयं नहीं करता, वह केवल अपने उन कार्यों ही को नष्ट नहीं करता, बल्कि अपने राज्य को भी चौपट कर डालता है ॥ ४ ॥

---

१ स्वैरवृत्तः—स्वतन्त्रः । (गो०) २ निरङ्कुशः—नीतिमर्यादा रहितः ।(शि०)
३ ग्राम्येषु—मैथुनादिषु । (गो०) ४ कामवृत्तं—यथेच्छव्यापारं । (गो०)

[1]अयुक्तचारं [2]दुर्दर्शमस्वाधीनं[3] नराधिपम् ।
वर्जयन्ति नरा दूरान्नदीपङ्कमिव द्विपाः ॥ ५ ॥

जो राजा अयोग्य कार्य करने वाला है, जो समय पर राजसभा में आ कर प्रजाजनों को दर्शन नहीं देता और जो अपनी रानियों के अधीन रहता अथवा दूसरे की कही बातों पर सहसा विश्वास कर लिया करता है; उस राजा को प्रजाजन उसी प्रकार दूर से त्याग देते हैं, जिस प्रकार हाथी नदी के दलदल को दूर से त्याग देते हैं ॥ ५ ॥

ये न रक्षन्ति [4]विषयमस्वाधीना[5] नराधिपाः ।
ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥ ६ ॥

जो राजा अपने हाथ से निकले हुए और पराये हाथ में गये हुए अपने राज्य की रक्षा (अर्थात् अपने अधिकार में) नहीं कर सकते; उन राजाओं की सम्पत्ति की वृद्धि समुद्रस्थित पर्वत की तरह नहीं होती ॥ ६ ॥

आत्मवद्भिर्विगृह्य त्वं देवगन्धर्वदानवैः ।
अयुक्तचारश्चपलः कथं राजा भविष्यसि ॥ ७ ॥

एक तो तू चञ्चल है, दूसरे तू यत्न करने में असावधान है, तीसरे तू दूतों के सञ्चार से हीन है (अर्थात् तेरे चर सर्वत्र नियुक्त नहीं हैं) फिर देवता, गन्धर्व और दानवों से वैर कर, तू किस प्रकार राज्य कर सकता है ॥ ७ ॥

---

१ अयुक्तचारं—अनियोजितचारं । (गो०) २ दुर्दर्शं—उचितकाले सभायां प्रजादर्शनप्रदान रहित । (गो०) ३ अस्वाधीनं—पत्न्यादिपरतंत्रं परप्रत्ययनेय बुद्धिवा (गो०) ४ विषयं—स्वराज्यं । (गो०) ५ अस्वाधीनं—पूर्वं स्वाधीन देशं पश्चात् परायत्त । (रा०)

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस ।
ज्ञातव्यं तु न जानीषे कथं राजा भविष्यसि ॥ ८ ॥

तू बालक की तरह विवेकशून्य और बुद्धिहीन है। इसीसे तुझे जो बात जाननी चाहिये उसे भी तू नहीं जानता, भला फिर किस तरह अपने राज्य की रक्षा कर सकेगा? ॥ ८ ॥

येषां चारश्च कोशश्च नयश्च जयतांवर ।
अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः ॥ ९ ॥

हे जीतनेवालों में श्रेष्ठ! जिन राजाओं के अधीन उनके चर (जासूस), धनागार और राजनीति नहीं है, (अर्थात् जो राजनीति स्वयं न जान कर, अपने मंत्रियों के ऊपर निर्भर हैं) वे राजा साधारण जनों के समान हैं ॥ ९ ॥

यस्मात्पश्यन्ति दूरस्थान्सर्वानर्थान्नराधिपाः ।
चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः ॥ १० ॥

राजा लोग दूर के समस्त वृत्तान्तों को चरों (जासूसों) को नियुक्त कर, उनके द्वारा मानों (स्वयं) देखते रहते हैं। इसीसे वे "दीर्घचक्षु" "दूर दृष्टि वाले", कहलाते हैं ॥ १० ॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्वृतम् ।
स्वजनं तु जनस्थाने[1] हतं यो नावबुध्यसे ॥ ११ ॥

मैं जानती हूँ कि, तूने कहीं भी जासूस नियत नहीं किये और तू साधारण बुद्धि वाले मंत्रियों में उठा बैठा करता है। इसीसे तुझे जनस्थानवासी अपने कुटुम्बियों के नष्ट होने का कुछ भी हाल नहीं मालूम ॥ ११ ॥

---

[1] जनस्थाने—जनस्थानस्थितं। (गो०)

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां क्रूरकर्मणाम् ।
हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः ॥ १२ ॥

खर और दूषण के सहित चौदह हज़ार क्रूरकर्मा (कठोर कर्म करने वाले) राक्षसों को अकेले एक श्रीराम ने मार डाला ॥ १२ ॥

ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ।
धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ १३ ॥

(इतना ही नहीं) अक्लिष्टकर्मा राम ने ऋषियों को अभय (निर्भय) कर दिया, दण्डकवन में शान्ति स्थापित कर दी और जनस्थान को उजाड़ डाला ॥ १३ ॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च रावण ।
विषये स्वे समुत्पन्नं भयं यो नावबुध्यसे ॥ १४ ॥

तू कामलोलुप, मदमत्त और पराधीन होने के कारण, अपने ऊपर आती हुई विपत्ति को नहीं समझता ॥ १४ ॥

तीक्ष्णमल्पप्रदातारं प्रमत्तं गर्वितं शठम् ।
व्यसने सर्वभूतानि नाभिधावन्ति पार्थिवम् ॥ १५ ॥

जो राजा क्रूर स्वभाव वाला, थोड़ा देने वाला अर्थात् कृपण, मदमत्त, अभिमानी और धूर्त होता है, उस राजा को विपत्ति के समय, कोई भी सहायता नहीं देता ॥ १५ ॥

अतिमानिनमग्राह्य[1]मात्म[2]सम्भावितं नरम् ।
क्रोधनं[3] व्यसने[4] हन्ति स्वजनोऽपि महीपतिम् ॥ १६ ॥

---

१ अग्राह्यं सद्भिरितिशेषः । (गो०) २ आत्मना—स्वेनैवबहुमानंप्राप्तः । (गो०) ३ क्रोधनं—अस्थाने क्रोधवन्तं । (गो०) ४ व्यसने—व्यसनेकाले । (गो०)

जो राजा अत्यन्त अभिमानी होता है, जिसे सज्जन लोग पसंद नहीं करते, जो स्वयं अपने को बड़ा प्रतिष्ठित समझता है, जो अनुचित क्रोध करता है, ऐसे राजा के ऊपर दुःख पड़ने पर, उसके निकट सम्बन्धी भी उसका वध करते हैं ॥ १६ ॥

नानुतिष्ठति कार्याणि भयेषु न बिभेति च ।
क्षिप्रं राज्याच्च्युतो दीनस्तृणैस्तुल्यो भविष्यति ॥ १७ ॥

जो राजा अपने कर्तव्य का यथावत् पालन नहीं करता, भय उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता, ऐसा राजा शीघ्र राज्यच्युत होने के कारण दीन हो, तिनके के समान अर्थात् तुच्छ हो जाता है ॥ १७ ॥

शुष्कैः काष्ठैर्भवेत्कार्यं लोष्टैरपि च पांसुभिः ।
न तु स्थानात्परिभ्रष्टैः कार्यं स्याद्वसुधाधिपैः ॥ १८ ॥

सूखी लकड़ी, ढेला और धूल से भी अनेक कार्य हो सकते हैं; किन्तु राज्यभ्रष्ट राजा से कोई काम नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

उपभुक्तं यथा वासः स्रजो वा मृदिता यथा ।
एवं राज्यात्परिभ्रष्टः समर्थोऽपि निरर्थकः ॥ १९ ॥

जैसे पहिना हुआ कपड़ा और मर्दन की हुई माला दूसरे के काम की नहीं, वैसे ही राज्यभ्रष्ट राजा सामर्थ्यवान हो कर भी निरर्थक समझा जाता है ॥ १९ ॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः ।
कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठते चिरम् ॥ २० ॥

और जो राजा इन्द्रियों को अपने वश में कर के, सावधान रहता और अपने तथा दूसरे राज्यों का समस्त वृत्तान्त जानता रहता है,

जो कृतज्ञ (किये हुए उपकार को मानने वाला) और धर्म में रत रहता है, वह बहुत काल तक राजपद पर स्थित रहता है ॥ २० ॥

नयनाभ्यां प्रसुप्तोऽपि जागर्ति नयचक्षुषा ।
व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ॥ २१ ॥

जो राजा आँखों को बंद किये सोते रहने पर भी नीति-शास्त्र रूपी आँखों से जागता रहता है, जिसका क्रोध और प्रसन्नता यथा समय प्रकट होती है अथवा जिसका क्रोध और प्रसन्नता व्यर्थ नहीं जाती, उस राजा का लोग सम्मान करते हैं ॥ २१ ॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः ।
यस्य तेऽविदितश्चारै रक्षसां सुमहान्वधः ॥ २२ ॥

हे रावण ! तू बुद्धिहीन होने के कारण इन सद्गुणों से रहित है। इसीसे तो तुझे इतने बड़े राक्षसों के संहार का जासूसों द्वारा कुछ भी वृत्तान्त न जान पड़ा ॥ २२ ॥

परावमन्ता[1] विषयेषु सङ्गतो
न देशकालप्रविभागतत्त्ववित् ।
अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये
विपन्नराज्यो न चिराद्विपत्स्यसे ॥ २३ ॥

तू शत्रुओं की उपेक्षा करता है और भोग विलास में मस्त रहता है। इसीसे तुझे देश काल के विभागों का तत्त्व नहीं मालूम और इसीसे तेरी बुद्धि में गुण दोष विवेचन की सामर्थ्य नहीं है। अतएव तुझे शीघ्र ही विपदग्रस्त और राज्यभ्रष्ट होना पड़ेगा ॥ २३ ॥

---

[1] परावमन्ता—शत्रुपूपेक्षावान् । (गो०)

इति स्वदोषान्परिकीर्तितांस्तया
समीक्ष्य बुद्ध्या क्षणदाचरेश्वरः ।
धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो
विचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥ २४ ॥

इति त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥

धन, बल, और अभिमान से युक्त राक्षसेन्द्र रावण, शूर्पणखा के बतलाए हुए दोषों को बुद्धि से विचार कर, बहुत देर तक मन ही मन सोचता रहा ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का तेतीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुस्त्रिंशः सर्गः

—:*:—

ततः शूर्पणखां क्रुद्धां ब्रुवन्तीं परुषं वचः ।
अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिपप्रच्छ रावणः ॥ १ ॥

तदनन्तर क्रोध में भर कठोर वचन कहने वाली शूर्पणखा से मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण ने, अत्यन्त क्रुध हो पूँछा ॥ १ ॥

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः ।
किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टः स दुरासदम् ॥ २ ॥

राम कौन है ? किस प्रकार का उसका बल है ? उसका रूप और पराक्रम कैसा है ? ऐसे दुस्तर दण्डकवन में वह क्यों आया है ॥ २ ॥

आयुधं किं च रामस्य निहता येन राक्षसाः ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणस्त्रिशिरास्तथा ॥ ३ ॥

उसने किस आयुध से खर, दूषण और त्रिशिरा सहित १४ हज़ार राक्षसों को युद्ध में मारा ॥ ३ ॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
ततो रामं यथातत्त्वमाख्यातुमुपचक्रमे ॥ ४ ॥

जब राक्षसराज रावण ने इस प्रकार कहा, तब शूर्पणखा मारे क्रोध के संज्ञाहीन हो गयी और श्रीरामचन्द्र जी का यथार्थ वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

दीर्घबाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ।
कंदर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ॥ ५ ॥

वह बोली—दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र दीर्घ बाहु, विशाल नयन चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए हैं, वे कामदेव के समान सुन्दर हैं ॥ ५ ॥

शक्रचापनिभं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम्[1] ।
दीप्तान्क्षिपति नाराचान्सर्पानिव महाविषान् ॥ ६ ॥

उनका धनुष, इन्द्र के धनुष के समान है और उसकी मूठ में जगह जगह सुवर्ण के बंद लगे हुए हैं, उस धनुष को खींच कर, चमचमाते और तेज़ विष वाले सर्पों के समान तीरों को वे चलाते हैं ॥ ६ ॥

---

१ कनकाङ्गदम्—कनकमयपट्टबन्धं । (गो०)

नाददानं शरान्घोरान्न मुञ्चन्तं शिलीमुखान् ।
न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे ॥ ७ ॥

युद्ध में जब वे बाण छोड़ते थे, तब मैं यह नहीं देख पायी कि, वे कब तरकस में से तीर निकालते, कब उसे धनुष पर रखते और कब धनुष को खींच उसे छोड़ते थे ॥ ७ ॥

हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः
इन्द्रेणेवोत्तमं सस्यमाहतं त्वश्मवृष्टिभिः ॥ ८ ॥

परन्तु जिस प्रकार इन्द्र के बरसाये ओलों से अनाज के खेत नष्ट होते हैं, उसी प्रकार उनकी बाणवृष्टि से राक्षसों की सेना का मारा जाना अवश्य मैं देखती थी ॥ ८ ॥

रक्षसां भीमरूपाणां सहस्राणि चतुर्दश ।
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना ॥ ९ ॥

उन चौदह हज़ार भयङ्कर राक्षसों को तीक्ष्ण बाणों से अकेले और पैदल रामचन्द्र ने मार डाला ॥ ९ ॥

अर्धाधिकमुहूर्तेन खरश्च सहदूषणः ।
ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ॥ १० ॥

तीन घड़ी में रामचन्द्र ने खर और दूषण सहित उन १४ हज़ार राक्षसों को मार कर, दण्डकवन में राक्षसों का उपद्रव शान्त कर, ऋषियों को अभय कर दिया ॥ १० ॥

एका कथञ्चिन्मुक्ताऽहं परिभूय महात्मना ।
स्त्रीवधं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना ॥ ११ ॥

उन विदितात्मा एवं महाबलवान् रामचन्द्र ने, स्त्रीवध करना अनुचित जान, केवल मुझे किसी तरह छोड़ दिया ॥ ११ ॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः ।
अनुरक्तश्च भक्तश्च[1] लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १२ ॥

रामचन्द्र का छोटा भाई लक्ष्मण, पराक्रमी और महातेजस्वी है। गुणों में तथा पराक्रम में वह अपने भाई ही के समान है। वह अपने भाई में अनुरागवान् भी है और उनकी सेवा में भी लगा रहता है ॥ १२ ॥

अमर्षी[2] दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान्बली ।
रामस्य दक्षिणो बाहुर्नित्यं प्राणो बहिश्चरः ॥ १३ ॥

लक्ष्मण अपने बड़े भाई के प्रति अपराध करने वाले का अपराध सह नहीं सकता। वह स्वयं किसी से जीता भी नहीं जा सकता। वह बड़ा पराक्रमी बुद्धिमान् और बलवान है। वह रामचन्द्र का दहिना हाथ अथवा शरीर के बाहिर रहने वाला प्राण है। अर्थात् अत्यन्त प्रिय है ॥ १३ ॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसदृशानना ।
धर्मपत्नी प्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते रता ॥ १४ ॥

रामचन्द्र जी की जो धर्मपत्नी है उसके बड़े बड़े नेत्र हैं उसका चेहरा पूर्णिमासी के चन्द्रमा की तरह सुन्दर है। वह रामचन्द्र को अत्यन्त प्रिय है और सदा रामचन्द्र जी के हितसाधन में और प्रिय कामों के करने में तत्पर रहती है ॥ १४ ॥

सा सुकेशी सुनासोरुः सुरूपा च यशस्विनी ।
देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा ॥ १५ ॥

---

१ भक्तश्च—तत्कार्यभजनशीलः । (गो०) २ अमर्षी—रामापराधासहन शीलः । (रा०)

उस यशस्विनी रामचन्द्र जी की भार्या के केश नासिका, ऊरु और रूप अति उत्तम हैं। वह उस वन की अधिष्ठात्री देवी और दूसरी लक्ष्मी की तरह वहाँ शोभा को प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णाभा रक्ततुङ्गनखी शुभा।
सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥ १६ ॥

तपाये सोने की तरह तो उसके शरीर का वर्ण है। उसके नख लाल और उभरे हुए हैं। उस पतली कमर वाली सुन्दरी का नाम सीता है और वह विदेहराज की पुत्री है। वह शुभ लक्षणों वाली है (अर्थात् स्त्रियों के लिये जो शुभ लक्षण सामुद्रिक शास्त्र में बतलाये गये हैं, उनसे वह युक्त है।) ॥ १६ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ १७ ॥

उसके सौन्दर्य के टक्कर की न तो कोई देवी है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है न कोई किन्नरी है। इस धराधाम पर तो मैंने ऐसी सुन्दरी स्त्री इसके पहले कभी नहीं देखी थी ॥ १७ ॥

यस्य सीता भवेद्भार्या यं च हृष्टा परिष्वजेत्।
अतिजीवेत्स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरन्दरात् ॥ १८ ॥

वह सीता जिसकी भार्या हो और जिसे वह प्रसन्न हो, अपनी छाती से लगा ले, वह पुरुष सब लोगों ही से नहीं, किन्तु इन्द्र से भी बढ़ कर सुखी हो, जीवन व्यतीत करे ॥ १८ ॥

सा सुशीला वपुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि।
तवानुरूपा भार्या स्यात्त्वं च तस्यास्तथा पतिः ॥ १९ ॥

वह सुशीला, प्रशंसनीय शरीर वाली और इस भूतल पर अनुपमरूप वाली सीता तेरी ही भार्या होने योग्य है और तू ही उसका पति होने योग्य है। अथवा तेरे ही योग्य वह भार्या है और तू ही उसका योग्य पति है ॥ १९ ॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनश्रोणिपयोधराम् ।
भार्यार्थे च तवानेतुमुद्यताहं वराननाम् ॥ २० ॥

इसीसे मैं उस विशाल जांघोंवाली और उभड़े हुए कुचों वाली सुन्दरी को तेरी भार्या बनाने के लिये, ले आने को गयी थी ॥ २० ॥

विरूपिताऽस्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज ।
तां तु दृष्ट्वाद्य वैदेहीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ २१ ॥

किन्तु हे महाभुजा वाले! उस निर्दयी लक्ष्मण ने मेरे दोनों कान और मेरी नाक काट डाली। उस पूर्ण चन्द्रवदनी वैदेही को देखते ही ॥२१॥

मन्मथस्य शराणां वै त्वं विधेयो भविष्यसि ।
यदि तस्यामभिप्रायो भार्यार्थे तव जायते ।
शीघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः ॥ २२ ॥

तू कामदेव के बाणों का लक्ष्य बन जायगा। यदि तू उसे अपनी स्त्री बनाना चाहता हो, तो शीघ्र अपने विजय (अर्थात् कार्य सिद्धि) के लिये अपना दहिना पैर उठा ॥ २२ ॥

[नोट – यदि किसी कार्य की सिद्धि के लिये जाना हो, तो चलने के समय सब से प्रथम दाहिना पैर उठा कर चले।]

रोचते यदि ते वाक्यं ममैतद्राक्षसेश्वर ।
क्रियतां निर्विशङ्केन वचनं मम रावण ॥ २३ ॥

हे राक्षसेश्वर! यदि मेरा कहना तुझे पसन्द हो, तो मैंने जो कहा है, उसके अनुसार शङ्का त्याग कर, कार्य आरम्भ कर ॥ २३ ॥

विज्ञायेहात्मशक्तिं च ह्रियतामबला बलात् ।
सीता सर्वानवद्याङ्गी भार्यार्थे राक्षसेश्वर ॥ २४ ॥

हे राक्षसेश्वर! पहले अपने बल पौरुष का विचार कर, तदनन्तर उस सर्वाङ्गसुन्दरी अबला सीता को अपनी स्त्री बनाने के लिये, बलपूर्वक हर ला ॥ २४ ॥

निशम्य रामेण शरैरजिह्मगै-
र्हताञ्जनस्थानगतान्निशाचरान् ।
खरं च बुद्ध्वा निहतं च दूषणं
त्वमत्र कृत्यं [1]प्रतिपत्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

इति चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥

हे रावण! खरदूषण सहित जनस्थानवासी राक्षसों का रामचन्द्र के बाणों से वध हुआ है, यह जान कर, अब जो कुछ करना हो, सो समझ बूझ कर, तू कर ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चत्रिंशः सर्गः ।

—*—

ततः शूर्पणखावाक्यं तच्छ्रुत्वा रोमहर्षणम् ।
सचिवानभ्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्वा जगाम सः ॥ १ ॥

---

१ प्रतिपत्तुं—ज्ञातुं । (गो०)

शूर्पणखा के ऐसे रोमाञ्चकारी वचनों को सुन, सचिवों को विदा कर तथा कर्त्तव्य निश्चित कर, रावण जाने को तैयार हुआ ॥ १ ॥

तत्कार्यमनुगम्याथ यथावदुपलभ्य च ।
दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥ २ ॥

वह मन ही मन अपने कर्त्तव्यकर्म को विचारता और उसके गुण दोषों के बलाबल को सोचता हुआ, चला जाता था ॥ २ ॥

इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः ।
स्थिरबुद्धिस्ततो रम्यां यानशालामुपागमत् ॥ ३ ॥

आगे के कर्त्तव्य को मन में निश्चित कर और स्थिरबुद्धि हो वह अपने रमणीक गाड़ीखाने में गया ॥ ३ ॥

यानशालां ततो गत्वा प्रच्छन्नो राक्षसाधिपः ।
सूतं संचोदयामास रथः संयोज्यतामिति ॥ ४ ॥

चुपचाप गाड़ीखाने में जा, राक्षसेश्वर ने सारथी को रथ जोत कर तैयार करने की आज्ञा दी ॥ ४ ॥

एवमुक्तः क्षणेनैव सारथिर्लघुविक्रमः ।
रथं संयोजयामास तस्याभिमतमुत्तमम् ॥ ५ ॥

रावण की आज्ञा के अनुसार फुर्तीले सारथी ने, रावण का वह उत्तम रथ, जो उसे पसंद था, क्षण भर में जोत कर तैयार किया ॥ ५ ॥

काञ्चनं रथमास्थाय कामगं रत्नभूषितम् ।
पिशाचवदनैर्युक्तं खरैः कनकभूषणैः ॥ ६ ॥

रावण उस इच्छाचारी, सुवर्णरचित तथा रत्नविभूषित रथ में, जिसमें पिशाच तुल्य मुख वाले खच्चर जुते थे, बैठा ॥ ६ ॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः ।
राक्षसाधिपतिः श्रीमान्ययौ नदनदीपतिम् ॥ ७ ॥

चलते समय मेघ तुल्य शब्द करने वाले उस रथ पर, कुबेर का छोटा भाई राक्षसेश्वर श्रीमान् रावण सवार हो, समुद्र की ओर रवाना हुआ ॥ ७ ॥

स श्वेतवालव्यजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः ।
स्निग्धवैडूर्यसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ॥ ८ ॥

उस समय रावण श्वेत छत्र और श्वेत चँवर से शोभायमान हो रहा था। रावण के शरीर की कान्ति वैडूर्य मणि की तरह थी, और वह कानों में बढ़िया सोने के कुण्डल पहिने हुए था ॥ ८ ॥

विंशद्भुजो दशग्रीवो दर्शनीयपरिच्छदः[1] ।
त्रिदशारिर्मुनीन्द्रघ्नो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥ ९ ॥

उसके दस मुख, बीस भुजा थीं और उसका देखने योग्य अन्य सामान था। वह देवताओं और मुनियों का घातक था और दस सिरों से युक्त होने के कारण, वह दसशिखर वाले पर्वत जैसा देख पड़ता था ॥ ९ ॥

कामगं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसेश्वरः ।
विद्युन्मण्डलवान्मेघः सबलाक इवाम्बरे ॥ १० ॥

---

१ दर्शनीयपरिच्छदः—दर्शनीयसामग्री विशिष्टः । (शि०)

उस इच्छाचारी रथ में बैठा हुआ रावण ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि, बिजली से युक्त और बगलों की पंक्ति से भूषित बादल आकाश में शोभित होता है ॥ १० ॥

सशैलं सागरानूपं[1] वीर्यवानवलोकयन्।
नानापुष्पफलैर्वृक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥ ११ ॥

उस पराक्रमी रावण ने जाते हुए, पहाड़ युक्त समुद्र तट, (अथवा समुद्र का पहाड़ी तट) जहाँ पर हज़ारों फूले फले वृक्ष लगे थे, देखा ॥ ११ ॥

शीतमङ्गलतोयाभिः[2] पद्मिनीभिः समन्ततः।
विशालैराश्रमपदैर्वेदिमद्भिः समावृतम् ॥ १२ ॥

शीतल और निर्मल जल से भरे और चारों ओर कमल पुष्पों से सुशोभित तालावों, तथा चारों ओर चबूतरों से घिरे हुए बड़े बड़े आश्रमों से वह देश शोभित था ॥ १२ ॥

कदल्या ढकि[3]संबाधं नालिकेरोपशोभितम्।
सालैस्तालैस्तमालैश्च पुष्पितैस्तरुभिर्वृतम् ॥ १३ ॥

केलों का वन चारों ओर लगा था, भोज्य अन्न की राशि एकत्र थी। नारियल के वृक्ष शोभायमान् थे। शाल, ताल, तमाल आदि नाना प्रकार के फूले हुए पेड़ लगे थे ॥ १३ ॥

नागैः सुपर्णैर्गन्धर्वैः किन्नरैश्च सहस्रशः।
अजैः[4]वैखानसैः[5]माषैः[6]वालखिल्यैर्मरीचिपैः[7] ॥ १४ ॥

---

१ सागरानूपं—समुद्रतीरं। (गो०) २ मङ्गलतोयाभिः—शुभजलाभिः। (गो०) ३ आढकिः—सूपाययुक्तधान्यस्तम्बः। (गो०) ४ अजैः—अयोनिजैः। (गो०) ५ वैखानसैः—ब्रह्मनखजैः। (गो०) ६ माषैः माषगोत्रजैः। (गो०) ७ मरीचिपैः—रविकिरणपानव्रतनिष्ठैः। (गो०)

नाग, गरुड़, गन्धर्व और सहस्रों किन्नरों से वह स्थान परिपूर्ण था। अयोनिज वैखानस, (अर्थात् ब्रह्मपुत्र) माष गोत्रज, वालखिल्य, सूर्य की किरणें पी कर अनुष्ठान करने वाले तपस्वियों ॥ १४ ॥

अत्यन्तानियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः।
जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैरुपशोभितम् ॥ १५ ॥

तथा अत्यन्त अल्प आहार करने वाले महर्षियों से वह स्थान सुशोभित था। काम को जीतने वाले सिद्ध एवं चारण उस स्थान को शोभित कर रहे थे ॥ १५ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाभिरावृतम्।
क्रीडारतिविधिज्ञाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥ १६ ॥

वहाँ पर, दिव्य आभूषण और दिव्य पुष्पहारों से भूषित, दिव्य रूप वालीं और क्रीड़ा व रति की विधि जानने वालीं हज़ारों अप्सराएँ भी थीं ॥ १६ ॥

सेवितं देवपत्नीभिः श्रीमतीभिः श्रिया वृतम्।
देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥ १७ ॥

वहाँ पर देवताओं की शोभायुक्त, सुन्दरी स्त्रियाँ भी घूम फिर रही थीं। अमृत पीने वाले देवताओं तथा दानवों के दल के दल वहाँ विचर रहे थे ॥ १७ ॥

हंसक्रौञ्चप्लवा[1]कीर्णं सारसैः सम्प्रणादितम्।
वैडूर्यप्रस्तरं[2] रम्यं स्निग्धं सागरतेजसा[3] ॥ ॥ १८ ॥

---

१ प्लवाः—जलकुक्कुटाः। (गो०) २ वैडूर्यप्रस्तरं—वैडूर्यमयाःप्रस्तराः। (गो०) ३ सागरतेजसा—सागरोर्मिवैभवेन स्निग्धंसान्द्रं शीतलम्। (रा०)

वह स्थान, हंस, कौञ्च, जलकुक्कुट (अथवा मेंढ़क) और सारसों से परिपूर्ण था। वैडूर्यमणि की शिला वहाँ बिछी थीं, समुद्र की लहरों के हिलोरों से वह स्थान सदा ही रमणीक और शीतल बना रहता था॥ १८॥

पाण्डराणि विशालानि दिव्यमाल्ययुतानि च।
तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः॥ १९॥

रावण ने सफेद, बड़े बड़े और दिव्य पुष्पों की मालाओं से सजे हुए, विमानों को, जिनमें गाना बजाना हो रहा था, वहाँ पर हर तरफ उड़ते हुए देखा॥ १९॥

तपसा जितलोकानां कामगान्यभिसम्पतन्[1]।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव ददर्श धनदानुजः॥ २०॥

जिन लोगों ने अपने तप के फल से अनेक लोकों में जाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है, उनके विमान कुबेर के भाई रावण को रास्ते में मिले। कुबेर के छोटे भाई अर्थात् रावण ने, गन्धर्व और-अप्सराओं को भी वहाँ देखा॥ २०॥

निर्यासरसमूलानां[2] चन्दनानां सहस्रशः।
वनानि पश्यन्सौम्यानि घ्राणतृप्तिकराणि च॥ २१॥

वहाँ पर रावण ने सुगंध से नासिका को तृप्त करने वाले हज़ारों चन्दन के वृक्षों तथा हींग के वृक्षों के वन देखे॥ २१॥

अगरूणां च मुख्यानां वनान्यु[3]पवनानि[4] च।
तक्कोलानां[5] च जात्यानां[6] फलानां च सुगन्धिनाम्॥२२

---

१ अभिसम्पतन्—भागवशात् प्राप्नुवन्। (गो०) २ निर्यासरसमूलानां—हिंगुरूप निर्यासरसयुक्तमूलानां। (गो०) ३ वनानि—अकृत्तिमाणि। (गो०) ४ उपवनानि—कृत्तिमाणि। (गो०) ५ तक्कोलानां—गन्धद्रव्याणां। (गो०) ६ जात्यानां—जातिभवानां। (गो०)

नगर के वनों (अकृत्रिम) और उपवनों (कृत्रिम) को, और उत्तम फलों सहित, तथा सुगन्धित फलों से लदे अच्छी जाति के तक्कोल नामक वृक्षों को रावण ने रास्ते में देखा ॥ २२ ॥

पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि [1]मरिचस्य च।
मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि [2]तीरतः ॥ २३ ॥

तमाल के फूलों को, कालीमिर्च के छोटे वृक्षों को, मोतियों के ढेर को, जो समुद्र के तट पर पड़े सूख रहे थे, रावण ने देखा ॥ २३ ॥

शङ्खानां प्रस्तरं[3] चैव प्रवालनिचयं[4] तथा।
काञ्चनानि च शैलानि राजतानि च सर्वशः ॥ २४ ॥

शङ्खों के ढेर और मूंगों के ढेर और सोने तथा चाँदी के पहाड़ों को, जो चारों तरफ थे, उसने देखा ॥ २४ ॥

प्रस्रवाणि मनोज्ञानि प्रसन्नानि ह्रदानि च।
धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥ २५ ॥

उसने मनोहर झरने तथा निर्मल जल के कुण्ड देखे। फिर ऐसे नगर देखे, जो धन धान्य और सुन्दर स्त्रियों से परिपूर्ण थे ॥ २५ ॥

हस्त्यश्वरथगाढानि नगराण्यवलोकयन्।
तं समं सर्वतः स्निग्धं मृदुसंस्पर्शमारुतम् ॥ २६ ॥

उनमें हाथी घोड़े भरे हुए थे। वे घरों की पंक्तियों से युक्त थे। ऐसे कितने ही नगर रावण ने देखे। रावण ने, शीतल, मन्द-सुगन्ध पवन सहित समुद्र का तट, जो स्वर्ग जैसा सुन्दर जान पड़ता था देखा ॥ २६ ॥

---

१ मरिचस्य—मरीचस्य। (गो०) २ तीरतः—तीरे। (गो०) ३ प्रस्तरं—समूहं। (गो०) ४ निचयं—समूहं। (गो०)

अनूपं सिन्धुराज्यस्य ददर्श त्रिदिवोपमम् ।
तत्रापश्यत्स मेघाभं न्यग्रोधं मृषिभिर्वृतम् ॥ २७ ॥

रावण चलते, चलते वहां पहुँचा जहां एक बड़ा भारी बरगद का पेड़ था और जो मेघ के समान बड़ा और मुनियों से सेवित था ॥२७॥*

समन्ताद्यस्य ताः शाखाः शतयोजन मायताः ।
यस्य हस्तिनमादाय महाकायं च कच्छपम् ॥ २८ ॥

उसकी शाखाएं चारों ओर सौ योजन (चार सौ कोस) के घेरे में फैली हुई थीं। किसी समय महाबलवान गरुड़ जी एक बड़े भारी हाथी और कछुए को ॥ २८ ॥

भक्षार्थं गरुडः शाखामाजगाम महाबलः ।
तस्य तां सहसा शाखां भारेण पतगोत्तमः ॥ २९ ॥

लेकर खाने के लिये उस पेड़ की शाखा पर आ बैठे थे। गरुड़ जी तथा उन दोनों जानवरों के बोझ से उसकी शाखा सहसा (टूट गयी) ॥ २९ ॥

सुपर्णः पर्णबहुलां बभञ्ज च महाबलः ।
तत्र वैखानसा माषा बालखिल्या मरीचिपाः ॥ ३० ॥
अजा बभूवर्धूम्राश्च सङ्गताः परमर्षयः ।
तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम् ॥ ३१ ॥
जगामादाय वेगेन तौ चोभौ गजकच्छपौ ।
एकपादेन धर्मात्मा भक्षयित्वा तदामिषाम् ॥ ३२ ॥

वह शाखा जो टूटी थी, उसमें बहुत पत्ते लगे हुए थे। इसी शाखा पर वैखानस, माष, मरीचिप, बालखिल्य, अज और

---

* २७ वे श्लोक के प्रथम पाद का अर्थ २६ वे श्लोक के अर्थ में सम्मिलित है।

धूम्र आदि बड़े बड़े ऋषि इकट्ठे थे। इन महार्षियों पर अनुग्रह कर गरुड़ जी ने उस सौ योजन वाली शाखा को एक पैर से और उन दोनों जन्तुओं को दूसरे पैर से पकड़ा। फिर वहाँ से बड़े वेग से गरुड़ जी चले गये। दूसरे पैर से गज और कच्छप को दबा, गरुड़ ने उनका मांस खाया॥ ३०॥३१॥३२॥

निषादविषयं हत्वा शाखया पतगोत्तमः।
प्रहर्षमतुलं लेभे मोक्षयित्वा महामुनीन्॥ ३३॥

फिर उस शाखा से निषादों के देश का संहार कर और उन मुनियों को बचा कर वे बहुत प्रसन्न हुए॥ ३३॥

स तेनैव प्रहर्षेण द्विगुणीकृतविक्रमः।
अमृतानयनार्थं वै चकार मतिमान्मतिम्॥ ३४॥

उस हर्ष के कारण मतिमान गरुड़ जी का पराक्रम दूना हो गया और उन्होंने अमृत लाने के लिए उद्योग किया॥ ३४॥

अयोजालानि निर्मथ्य भित्त्वा रत्नमयं गृहम्।
महेन्द्रभवनाद्गुप्तमाजहारामृतं ततः॥ ३५॥

गरुड़ जी लोहे के जाल को काट और रत्ननिर्मित घर को फोड़, इन्द्र के घर में सुरक्षित रखे हुए अमृत को ले आये॥ ३५॥

तं महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्णकृतलक्षणम्।
नाम्ना सुभद्रं न्यग्रोधं ददर्श धनदानुजः॥ ३६॥

सो रावण, उस गरुड़ चिन्हित तथा महर्षिगण सेवित सुभद्र नामक वट वृक्ष को देखता हुआ॥ ३६॥

तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः ।
ददर्शाश्रममेकान्ते रम्ये पुण्ये वनान्तरे ॥ ३७ ॥

तत्र कृष्णाजिनधरं जटावल्कलधारिणम् ।
ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम् ॥ ३८ ॥

समुद्र के उस पार जा कर रावण ने एकान्त, पवित्र और रमणीक वन प्रदेश में कृष्ण-मृग-चर्म को ओढ़े हुए और जटाजूट सिर पर रखाये, नियमित आहार करने वाले मारीच नामक राक्षस को देखा ॥३७॥३८॥

स रावणः समागम्य विधिवत्तेन रक्षसा ।
मारीचेनार्चितो राजा[1]सर्वकामैरमानुषैः ॥ ३९ ॥

रावण को देख, मारीच ने ऐसी भोग्य वस्तुओं से, जो मनुष्यों को मिलनी दुर्लभ हैं, विधिपूर्वक उसका सत्कार किया ॥ ३९ ॥

तं स्वयंपूजयित्वा तु भोजनेनोदकेन च ।
अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

मारीच ने भोजन के लिये भोज्य पदार्थ और पीने के लिये जल स्वयं दे, रावण की पूजा कर, यह अर्थयुक्त वचन कहा ॥ ४० ॥

कच्चित्सुकुशलं राजल्लङ्कायां राक्षसेश्वर ।
केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेवमिहागतः ॥ ४१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! कहिये आपकी लङ्का में सब कुशल तो है। आपके पुनः इतनी जल्दी यहाँ आने का क्या कारण है ॥ ४१ ॥

---

1 सर्वकामैः—सर्वभोग्यवस्तुभिः । (गो०)

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।
तं तु पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ ४२ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

जब मारीच ने यह कहा, तब वचन बोलने में निपुण महातेजस्वी रावण ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ ४२ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ

—*—

षट्त्रिंशः सर्गः

—*—

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः ।
आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान्हि परमा गतिः ॥ १ ॥

हे तात मारीच ! मैं जो कहता हूँ उसे तुम सुनो। इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ। तुम ही मेरा इस दुःख से निस्तार कर सकते हो ॥ १ ॥

जानीषे त्वं जनस्थाने यथा भ्राता खरो मम ।
दूषणश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च मे ॥ २ ॥
त्रिशिराश्च महातेजा राक्षसः पिशिताशनः ।
अन्ये च बहवः शूरा लब्धलक्षा[1] निशाचराः ॥ ३ ॥
वसन्ति मन्नियोगेन नित्यवासं च राक्षसाः ।
बाधमाना महारण्ये मुनीन्वै धर्मचारिणः ॥ ४ ॥

---

१ लब्धलक्षाः—लब्धयुद्धोत्साहाः । (रा०)

तुम उस स्थान को तो जानते ही हो, जिस स्थान में मेरा भाई खर और महाबाहु दूषण मेरी बहिन शूर्पणखा महातेजस्वी और मांस भोजी त्रिशिरा राक्षस तथा बहुत से अन्य शूरवीर, युद्ध में उत्साही राक्षस लोग, मेरी आज्ञा से बसते थे। वे सब राक्षस महावन में धर्मचारी ऋषियों के अनुष्ठान में विघ्न डाला करते थे ॥२॥३॥४॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।
शूराणां लब्धलक्षाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

इन सब राक्षसों की संख्या १४ हज़ार थी। ये सब के सब भयङ्कर कर्म करने वाले, शूरवीर युद्ध करने में उत्साही और खर की मर्ज़ी के मुताबिक काम करने वाले थे ॥५॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः ।
सङ्गताः परमायत्ता रामेण सह संयुगे ॥ ६ ॥

वे महाबली इन दिनों जनस्थान में रहते थे। वे श्रीरामचन्द्र के साथ जूझ मरे ॥६॥

नानाप्रहरणोपेताः खरप्रमुखराक्षसाः ।
तेन सञ्जातरोषेण रामेण रणमूर्धनि ॥ ७ ॥

विविध भाँति के आयुध में खर प्रमुख राक्षस गण युद्धक्षेत्र में उपस्थित हुए थे। श्रीरामचन्द्र ने क्रोध में भर उस युद्ध-क्षेत्र में, ॥७॥

अनुक्त्वा परुषं किञ्चिच्छरैर्व्यापारितं धनुः ।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम् ॥ ८ ॥
निहतानि शरैस्तीक्ष्णैर्मानुषेण पदातिना ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥ ९ ॥

एक भी कठोर वचन न कह कर, बाण छोड़ना आरम्भ कर दिया और १४,००० उग्रतेजा राक्षसों को मनुष्य श्रीरामचन्द्र ने पाँव पियादे ही पैने बाणों से मार डाला। इस युद्ध में खर और दूषण भी मारे गये ॥ ८ ॥ ९ ॥

हतश्च त्रिशिराश्चापि निर्भया दण्डकाः कृताः।
पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥१०॥

और त्रिशिरा को भी मार कर, राम ने दण्डक-वन-वासियों को निर्भय कर दिया। राम का आचरण ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि उस क्षीण जीवन राम को पिता ने क्रोध कर स्त्री सहित घर से निकाल दिया है ॥१०॥

स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः।
दुःशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः ॥११॥

वही दुःशील, कठोर हृदय, तीक्ष्ण, मूर्ख, लोभी, अजितेन्द्रिय और क्षत्रिय-कुल-कलङ्क इस राक्षस-सेना का मारने वाला है ॥११॥

त्यक्त्वा धर्ममधर्मात्मा भूतानामहिते रतः।
येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमाश्रित्य केवलम् ॥१२॥

वह धर्म को त्याग और अधर्म का अवलंबन कर, सदा प्राणियों का अहित किया करता है। उसने अपने बल के घमंड में आ, बिना बैर ही ॥१२॥

कर्णनासापहरणाद्भगिनी मे विरूपिता।
तस्य भार्यां जनस्थानात्सीतां सुरसुतोपमाम् ॥१३॥

मेरी बहिन के कान नाक काट कर उसे विरूप कर दिया। अतः जनस्थान से उसकी देवकन्या तुल्य सुन्दरी भार्या सीता को ॥१३॥

आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव ।
त्वया ह्यहं सहायेन पार्श्वस्थेन महाबल ॥१४॥
भ्रातृभिश्चसुरान्युद्धे समग्रान्नाभिचिन्तये ।
तत्सहायो भव त्वं मे समर्थो ह्यसि राक्षस ॥१५॥

ज़बरदस्ती हर लाऊँगा सो तुम इस काम में मेरी सहायता करो। हे महाबल! यदि तू मेरा सहायक बन मेरे पास रहे और मेरे भाई मेरे सहायक हों, तो मैं सारे देवताओं को भी कुछ नहीं गिनता। अतः हे राक्षस! तू मेरी सहायता कर, क्योंकि तू सहायता करने में समर्थ है ॥ १४ ॥ १५ ॥

वीर्ये युद्धे च दर्पे च न ह्यस्ति सदृशस्तव ।
उपायज्ञो महाञ्शूरः सर्वमायाविशारदः ॥१६॥

बल में, लड़ने में और दर्प में तेरे तुल्य दूसरा नहीं है। तू उपाय का जानने वाला है, बड़ा शूरवीर है तथा सब माया जानने वाला है ॥ १६ ॥

एतदर्थमहं प्राप्तस्त्वत्समीपं निशाचर ।
शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम ॥१७॥

हे निशाचर! इसी लिये मैं तेरे पास आया हूँ। हे मारीच! जिस प्रकार तुम्हें मेरी सहायता करनी पड़ेगी, सो मैं बतलाता हूँ। उसे तू सुन ॥१७॥

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ।
आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ॥१८॥

तू चाँदी की बूंदों से युक्त सोने का हिरन बन कर, श्रीरामचन्द्र के आश्रम में जा कर सीता के सामने चरना ॥१८॥

त्वां तु निःसंशयं सीता दृष्ट्वा तु मृगरूपिणम् ।
गृह्यतामिति भर्तारं लक्ष्मणं चाभिधास्यति ॥१९॥

ऐसे मृग का रूप धारण किये हुए तुझको देख, सीता निश्चय ही अपने स्वामी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण से कहेगी कि, इस हिरन को पकड़ लाओ ॥ १९ ॥

ततस्तयोरपाये तु शून्ये सीतां यथासुखम् ।
निराबाधो हरिष्यामि राहुश्चन्द्रप्रभामिव ॥२०॥

जब वे तुझे पकड़ने को आश्रम से दूर चले जांयगे, तब मैं आश्रम में जा बिना किसी बाधा के सीता को उसी प्रकार हर लाऊँगा, जिस प्रकार राहु चन्द्रमा की प्रभा को हरता है ॥ २० ॥

ततः पश्चात्सुखं रामे भार्याहरणकर्शिते ।
विश्रब्धः[1] प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्तरात्मना[2] ॥२१॥

तदनन्तर भार्या के हर जाने से श्रीरामचन्द्र जी शोक के मारे निर्बल हो जांयगे । तब मैं कृतार्थ हो निर्भयता पूर्वक और धैर्य धारण कर तथा सहज में राम को पकड़ लूँगा ॥ २१ ॥

तस्य रामकथां श्रुत्वा मारीचस्य महात्मनः ।
शुष्कं समभवद्वक्त्रं परित्रस्तो बभूव ह ॥ २२ ॥

रावण के मुख से श्रीरामचन्द्र की चर्चा सुन, महात्मा मारीच का मुख सूख सा गया और वह बहुत ही भयभीत हो गया ॥ २२ ॥

ओष्ठौ परिलिहञ्शुष्कौ नेत्रैरनिमिषैरिव ।
मृतभूत इवार्तस्तु रावणं समुदैक्षत ॥ २३ ॥

---

१ विश्रब्धः—निःशङ्कः । (गो०) २ अन्तरात्मना—अन्तस्थ धैर्येण । (गो०)

वह मारे चिन्ता के अपने सूखे ओंठों को चाटने लगा और उसके नेत्र कुछ देर तक खुले के खुले ही रह गये (अर्थात् झपके नहीं) वह मृतक की तरह आर्त हो, रावण की ओर निहारने लगा ॥ २३ ॥

स रावणं त्रस्तविषण्णचेता
महावने रामपराक्रमज्ञः ।
कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं
हितं च तस्मै हितमात्मनश्च ॥२४॥

इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

वह (मारीच) पहले ही से अर्थात् महावन में खर दूषण के वध की घटना होने के पूर्व श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम को जानता था। अतः वह हाथ जोड़ कर, रावण से अपने और रावण के हित की बात बोला ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्तत्रिंशः सर्गः ।

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो मारीचो राक्षसेश्वरम् ॥ १ ॥

महाप्राज्ञ राक्षसराज के यह वचन सुन, वाक्य बोलने में पटु मारीच ने उससे कहा ॥ १ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ २ ॥

हे राजन्! मुँहसोहली बात कहने वाले लोग बहुत सहज में मिल सकते हैं; किन्तु सुनने में अप्रिय और यथार्थ में हितकारी वचनों के कहने और सुनने वाले लोग संसार में कम मिलते हैं ॥ २ ॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यं गुणोन्नतम् ।
अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ३ ॥

निश्चय ही तू बड़े पराक्रमी, श्रेष्ठ गुणों वाले तथा इन्द्र वरुण के तुल्य रामचन्द्र जी को नहीं जानता है। क्योंकि एक तो तूने जासूस जगह जगह नियत नहीं किये, जो तुझे ठीक ठीक वृत्तान्त बतलाते रहें, दूसरे तू चञ्चल स्वभाव का है ॥ ३ ॥

अपि स्वस्ति भवेत्तात सर्वेषां भुवि रक्षसाम् ।
अपि रामो न संक्रुद्धः कुर्याल्लोकमराक्षसम् ॥ ४ ॥

क्या रामचन्द्र से वैर बांध कर, राक्षसकुल का कल्याण हो सकता है? कहीं क्रुद्ध हो कर रामचन्द्र इस भूलोक को राक्षसहीन न कर डालें ॥ ४ ॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा ।
अपि सीतानिमित्तं च न भवेद्व्यसनं मम ॥ ५ ॥

क्या जानकी का जन्म तुम्हारा नाश करने को तो नहीं हुआ? कहीं सीता के लिये मुझे भारी सङ्कट में न फंसना पड़े ॥ ५ ॥

अपि त्वमीश्वरं प्राप्य कामवृत्तं[1] निरङ्कुशम् ।
न विनश्येत्पुरी लङ्का त्वया सह सराक्षसा ॥ ६ ॥

तुझ स्वेच्छाचारी निरङ्कुश स्वामी को पा कर, कहीं समस्त राक्षसों सहित लङ्कापुरी नष्ट न हो जाय ॥ ६ ॥

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः [2]पापमन्त्रितः ।
आत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

तेरे जैसा यथेच्छाचारी, दुःशील, बुरे विचारों वाला, दुष्ट राजा, केवल अपने आप ही को नहीं, बल्कि आत्मीय जनों सहित अपने राष्ट्र को भी चौपट कर डालता है ॥ ७ ॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथञ्चन ।
न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः ॥ ८ ॥

न तो श्रीरामचन्द्र को उनके पिता ने निकाला है, न वे कभी मर्यादा का उल्लंघन करने वाले ही हैं। न वे लोभी हैं, न दुष्ट स्वभाव हैं और न क्षत्रिय-कुल-कलङ्क हैं ॥ ८ ॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
न तीक्ष्णो न च भूतानां सर्वेषामहिते रतः ॥ ९ ॥

कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले रामचन्द्र धर्म और सद्गुणों से रहित नहीं हैं। न वे उग्र स्वभाव ही के हैं और न वे प्राणियों को सताते हैं, बल्कि वे तो सब के हितैषी हैं ॥ ९ ॥

वञ्चितं पितरं दृष्ट्वा कैकेय्या सत्यवादिनम् ।
करिष्यामीति धर्मात्मा तात प्रव्रजितो वनम् ॥ १० ॥

---

१ कामवृत्तं—यथेच्छाव्यापारं। (गो०) २ पापमंत्रितं—पापं दुष्टं मंत्रितं विचारो यस्यसः। (गो०)

रामचन्द्र जी, अपने सत्यवादी पिता को, कैकेयी द्वारा ठगा हुआ देख, पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये वन में चले आये हैं ॥ १० ॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च।
हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

उन्होंने कैकेयी और अपने पिता दशरथ को प्रसन्न करने के लिये राज्य और राजसी भोगों को छोड़, इस दण्डकवन में प्रवेश किया है ॥ ११ ॥

न रामः कर्कशस्तात[1] नाविद्वान्नाजितेन्द्रियः।
अनृतं दुःश्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

हे रावण ! न तो राम कठोर हृदय हैं, न मूर्ख हैं और न अजितेंद्रिय ही हैं। न वे झूठ और कर्ण-कटु वचन बोलने वाले हैं। उनके लिये तुमको ऐसा न कहना चाहिये ॥ १२ ॥

रामो विग्रहवान्धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानां मघवानिव ॥ १३ ॥

राम तो धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं, वे बड़े साधु और सत्यपराक्रमी हैं। जिस प्रकार इन्द्र देवताओं के नायक हैं, उसी प्रकार राम भी सब लोगों के नायक हैं ॥ १३ ॥

कथं त्वं तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन [2]तेजसा।
इच्छसि प्रसभं हर्तुं प्रभामिव विवस्वतः ॥ १४ ॥

---

१ कर्कशः—कठिन हृदयः। (गो०) २ स्वेन तेजसा—पातिव्रत्य वैभवेन। (गो०)

उन राम की सीता को, जो अपने पतिव्रता धर्म से आप ही सुरक्षित हैं, तुम किस प्रकार सूर्य की प्रभा की तरह बरजोरी हरना चाहते हो? ॥ १४ ॥

शरार्चिषमनाधृष्यं चापखड्गेधनं रणे।
रामाग्निं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि ॥ १५ ॥

बाण रूपी ज्वाला से युक्त, स्पर्श के अयोग्य, धनुष रूपी ईंधन से युक्त जलती हुई राम रूपी, आग में कूदने का दुस्साहस तुमको न करना चाहिये ॥ १५ ॥

धनुर्व्यादितदीप्तास्यं शरार्चिषममर्षणम् ।
चापपाशधरं वीरं शत्रुसैन्यप्रहारिणम् ॥ १६ ॥
राज्यं सुखं च सन्त्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः।
नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि ॥ १७ ॥

धनुष का चढ़ाना ही जिसका खुला हुआ प्रदीप्त मुख है। बाण ही जिसका प्रकाश है और न सहने योग्य धनुर्बाण धारण किये हुए, शत्रुसैन्य विनाशकारी राम रूपी काल का सामना कर, तुम राज्यसुख, अपने जीवन और अपने इष्ट से क्यों हाथ धोना चाहते हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

अप्रमेयं हि तत्तेजो यस्य सा जनकात्मजा ।
न त्वं समर्थस्तां हर्तुं रामचापाश्रयां वने ॥ १८ ॥

जिन रामचन्द्र की भार्या सीता है, उनके तेज की तुलना नहीं है। जो सीता रामचन्द्र के धनुष के बल से रक्षित है, उन्हें तुम हरने की सामर्थ्य अपने में नहीं रखते ॥ १८ ॥

तस्य सा नरसिंहस्य सिंहोरस्कस्य भामिनी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

पुरुषसिंह और सिंह जैसे वक्षःस्थल वाले रामचन्द्र, अपनी पतिव्रता भार्या को, अपने प्राणों से बढ़ कर प्यारी समझते हैं ॥ १९ ॥

न सा धर्षयितुं शक्या मैथिल्योजस्विनः प्रिया ।
दीप्तस्येव हुताशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥ २० ॥

वह सूक्ष्म कटि वाली सीता प्रज्वलित अग्नि शिखा के समान है। रामचन्द्र जी की प्यारी मैथिली को हर लाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है ॥ २० ॥

किमुद्यममिमं व्यर्थं कृत्वा ते राक्षसाधिप ।
दृष्टश्चेत्त्वं रणे तेन तदन्तं तव जीवितम् ॥ २१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! तुम यह वृथा उद्योग क्यों करते हो ? यदि कहीं तुम राम के सामने पड़ गये, तो युद्ध में फिर तुम जीते नहीं बचोगे ॥ २१ ॥

जीवितं च सुखं चैव राज्यं चैव सुदुर्लभम् ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ २२ ॥

राज्य, सुख और यह जीवन, संसार में महादुर्लभ वस्तुएं हैं। यदि इन वस्तुओं को चिरकाल तक उपभोग करने की इच्छा हो, तो रामचन्द्र से बिगाड़ मत करो ॥ २२ ॥

न सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरोगमैः ।
मन्त्रयित्वा तु धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ॥ २३ ॥

जान पड़ता है, तुमने सीता के हरने का निश्चय, अपने सब सचिवों तथा धर्मिष्ठ विभीषणादि कुटुम्बियों से परामर्श किये बिना ही कर डाला है ॥ २३ ॥

दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलाबलम् ।
आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्वतः ।
हिताहितं विनिश्चित्य क्षमं त्वं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

तुमको उचित है कि, दोषों और गुणों की विशेषता और न्यूनता तथा अपने और श्रीरामचन्द्र जी के बलाबल का तथा हिताहित का यथार्थ विचार कर, जो अच्छा जान पड़े, सो करो ॥ २४॥

अहं तु मन्ये तव न क्षमं रणे
समागमं कोसलराजसूनुना ।
इदं हि भूयः शृणु वाक्यमुत्तमं
क्षमं च युक्तं च निशाचरेश्वर ॥ २५ ॥

इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे राक्षसेश्वर! मेरी जान में तो कोशलराज के पुत्र के साथ तुम्हारा युद्ध छेड़ना सर्वथा अनुचित है। फिर भी मैं तुम्हारी भलाई के लिये और कई एक युक्तियुक्त बातें कहता हूँ, उनको तुम सुनो ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

अष्टत्रिंशः सर्गः

—※—

कदाचिदप्यहं वीर्यात्पर्यटन्पृथिवीमिमाम् ।
वलं नागसहस्रस्य[1]धारयन्पर्वतोपमः ॥ १ ॥

हे रावण ! किसी समय मैं अपने पराक्रम के अभिमान में चूर, इस पृथिवीमण्डल पर घूमता था । मेरे पर्वत के समान शरीर में एक हज़ार हाथियों का वल था ॥ १ ॥

नीलजीमूतसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
भयं लोकस्य जनयन्किरीटी परिघायुधः ॥ २ ॥
व्यचरं दण्डकारण्ये ऋषिमांसानि भक्षयन् ।
विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्वित्रस्तो महामुनिः ॥ ३ ॥

मेरे शरीर की कान्ति नीले रंग के बादल के समान थी । कानों में तपाये हुए सोने के कुण्डल पहिने, मस्तक पर किरीट धारण किये और हाथ में परिघ लिये हुए, तथा लोगों को भय उपजाता हुआ; मैं दण्डकवन में घूम घूम कर, ऋषियों का मांस खाता था । अनन्तर धर्मात्मा महर्षि विश्वामित्र मेरे भय से भीत हो, ॥ २ ॥ ३ ॥

स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत् ।
अद्य रक्षतु मां रामः पर्वकाले[2] समाहितः ॥४॥

---

१ नागो गजः । (गो०) २ पर्वकाले—यागकाले । (रा०)

मारीचान्मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर।
इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥५॥

स्वयं महाराज दशरथ के पास जा, उनसे यह बात बोले, हे नरेश्वर! मारीच का मुझे बहुत डर लगता है, अतः श्रीरामचन्द्र जी को मेरे पास रह कर, यज्ञकाल में मेरी रक्षा करनी होगी। ऐसा मुनि का वचन सुन, धर्मात्मा महाराज दशरथ ने, ॥४॥५॥

प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम्।
बालो द्वादशवर्षोऽयमकृतास्त्रश्च राघवः ॥६॥

महाभाग और महामुनि विश्वामित्र से उत्तर में कहा—श्रीरामचन्द्र जो अभी बारह वर्ष की उम्र के बालक हैं और अस्त्र विद्या भी इनको नहीं आती ॥ ६ ॥

कामं[1] तु मम यत्सैन्यं मया सह गमिष्यति।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरान् ॥७॥
वधिष्यामि मुनिश्रेष्ठ शत्रूंस्तव यथेप्सितम्। *
इत्येवमुक्तः स मुनी राजानमिदमब्रवीत् ॥८॥

अतः हे मुनिश्रेष्ठ! (यह तो आपके साथ नहीं जायगे, किन्तु) आपका काम करने के लिये मैं स्वयं अपनी बड़ी चतुरङ्गिनी सेना सहित चल कर, आपके शत्रु निशाचरों का आपकी इच्छा के अनुसार वध करूँगा। महाराज के ये वचन सुन, विश्वामित्र जी ने महाराज से यह कहा ॥ ७ ॥ ८ ॥

---

१ कामं—भृशं। (गो०) *पाठान्तरे—"मनसेप्सितान्।"

रामान्नान्यद्बलं लोके पर्याप्तं तस्य रक्षसः ।
देवतानामपि भवान्समरेष्वभिपालकः ॥९॥

आसीत्तव कृतं कर्म त्रिलोके विदितं नृप ।
काममस्तु महत्सैन्यं तिष्ठत्विह परन्तप ॥१०॥

यद्यपि आप युद्ध में देवताओं के भी रक्षक होने में समर्थ हैं और आपके वीरत्वपूर्ण कार्य तीनों लोकों में विख्यात हैं, तथापि श्रीरामचन्द्र को छोड़ और किसी में इतना बल नहीं, जो उस राक्षस का सामना कर सके। अतः हे परन्तप! आप अपनी चतुरङ्गिनी सेना को यहीं रहने दीजिये ॥ ९ ॥ १० ॥

बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निग्रहे ।
गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेस्तु परन्तप ॥११॥

यह महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र बालक हुए तो क्या, यही उस राक्षस का निग्रह करने में समर्थ हैं। अतः हे परन्तप! आपका मङ्गल हो, मैं राम को अपने साथ ले जाऊँगा ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम् ।
जगाम परमप्रीतो विश्वामित्रः स्वमाश्रमम् ॥१२॥

महर्षि विश्वामित्र यह कह कर और श्रीरामचन्द्र जी को अपने संग ले, परम प्रसन्न होते हुए अपने सिद्धाश्रम में आये ॥१२॥

तं तदा दण्डकारण्ये यज्ञमुद्दिश्य दीक्षितम् ।
बभूवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन्धनुः ॥ १३ ॥

---

१ विस्फारयन्धनुः—रामः चित्रंधनुः विस्फारयन् नयन्सन् रक्षणाय समीपं प्राप्तो बभूवेत्यर्थः । (गो०)

तदनन्तर जब महर्षि विश्वामित्र ने यज्ञ-दीक्षा ली, तब श्रीराम-चन्द्र जी अपने विचित्र धनुष को ले, विश्वामित्र जी के यज्ञ की रक्षा के लिये उनके पास उपस्थित हुए ॥ १३ ॥

अजातव्यञ्जनः[1] श्रीमान्पद्मपत्रनिभेक्षणः ।
एकवस्त्रधरो[2] धन्वी शिखी[3] कनकमालया ॥१४॥
शोभयन्दण्डकारण्यं दीप्तं स्वेन तेजसा ।
अदृश्यत ततो रामो बालचन्द्र इवोदितः ॥१५॥

उस समय बालरूप श्रीमान् रामचन्द्र जिनके पद्मपत्र के समान नेत्र थे, जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए थे, जिनके हाथ में धनुष था, जिनके सिर पर कुलोचित शिखा थी और जो सुवर्ण की माला गले में पहिने हुए थे, अपने प्रदीप्त तेज से दण्डकवन को सुशोभित करते हुए, ऐसे देख पड़ते थे; जैसे उदयकाल में द्वितीया का चन्द्रमा शोभायुक्त देख पड़ता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

ततोऽहंमेघसङ्काशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
बली दत्तवरो दर्पादाजगाम तदाश्रमम् ॥१६॥

तब मैं (कृष्ण) मेघाकार, सोने के कुण्डल पहिने हुए और वर प्रभाव से बल के मद में मत्त हो, विश्वामित्र जी के आश्रम में गया ॥ १६ ॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहसैवोद्यतायुधः ।
मां तु दृष्ट्वाधनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार सः ॥१७॥

---

१ अजातव्यञ्जनः—अनुत्पन्नयौवन लक्षणः । (गो०) २ एकवस्त्रधरः—ब्रह्मचर्यं व्रतेस्थितः । (गो०) ३ शिखी—कुलोचितशिखायुक्तः । (गो०)

निर्भय अथवा सावधान राम ने मुझे हथियार लिये हुए आते देख, तुरन्त हर्षित हो अपने धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ १७ ॥

अवजानन्नहं मोहाद्बालोऽयमिति राघवम् ।
विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः ॥१८॥

परन्तु मैंने मूर्खतावश राम को बालक समझा और मैं विश्वामित्र की वेदी की ओर फुर्ती के साथ दौड़ा ॥१८॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिबर्हणः ।
तेनाहं त्वाहतः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥१९॥

यह देख, रामचन्द्र ने शत्रुओं के मारने वाले एक पैने बाण को चला, मुझे वहाँ से सौ योजन दूर समुद्र में फेंक दिया ॥ १९ ॥

नेच्छता[1] तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः ।
रामस्य शरवेगेन निरस्तोऽहमचेतनः[2] ॥ २० ॥

हे तात! वीर रामचन्द्र की इच्छा उस समय मेरा वध करने की न थी, इसीसे उन्होंने मेरा वध न कर, मेरे प्राण बचाये। मैं राम के शरवेग से इतनी दूर फेंके जाने के कारण मूर्छित हो गया ॥ २० ॥

पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि ।
प्राप्य संज्ञां चिरात्तात लङ्कां प्रति गतः पुरीम् ॥ २१ ॥

मैं इस गहरे समुद्र में आकर गिरा। फिर हे तात! बहुत देर बाद जब मैं सचेत हुआ और लङ्कापुरी में गया ॥ २१ ॥

---

१ नेच्छता—अनिच्छता। (गो०) २ अचेतनः--मूर्छितः। (गो०)

एवमस्मि तदा मुक्तः सहायास्तु निपातिताः[1]।
अकृतास्त्रेण बालेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ २२ ॥

इस तरह मैं तो उस समय बच गया, किन्तु मेरे सहायक अन्य सब राक्षसों को कठिन कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र ने, जो उस समय अस्त्र-सञ्चालन-विद्या में निपुण भी न थे, और बालक ही थे, मार डाला ॥ २२ ॥

तन्मया वार्यमाणस्त्वं यदि रामेण विग्रहम्।
करिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्स्यसि रावण ॥ २३ ॥

इसीसे मैं तुम्हें मना कर रहा हूँ, यदि तिस पर भी तुम रामचन्द्र से लड़ाई छेड़ोगे, तो घोर विपत्ति में पड़, शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ २३ ॥

क्रीडारतिविधिज्ञानां समाजोत्सवशालिनाम्।
रक्षसां चैव सन्तापमनर्थं चाहरिष्यसि[2] ॥ २४ ॥

तुम ! क्रीड़ा और रति की विधि को जानने वाले और सभाओं के उत्सवों को देखने वाले राक्षसों के सन्ताप के कारण बन अनर्थ बटोरोगे ॥ २४ ॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां[3] नानारत्नविभूषिताम्।
द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकृते ॥ २५ ॥

सीता को हर कर तुम मन्दिर और अटा अटारियों से पूर्ण और नाना रत्नों से भूषित लङ्का को नष्ट हुआ देखोगे ॥ २५ ॥

---

१ निपातिताः—हताः। (गो०) २ आहरिष्यसि—यत्नेन सम्पादयिष्यसि। (गो०)। ३ सम्बाधां—निबिडां। (गो०)

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः[1] पापसंश्रयात् ।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागह्रदे[2] यथा ॥ २६ ॥

जो लोग पाप नहीं करते, वे भी पापी जनों के संसर्ग से नष्ट हो जाते हैं। जैसे सर्पयुक्त जल के कुण्ड की मछलियाँ सर्पों के संसर्ग से (गरुड़ द्वारा) नष्ट होती हैं ॥ २६ ॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान्दिव्याभरणभूषितान् ।
द्रक्ष्यस्यभिहतान्भूमौ तव दोषात्तु राक्षसान् ॥ २७ ॥

तुम अपनी करतूत से, दिव्य चन्दन से चर्चित और दिव्य वस्त्राभूषण से सुसज्जित शरीर वाले राक्षसों को भूमि पर मर कर पड़े हुए देखोगे ॥ २७ ॥

[3]हृतदारान्सदारांश्च दश विद्रवतो दिशः ।
हतशेषानशरणान्[4]द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान् ॥ २८ ॥

हे रावण ! तुम युद्ध से बचे हुए रक्षक रहित अर्थात् अनाथ राक्षसों को या तो स्त्रियों को त्यागे हुए अथवा साथ लिये हुए दशों दिशाओं में भागते हुए देखोगे ॥ २८ ॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम् ।
प्रदग्धभवनां लङ्कां द्रक्ष्यसि त्वं न संशयः ॥ २९ ॥

बाणजाल से घिरी हुई और अग्निशिखा से पीड़ित, भस्म गृहों से युक्त लङ्का को, तुम निसन्देह देखोगे ॥ २९ ॥

---

१ शुचयः—अपापा । (गो०) २ नागह्रदे—सर्पह्रदे । (गो०) ३ हृतदारान्—त्यक्तदारान् । (गो०) ४ अशरणान्—रक्षकरहितान् । (गो०)

परदाराभिमर्शात्तु नान्यत्पापतरं महत् ।
प्रमदानां सहस्राणि तव राजन्परिग्रहः ॥ ३० ॥

हे रावण ! पराई स्त्री को हरने से बढ़ कर कोई दूसरा पाप नहीं है। फिर तुम्हारे रनवास में तो हज़ारों स्त्रियां मौजूद हैं ॥ ३० ॥

भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षस ।
मानमृद्धिं च राज्यं च जीवितं चेष्टमात्मनः ॥ ३१ ॥

अतः तुम उन्हीं अपनी स्त्रियों पर प्रीति करो और अपने कुल की, राक्षसों के मान की, राज्य की और अपने अभीष्ट जीवन की रक्षा करो ॥ ३१ ॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च ।
यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम्[१] ॥ ३२ ॥

यदि तुम परम सुन्दरी स्त्रियों और इष्ट मित्रों के साथ बहुत दिनों तक सुख भोगना चाहते हो, तो राम से बिगाड़ मत करो ॥ ३२ ॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं
प्रसह्य[२] सीतां यदि धर्षयिष्यसि ।
गमिष्यसि क्षीणबलः सबान्धवो
यमक्षयं रामशरात्तजीवितः ॥ ३३ ॥

इति अष्टत्रिंशः सर्गः ॥

---

१ रामविप्रियम्—रामापराधं । (गो०) २ प्रसह्य—बलात्कृत्य मामनाहत्येत्यर्थः । (गो०)

हे रावण ! मैं तुम्हारा हितैषी मित्र हूँ। यदि इस पर भी तुम बरजोरी सीता को हरोगे, तो तुम भाईबंदों सहित क्षीणबल हो, राम के बाणों से मारे जा कर, यमपुरी सिधारोगे ॥३३॥

अरण्यकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—※—

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित्तेन संयुगे।
इदानीमपि यद्वृत्तं तच्छृणुष्व निरुत्तरम्[1] ॥ १ ॥

हे रावण ! उस समय मैं जैसे बचा सो तुमसे बतलाया, अब मैं आगे का हाल कहता हूँ, सो तुम मुझे बीच में टोंके बिना सुनो ॥ १ ॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विण्णस्तथा कृतः।
सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ २ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी से वैर हो जाने के कारण) मैं अन्य दो मृग रूपी राक्षसों को अपने साथ ले दण्डकवन में गया, किन्तु इस बार भी मुझे परास्त होना पड़ा ॥ २ ॥

दीप्तजिह्वो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो महाबलः।
व्यचरं दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः ॥ ३ ॥

---

१ निरुत्तरम्—मध्ये वाक्यविच्छेदाकरणेन शृण्वित्यर्थः। (गो०)
२ अनिर्विण्णः—निर्वेदरहितः। (गो०)

उस समय अग्निशिखा की तरह तो मेरी जिह्वा लपलपाती थी और मेरे दांत बड़े पैने थे। मैं एक बड़े बलवान् मृग जैसा रूप धारण किये हुए था और मांस खाता हुआ दण्डकवन में घूम रहा था ॥३॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यवृक्षेषु रावण ।
अत्यन्तघोरो व्यचरं तापसान्सम्प्रधर्षयन् ॥ ४ ॥

हे रावण! अग्निहोत्र के स्थानों में, तीर्थों में, और पूज्य वृक्षों के निकट जा, मैं अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर, तपस्वियों को उत्पीड़ित किया करता था ॥ ४ ॥

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान्धर्मचारिणः ।
रुधिराणि पिबंस्तेषां तथा मांसानि भक्षयन् ॥ ५ ॥

दण्डकवन में, धर्मचारी तपस्वियों का वध कर, उनका रक्त पीता और उनका मांस खाता था ॥ ५ ॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन्वनगोचरान् ।
तथा रुधिरमत्तोऽहं विचरन्धर्मदूषकः ॥ ६ ॥

ऋषियों का मांस खाने वाला मैं अत्यन्त निष्ठुर बन, वनवासी ऋषियों को दुःख देता था। इस प्रकार रक्तपान से मतवला हो, मैं धर्म को नष्ट करता हुआ, दण्डकवन में विचरता था ॥ ६ ॥

आसादयं[1] तदा रामं तापसं धर्मचारिणम् ।
वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर मैंने तपस्वियों के धर्म का पालन करने में निरत रामचन्द्र, भाग्यवती सीता और महारथी लक्ष्मण को भी सताया ॥ ७ ॥

---

१ आसादयं--अपीडयन् । (शि०)

तापसं नियताहारं सर्वभूतहिते रतम् ।
सोऽहं वनगतं रामं परिभूय[1] महाबलम् ॥ ८ ॥

तपस्वी रामचन्द्र का, जो नियमित भोजन करने वाले हैं और जो सब प्राणियों की भलाई में तत्पर रहते हैं तथा जो महाबलवान एवं वन में रहते हैं, मैंने फिर तिरस्कार किया ॥ ८ ॥

तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन् ।
अभ्यधावं हि संक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः ॥ ९ ॥

जिघांसुरकृतप्रज्ञस्तं प्रहारमनुस्मरन् ।
तेन मुक्तास्त्रयो बाणाः शिताः शत्रुनिवर्हणाः ॥ १० ॥
विकृष्य बलवच्चापं सुपर्णानिलनिस्वनाः ।
ते बाणा वज्रसङ्काशाः सुमुक्ता रक्तभोजनाः ॥ ११ ॥

मैंने समझा रामचन्द्र एक साधारण तपस्वी हैं। अतः पहले के वैर को स्मरण कर तथा क्रोध में भर, मैं मृग का रूप धारण किये हुए, नुकीले सींगों को आगे कर और उनके पराक्रम को जान कर भी, उनको मार डालने की इच्छा से, उन पर झपटा। तब उन्होंने शत्रुनाशकारी तीन पैने बाण, जो गरुड़ या पवन की तरह बड़े वेगवान्, वज्र के तुल्य अमोघ और रुधिर पीनेवाले थे, धनुष को कान तक खींच कर छोड़े ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

आजग्मुः सहिताः सर्वे त्रयः सन्नतपर्वणः ।
पराक्रमज्ञो रामस्य शठो दृष्टभयः पुरा ॥ १२ ॥

उनको अपनी ओर आते देख मैं तो भागा। क्योंकि मैं राम के पराक्रम को जानता था और पहले से भयभीत भी था ॥ १२ ॥

---

१ परिभूय—अनादृत्य। (शि०)

*समुत्क्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुभौ राक्षसौ हतौ ।
शरेण मुक्तो रामस्य कथञ्चित्प्राप्य जीवितम् ॥१३॥

किन्तु मेरे दोनों साथी उन बाणों के लगने से मारे गये। मैंने किसी प्रकार रामचन्द्र के बाण से अपनी रक्षा की और प्राण बचाये ॥ १३ ॥

इह प्रव्राजितो[1] युक्तः[2]तापसोऽहं समाहितः[3] ।
वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ॥ १४ ॥

अब मैं और सब दुष्टताओं को त्याग, मन को अपने वश में कर, तपस्वियों के लिये उपयोगी आचरण करने में तत्पर हूँ। किन्तु अब भी मुझे चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए, रामचन्द्र प्रत्येक वृक्ष में देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण ॥ १५ ॥

हे रावण! जैसे हाथ में फांसी लिये यमराज देख पड़ें, वैसे ही मुझे हाथ में धनुष लिये राम देख पड़ते हैं। सो एक ही राम नहीं, ऐसे राम मुझे सहस्रों देख पड़ते हैं; जिनसे मुझे बड़ा डर लगता है ॥ १५ ॥

रामभूतमिदं सर्वमरण्यं प्रतिभाति मे ।
राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसाधिप ॥ १६ ॥

---

१ प्रव्राजितोः—कृत सकलदुर्वृत्त परित्यागः। (गो०) २ युक्तः—उचिताचरणः। (गो०) ३ समाहितः नियतमनस्कः। (गो०) * पाठान्तरे "समुद्भ्रान्तः"।

और तो क्या, यह सारा वन ही मुझे राममय देख पड़ता है। हे राक्षसनाथ! जब मैं देखता हूँ, तब मुझे राम ही देख पड़ते हैं। रामरहित स्थान तो मुझे देख ही नहीं पड़ता ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा स्वप्नगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः ।
रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण ॥ १७ ॥

मैं स्वप्न में राम को देख घबड़ा कर मूर्छित हो जाता हूँ। हे रावण! और तो क्या, जिन नामों के आदि में रकार होता है उनके सुनने से भी मुझे डर लगता है ॥ १७ ॥

रत्नानि च रथाश्चैव त्रासं सञ्जनयन्ति मे ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम् ॥ १८ ॥

रत्न और रथ शब्दों के आदि में रकार होने के कारण ये शब्द भी मुझे भयभीत कर देते हैं। मैं रामचन्द्र के प्रभाव को जानता हूँ। इसीसे कहता हूँ कि, तुम रामचन्द्र से लड़ने में समर्थ नहीं हो॥१८॥

बलिं वा नमुचिं वाऽपि हन्याद्धि रघुनन्दनः ।
रणे रामेण युध्यस्व क्षमां वा कुरु राक्षस ॥ १९ ॥

रामचन्द्र में राजा बलि और नमुचि को भी मारने की शक्ति है। इस पर भी तुम्हारी इच्छा हो तो तुम चाहे उनसे लड़ो अथवा न लड़ो ॥ १९ ॥

न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि ।
बहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः ॥ २० ॥

किन्तु यदि तुम मुझे जीता जागता देखना चाहते हो, तो मेरे सामने राम की चर्चा भी मत करो। ऐसे अनेक साधु और धर्माचरणयुक्त लोग इस संसार में हो गये हैं ॥ २० ॥

परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ।
सोऽहं तवापराधेन विनश्येयं निशाचर ॥ २१ ॥

जिन्हें दूसरों के किये अपराधों के कारण सकुटुम्ब नष्ट हो जाना पड़ा है। सो क्या मुझे भी तुम्हारे अपराध के लिये अपना नाश करवाना पड़ेगा ॥ २१ ॥

कुरु यत्ते क्षमं तत्त्वमहं त्वा नानुयामि ह ।
रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महाबलः ॥ २२ ॥

तुम्हें अब जैसा सूझ पड़े वैसा तुम करो, किन्तु मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा। क्योंकि रामचन्द्र बड़े तेजस्वी, पराक्रमी और बड़े बलवान् हैं ॥ २२ ॥

अपि राक्षसलोकस्य न भवेदन्तको हि सः ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥ २३ ॥
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ २४ ॥

कहीं ऐसा न हो कि, राक्षसों का नाम निशान तक न रह जाय। यद्यपि जनस्थान का रहने वाला खर, शूर्पणखा के लिये अक्लिष्टकर्मा रामचन्द्र द्वारा मारा गया; तथापि यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो, हे रावण! तुम्हीं बतलाओ, इसमें रामचन्द्र का क्या अपराध है? ॥ २३॥२४ ॥

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया
यथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे ।

सबान्धवस्त्यक्ष्यसि जीवितं रणे
हतोऽद्य रामेण शरैरजिह्मगैः ॥ २५ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

तुम मेरे बन्धु हो, इसीसे मैंने तुम्हारी भलाई के लिये ही ये सब बातें तुमसे कही हैं। यदि तुम मेरी बातों को न मानोगे, तो (स्मरण रखना) तुम सपरिवार रामचन्द्र के बाणों से युद्ध में मारे जावोगे ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

चत्वारिंशः सर्गः

—*—

मारीचेन तु तद्वाक्यं क्षमं युक्तं निशाचरः।
उक्तो न प्रतिजग्राह मर्तुकाम इवौषधम् ॥ १ ॥

युक्तियुक्त और मानने योग्य वचनों को सुन कर भी, रावण वैसे ही न माना, जैसे अपना मरण चाहने वाला आदमी औषध (का प्रभाव) नहीं मानता ॥ १ ॥

तं पथ्यहितवक्तारं मारीचं राक्षसाधिपः।
अब्रवीत्परुषं वाक्यमयुक्तं कालचोदितः ॥ २ ॥

उस समय, मृत्यु से प्रेरित रावण ने हितकर और युक्तियुक्त वचन कहने वाले मारीच से ऊटपटांग और कठोर वचन कहे ॥ २ ॥

यत्किलैतदयुक्तार्थं मारीच मयि कथ्यते।
वाक्यं निष्फलमत्यर्थमुप्तं बीजमिवोषरे॥ ३॥

हे मारीच! तुमने जो यह मेरी इच्छा के विरुद्ध वचन मुझसे कहे, सो ठीक नहीं हैं और ऊसर भूमि में बीज फेंक देने के समान निष्फल हैं॥ ३॥

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे[1]।
पापशीलस्य मूर्खस्य मानुषस्य विशेषतः॥ ४॥

तुम्हारे ये वचन मेरी राम के विषय की धारणा को अन्यथा नहीं कर सकते। अर्थात् सीताहरण सम्बन्धी भावी युद्ध से मेरा मन नहीं फेर सकते। मैं उस पापी, मूर्ख और विशेष कर मनुष्य राम से नहीं डरता,॥ ४॥

यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा।
स्त्रीवाक्यं प्राकृतं[2] श्रुत्वा वनमेकपदे[3] गतः॥ ५॥

जिसने अपने सुहृदों को, राज्य को और माता पिता को छोड़, केवल स्त्री के निःसार वचनों से वनवास करना तुरन्त अङ्गीकार कर लिया॥ ५॥

अवश्यं तु मया तस्य संयुगे खरघातिनः।
प्राणैः प्रियतरा सीता हर्तव्या तव सन्निधौ॥ ६॥

मैं तो युद्ध में खर का वध करने वाले उस राम की प्राणों से भी अधिक प्यारी भार्या को अवश्य हरूँगा॥ ६॥

---

१ रामस्यसंयुगे रामस्यविषये। (गो०) २ प्राकृतं—असारं। (गो०) ३ एकपदे—उत्तरक्षणे। (गो०)

एवं मे निश्चिता बुद्धिर्हृदि मारीच वर्तते ।
न व्यावर्तयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ७ ॥

मारीच ! इस विषय में मेरे मन की ऐसी दृढ़ धारणा है कि, देवताओं सहित इन्द्र भी उसे नहीं पलट सकते ॥ ७ ॥

दोषं गुणं वा संपृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि ।
अपायं वाऽप्युपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ८ ॥

यदि मैंने तुमसे इस विषय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने को गुण दोष पूंछे होते, तो ये सब बातें तुम कह सकते थे ॥ ८ ॥

संपृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता ।
उद्यताञ्जलिना राज्ञे य इच्छेद्भूति[1]मात्मनः ॥ ९ ॥

जो मंत्री चतुर और ऐश्वर्य के अभिलाषी होते हैं, वे राजा द्वारा कोई बात पूंछी जाने पर हाथ जोड़ कर उचित उत्तर देते हैं ॥ ९ ॥

वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं हितं शुभम् ।
उपचारेण[2] युक्तं च वक्तव्यो वसुधाधिपः ॥ १० ॥

क्योंकि राजा से बड़े सम्मान के साथ, अनुकूल, कोमल, हितयुक्त और शुभ वचन ही कहने चाहिये ॥ १० ॥

सावमर्दं[3] तु यद्वाक्यं मारीच हितमुच्यते ।
नाभिनन्दति तद्राजा मानार्हो मानवर्जितम् ॥ ११ ॥

हे मारीच ! हितकर भी वचन यदि तिरस्कार पूर्वक कहा जाय, तो माननीय राजा उस मानवर्जित वचन को सुन, प्रसन्न नहीं होते ॥ ११ ॥

---

१ भूतिं—ऐश्वर्यं । (गो०) २ उपचारेणयुक्तं—बहुमानेनपुरस्कृतं । (गो०) ३ सावमर्दं—तिरस्कारसहितं । (गो०)

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य वरुणस्य यमस्य च ॥ १२ ॥

अमित तेज वाला राजा, अग्नि, इन्द्र, चन्द्र, यम और वरुण, इन पांच देवताओं का रूप धारण करता है ॥ १२ ॥

औष्ण्यं[1] तथा विक्रमं च सौम्यं[2] दण्डं[3] प्रसन्नताम्।
धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर ॥ १३ ॥

इसीसे राजा में, अग्नि का मुख्य गुण उष्णत्व अर्थात् तीक्ष्णता, इन्द्र का मुख्य गुण पराक्रम, चन्द्रमा का मुख्य गुण आल्हादकरत्व (देखने से देखने वालों को प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला) यम का मुख्य गुण दण्ड अर्थात् दुष्टों का निग्रह और वरुण का मुख्य गुण प्रसन्नता पाये जाते हैं ॥ १३ ॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु मान्याः[4] पूज्याश्च[5] पार्थिवाः।
त्वं तु [6]धर्ममविज्ञाय केवलं मोहमास्थितः[7] ॥ १४ ॥

अतः सब अवसरों में राजा का मन से सम्मान और वाणी से सत्कार करना चाहिये। तूने राजधर्म को त्याग कर, अज्ञान का आश्रय लिया है (अर्थात् तू राजधर्म नहीं जानता और मूर्ख है) ॥१४॥

अभ्यागतं मां दौरात्म्यात्परुषं वक्तुमिच्छसि।
गुणदोषौ न पृच्छामि क्षमं चात्मनि राक्षस ॥ १५ ॥

---

१ औष्ण्यं—तैक्ष्ण्यं। (गो०) २ सौम्यं—आल्हादकरत्वं। (गो०) ३ दण्डं—दुष्टनिग्रहं। (गो०) ४ मान्याः—मनसापूज्याः। (गो०) ५ पूज्याः—वाचा बहुमन्तव्याः। (गो०) ६ धर्मं—राजधर्मं। (गो०) ७ मोहं—अज्ञानं। (गो०)

इसीसे तेरे घर में अतिथि रूप में आने पर भी तूने दुर्जनतावश मुझसे ऐसे कठोर वचन कहे हैं। मैं (अपने भावी कर्तव्य के) न तो तुझसे गुण और दोष ही पूँछता हूँ और न अपनी भलाई (का उपाय) ॥१५॥

मयोक्तं तव चैतावत्सम्प्रत्यमितविक्रम।
अस्मिंस्तु त्वं महाकृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे अमित विक्रमी! मेरा तो तुझसे इतना ही कहना है कि, सीताहरण के इस महाकार्य में तू मेरी सहायता कर ॥ १६ ॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम।
सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतबिन्दुभिः ॥ १७ ॥

मेरे कथनानुसार मेरी सहायता तुझे किस प्रकार करनी होगी सो भी मैं कहता हूँ, सुन। तू सोने और चांदी की बुन्दकियों-दार हिरन बन कर ॥१७॥

आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे[1] चर।
प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

रामाश्रम में जा और वहाँ सीता के सामने (घास) चरने लग। फिर सीता को लुभा कर, जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा ॥१८॥

त्वां तु मायामृगं दृष्ट्वा काञ्चनं जातविस्मया।
आनयैनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली ॥ १९ ॥

तेरे सोने के बनावटी मृग रूप को देख सीता को आश्चर्य होगा और वह राम से तुरन्त मृग को पकड़ लाने को कहेगी ॥१९॥

---

1 प्रमुखे—अग्रे। (गो०)

अपक्रान्ते तु काकुत्स्थे दूरं यात्वा व्युदाहर ।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानुरूपकम् ॥ २० ॥

जब राम आश्रम से निकल तेरा पीछा करे, तब तू दूर जा कर, ठीक रामचन्द्र जी की बोली में "हा सीते" "हा लक्ष्मण" कह कर चिल्लाना ॥२०॥

तच्छ्रुत्वा रामपदवीं[1] सीतया च प्रचोदितः ।
अनुगच्छति सम्भ्रान्तः सौमित्रिरपि सौहृदात् ॥ २१ ॥

तब ऐसा शब्द सुन सीता लक्ष्मण को भेजेगी और लक्ष्मण भाई के प्रेम से राम के मार्ग का अनुसरण करेंगे ॥२१॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम्[2] ।
आनयिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव ॥ २२ ॥

राम और लक्ष्मण के आश्रम से चले जाने पर, मैं विना प्रयास ही सीता को उसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार इन्द्र शची को ले आये थे ॥ २२ ॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस ।
राज्यस्यार्धं प्रयच्छामि मारीच तव सुव्रत ॥ २३ ॥

हे राक्षस ! बस मेरा इतना काम कर चुकने पीछे, तू जहाँ चाहे वहाँ चले जाना । (इस काम के पारिश्रमिक में), हे सुव्रत मारीच ! मैं तुझे अपना आधा राज्य दूँगा ॥२३॥

गच्छ सौम्य शिवं[3] मार्गं[4] कार्यस्यास्य विवृद्धये ।
अहं त्वानुगमिष्यामि सरथो दण्डकावनम् ॥ २४ ॥

---

१ पदवीं—मार्गं । (गो०) २ यथासुखं—यत्नंविना । (गो०) ३ शिवं—मनोहरं । (गो०) ४ मार्गं—मृगसम्बन्धिरूपं मार्गं । (गो०)

हे सौम्य! तुम इस कार्य को पूरा करने के लिये मृगों के चलने के मनोहर मार्ग से चलो। मैं भी रथ सहित तुम्हारे पीछे दण्डकवन में आता हूँ ॥२४॥

प्राप्य सीतामयुद्धेन वञ्चयित्वा तु राघवम्।
लङ्कां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया॥ २५॥

इस प्रकार छलबल से बिना युद्ध किये ही राम की सीता को पा कर, मैं कृतकार्य हो, तेरे साथ लङ्का की ओर चल दूँगा ॥२५॥

न चेत्करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै।
एतत्कार्यमवश्यं मे बलादपि[1] करिष्यसि।
राज्ञो हि प्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते॥ २६॥

यदि तू मेरा यह काम न करेगा, तो मैं तुझे अभी मार डालूँगा। तुझे मेरा यह काम अपनी इच्छा न रहते भी अवश्य करना होगा। क्योंकि कोई आदमी राजा के विरुद्ध आचरण कर, सुखी नहीं रह सकता॥ २६॥

आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो ह्यद्य मया विरुध्य।
एतद्यथावत्प्रतिगृह्य[2] बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तत्तथा त्वम्॥ २७॥

इति चत्वारिंशः सर्गः॥

---

१ बलादपि—अनिच्छन्नपि। (गो०) २ प्रतिगृह्य—निश्चित्य। (गो०)

राम के पास जाने से तो तुझे अपने बचने की केवल शङ्का मात्र ही है। किन्तु मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण करने से तेरी मौत निश्चित ही है। अतः इन दोनों बातों को सोच विचार कर, तुझे अपने लिये जो हितकर जान पड़े, सो अब कर ॥२७॥

अरण्यकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—*—

आज्ञप्तोऽराजवद्वाक्यं प्रतिकूलं निशाचरः।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं मारीचो राक्षसाधिपम् ॥ १ ॥

जब प्रतिकूल वचन कहने पर राक्षसनाथ रावण ने राजाओं की तरह इस प्रकार आज्ञा दी, तब मारीच ने निर्भीक हो उससे ये कठोर वचन कहे ॥१॥

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा।
सपुत्रस्य सराष्ट्रस्य सामात्यस्य निशाचर ॥ २ ॥

हे राक्षस! किस पापी ने तुम्हें यह उपदेश दिया है, जिससे तुम अपने राज्य, मंत्रियों और पुत्रों सहित नाश को प्राप्त हो ॥२॥

कस्त्वया सुखिना राजन्नाभिनन्दति पापकृत्।
केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः[1] ॥ ३ ॥

---

[1] उपायतः—व्याजेन। (गो०)

वह कौन पापी है, जो तुम्हें सुखी देख सुखी नहीं है? किसने उपाय के छल से यह तुम्हारी मौत का उपाय तुमको सुझाया है? ॥३॥

शत्रवस्तव सुव्यक्तं हीनवीर्या निशाचराः ।
इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपरुद्धं बलीयसा ॥ ४ ॥

हे राक्षसनाथ ! यह तो स्पष्ट ही है कि, तुम्हारे शत्रु बलहीन हो गये हैं, इसीसे वे चाहते हैं कि, कोई बलवान आ कर, तुम्हें घेर ले और तुम्हें नष्ट कर डाले ॥ ४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितवादिना ।
यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकृतेन निशाचर ॥ ५ ॥

हे रावण ! वह कौन नीच और तुम्हारा अहितकारी शत्रु है, जो तुम्हें यह शिक्षा दे, तुम्हारा नाश तुम्हारे ही हाथों करवाना चाहता है ॥५॥

वध्याः खलु न हन्यन्ते सचिवास्तव रावण ।
ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः ॥ ६ ॥

हे रावण ! सचिव अवश्य ही अवध्य हैं। किन्तु वे सचिव अवश्य मार डालने योग्य हैं, जो तुम्हें कुमार्ग पर चलने से नहीं रोकते ॥६॥

अमात्यैः कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रितः ।
निग्राह्यः सर्वथा सद्भिर्न निग्राह्यो निगृह्यसे ॥ ७ ॥

जब राजा यथेच्छाचारी हो कुमार्गगामी होने लगे, तब मंत्रियों का यह कर्त्तव्य है कि, वे उसे सर्वप्रकार रोकें, किन्तु तुम्हें कौन रोके। तुम तो किसी का कहना मानते ही नहीं ॥ ७ ॥

धर्ममर्थं च कामं च यशश्च जयतांवर ।
स्वामिप्रसादात्सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर ॥८॥

हे निशाचर ! हे विजय करने वालों में श्रेष्ठ ! मंत्रियों को अपने अपने स्वामी की प्रसन्नता ही से धर्म अर्थ काम और यश की प्राप्ति होती है॥ ८ ॥

विपर्यये तु तत्सर्वं व्यर्थं भवति रावण ।
व्यसनं स्वामिवैगुण्यात्प्राप्नुवन्तीतरे जनाः ॥ ९ ॥

और स्वामी के अप्रसन्न होने पर, हे रावण ! सब ही व्यर्थ हो जाता है। स्वामी के अप्रसन्न होने से इतर जनों को दुःख होता है ॥ ९ ॥

राजमूलोहि धर्मश्च जयश्च जयतांवर ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नराधिपाः ॥ १० ॥

हे जयतांवर ! धर्म व विजय का मूल राजा ही है, अथवा राजा ही प्रजाओं के धर्म व विजय का मूलकारण है। इसी लिये हर दशा में राजा लोगों की रक्षा करनी चाहिये ॥१०॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन[1] निशाचर ।
न चापिप्रतिकूलेन[2] नाविनीतेन[3] राक्षस ॥ ११ ॥

हे निशाचर ! जो राजा अत्याचारी होने के कारण प्रजा जनों को अप्रसन्न रखता है और अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता ॥११॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः[4] सचिवा भज्यन्ते सह तेन वै ।
विषमे[5] सुरगाः शीघ्रा मन्द[6]सारथयो यथा ॥ १२ ॥

---

१ तीक्ष्णेन—क्रूरदण्डेन । (गो०) २ प्रतिकूलेन—प्रजाविरुद्धेन । (गो०) ३ अविनीतेन—इन्द्रियजयरहितेन । (गो०) ४ तीक्ष्णमन्त्राः—तीक्ष्णोपाय प्रयोक्तारः । (गो०) ५ विषमे—निम्नोन्नत प्रदेशे । (गो०) ६ मन्द—अपटु । (गो०)

उग्र उपायों से काम लेने वाले मंत्री उस राजा के साथ अपने किये का फल उसी प्रकार भोगते हैं, जिस प्रकार ऊँची नीची ज़मीन पर तेज़ी के साथ घोड़े हांकने वाला नौसिखुआ सारथी। (अर्थात् ऊबड़ खाबड़ सड़क पर तेज़ी के साथ रथ दौड़ाने से केवल घोड़ों ही को कष्ट नहीं होता; किन्तु सारथी को भी कष्ट झेलना पड़ता है) ॥१२॥

बहवः साधवो लोके युक्ता[1] धर्ममनुष्ठिताः।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ १३ ॥

हे रावण! अनेक धर्मज्ञ जो धर्मानुष्ठान में तत्पर और नीति-मार्ग का अनुसरण करते थे, दूसरों के अपराध से अपने परिवार सहित नष्ट हो चुके हैं) ॥ १३ ॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण।
रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते मेषा गोमायुना यथा ॥ १४ ॥

हे रावण! उग्रस्वभाव और प्रतिकूलाचरणसम्पन्न राजा से रक्षित प्रजा की उन्नति वैसे ही नहीं होती, जैसे सियारों से रक्षित भेड़ों की उन्नति नहीं होती ॥१४॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

जिन राक्षसों के तुम जैसे क्रूर स्वभाव, निर्बुद्धि और अजितेन्द्री राजा हो, वे राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जांयगे ॥ १५ ॥

---

१ युक्ताः—नीतिमार्गनिष्ठाः। (गो०)

तदिदं काकतालीयं[1] घोरमासादितं मया ।
अत्रैव शोचनीयस्त्वं ससैन्यो विनशिष्यसि ॥ १६ ॥

अस्तु, मैं तो इस घोर काम में हाथ डालने से मारा जाऊँगा ही (इसका मुझे सोच नहीं) सोच तो मुझे इसका है कि, तुम ससैन्य नष्ट होगे ॥१६॥

मां निहत्य तु रामश्च न चिरात्त्वां वधिष्यसि ।
अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये यदरिणा हतः ॥ १७ ॥

मुझे क्या ? मैं यहाँ न मर कर यदि शत्रु (राम) के ही हाथ से मरूँगा तो (शत्रु के द्वारा मारे जाने के कारण) कृतकृत्य भी हो जाऊँगा;पर (याद रखो) राम तुम्हें भी अविलंब मार डालेंगे ॥१७॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामुपधारय ।
आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सबान्धवम् ॥१८॥

तू निश्चय जान कि, जहाँ राम के सामने मैं गया कि, मैं मारा-गया (अथवा रामदर्शन ही से तू मुझे मरा समझ ले)। साथ ही सीता को हरने से तू भी अपने को परिवार सहित मरा हुआ समझ ले ॥१८॥

आनयिष्यसि चेत्सीतामाश्रमात्सहितो मया ।
नैव त्वमसि नाहं च नैव लङ्का न राक्षसाः ॥ १९ ॥

मान लो, यदि तुम सीता को रामाश्रम से हर भी लाये और मैं भी जीता जागता बच गया, तो भी तुम्हारी, मेरी, लङ्का की और लङ्कावासी राक्षसों की कुशल नहीं ॥१९॥

---

1 काकतालीयं—याहच्छकं। (गो०)

निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा
न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर।
परेतकल्पा हि गतायुषो नरा
हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम् ॥ २० ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रावण! मैं तेरा हितैषी हूँ। मेरे मना करने पर भी तू मेरी इन बातों पर कान नहीं देता। सो ठीक ही है, क्योंकि जिन लोगों की आयु समाप्त होने वाली होती है, वे प्रेततुल्य हो जाते हैं, और अपने मित्रों के हितकारी वचनों को नहीं माना करते ॥२०॥

अरण्यकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—:*:—

एवमुक्त्वा तु वचनं मारीचो रावणं ततः।
गच्छावेत्यब्रवीद्दीनो[1] भयाद्रात्रिचरप्रभोः ॥ १ ॥

मारीच ने राक्षसराज रावण से ऐसे कठोर वचन तो कहे, किन्तु उसके भय से भीत हो, साथ ही घबड़ा कर यह भी कहा कि, अच्छा मैं चलता हूँ ॥१॥

दृष्टश्चाहं पुनस्तेन शरचापासिधारिणा।
मद्वधोद्यतशस्त्रेण विनष्टं जीवितं च मे ॥ २ ॥

---

१ दीन—दौस्थ्यमुपपादयति। (गो०)

किन्तु यदि मेरे मारने को धनुर्बाण एवं खड्ग लिये हुए रामचन्द्र मुझे फिर दिखलाई पड़े, तो मेरा प्राण गया हुआ ही समझना ॥ २ ॥

न हि रामं पराक्रम्य जीवन्प्रतिनिवर्तते ।
वर्तते प्रतिरूपोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥ ३ ॥

क्योंकि कोई भी पुरुष रामचन्द्र के सामने जा, अपने पराक्रम से जीता जागता नहीं लौट सकता। क्योंकि रामचन्द्र यमदण्ड के समान हैं। सो तुम और मैं दोनों ही मारे जाँयगे ॥३॥

किन्तु शक्यं मया कर्तुमेवं त्वयि दुरात्मनि ।
एष गच्छाम्यहं तात स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥ ४ ॥

तुम जैसे दुरात्मा पर मेरा क्या वश है। अस्तु, हे तात! हे निशाचर! तेरा मङ्गल हो, ले मैं अब चलता हूँ ॥४॥

प्रहृष्टस्त्वभवत्तेन वचनेन स रावणः ।
परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मारीच का यह वचन सुन, राक्षसेश्वर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसका गाढ़ आलिंगन कर, उससे यह वचन बोला ॥ ५ ॥

एतच्छौण्डीर्य[1]युक्तं ते मच्छन्दादिव भाषितम् ।
इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो निशाचरः ॥ ६ ॥

हे मारीच! अब तुमने वीरतायुक्त बात मेरे मन के अनुसार कही है। अब मैंने जाना कि, तुम मारीच हो। पहिले तो मैं तुम्हें एक साधरण राक्षस समझता था ॥६॥

---

१ शौण्डीर्यं—वीरत्वं। (गो०)

आरुह्यतामयं शीघ्रं रथो रत्नविभूषितः ।
मया सह तथा युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥ ७ ॥

अब तुम इस रत्नविभूषित और पिशाच-मुख वाले खरों से युक्त रथ पर मेरे साथ सवार हो लो ॥७॥

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ।
तां शून्ये प्रसभं सीतामानयिष्यामि मैथिलीम् ॥ ८ ॥

और सीता को लुभा कर फिर जहाँ चाहो वहाँ चले जाना। उस समय मैं सूनी पा, सीता को हर लाऊँगा ॥८॥

ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम् ।
आरुह्य ययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात् ॥ ९ ॥

तदनन्तर मारीच और रावण विमान जैसे रथ पर सवार हुए और तुरन्त उस आश्रम से रवाना हुए ॥९॥

तथैव तत्र पश्यन्तौ पत्तनानि वनानि च ।
गिरींश्च सरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च ॥ १० ॥

जाते हुए उन दोनों ने रास्ते में अनेक ग्रामों, वनों, पर्वतों, नदियों राष्ट्रों और नगरों को देखा * ॥ १० ॥

समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः ।
ददर्श सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः ॥ ११ ॥

तदनन्तर दण्डकवन में जा, राक्षसराज रावण और मारीच ने श्रीरामाश्रम को देखा ॥ ११ ॥

---

*लोगों का अनुमान है कि, वर्तमान् बंबई नगर का टापू ही मारीच के रहने का स्थान था।

अवतीर्य रथात्तस्मात्ततः काञ्चनभूषणात् ।

हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर सुवर्ण भूषित रथ से उतर, रावण ने मारीच का हाथ पकड़ उससे कहा ॥१२॥

एतद्रामाश्रमपदं दृश्यते कदलीवृतम् ।

क्रियतां तत्सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः ॥ १३ ॥

केले के वृक्षों से घिरा हुआ यही रामचन्द्र का आश्रम है; अब हे मित्र ! जिस काम के लिये हम लोग आये हैं, उसे झट पट कर डालो ॥१३॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ।

मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विचचार ह ॥ १४ ॥

तब रावण का यह वचन सुन, मारीच राक्षस मृग बन कर, रामाश्रम के द्वार पर विचरने लगा ॥१४॥

स तु रूपं समास्थाय महदद्भुतदर्शनम् ।

मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः ॥ १५ ॥

उस समय मारीच ने अपना बड़ा अद्भुत मृग का रूप बनाया। नीलम की तो उसके सींगों की नोंके थीं और मुख की रंगत कुछ सफेद और कुछ काली थी ॥१५॥

रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः ।

किञ्चिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलदलाधरः ॥ १६ ॥

मुख लाल कमल जैसा था और कान श्याम कमल के समान थे। गर्दन कुछ उठी हुई और शरीर का निचला भाग नील कमल की तरह बैंजनी रंग का था ॥१६॥

कुन्देन्दुवज्रसङ्काशमुदरं चास्य भास्वरम्
मधूकनिभपार्श्वश्च पद्मकिञ्जल्कसन्निभः ॥ १७ ॥

उसका पेट नीले कमल के रंग का और हीरा की तरह चमकता था। महुआ के पुष्प के रंग की तरह रंग की उसकी दोनों कोखे थीं और कमल की केसर के रंग जैसे रंग की उसकी छवि थी ॥१७॥

वैडूर्यसङ्काशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः।
इन्द्रायुधसवर्णेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजता ॥ १८ ॥

पन्ने के रंग जैसे रंग के उसके खुर, उसकी जांघे पतली और सब सन्धियां भरी हुई थीं; और इन्द्रधनुष जैसे रंग की पूछ को वह उठाये हुए था ॥ १८ ॥

मनोहरःस्निग्धवर्णो रत्नैर्नानाविधैर्वृतः।
क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः ॥ १९ ॥

वह देखने में बड़ा मनोहर, सचिक्कन रंग का था। और तरह तरह के रत्नों के रंगों से उसका शरीर सजा हुआ था। वह मारीच क्षणभर में परम् शोभायमान मृग बन गया था ॥ १९ ॥

वनं प्रज्वलयन्रम्यं रामाश्रमपदं च तत्।
मनोहरं दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥ २० ॥

वह राक्षस मारीच देखने योग्य मनोहर रूप धारण कर, उस वन और रमणीक श्रीरामाश्रम को शोभित करने लगा ॥ २० ॥

प्रलोभनार्थं वैदेह्या नानाधातुविचित्रितम्।
विचरन्गच्छते तस्माच्छाद्वलानि समन्ततः ॥ २१ ॥

वह, जानकी जी को लुभाने के लिये नाना प्रकार की धातुओं जैसे रंगों से विचित्र रूप धारण कर, हरी हरी दूब चरता हुआ, श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम में चारो ओर घूमने लगा ॥ २१ ॥

रूप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रो भूत्वा स प्रियदर्शनः ।
विटपीनां किसलयान्भङ्क्त्वादन्विचचार ह ॥ २२ ॥

चांदी के रंग की सैकड़ों बूँदों से विभूषित होने के कारण वह बहुत ही भला मालूम पड़ता था और वृक्षों के कोमल पत्तों को चरता हुआ घूमता था ॥२२॥

कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः ।
समाश्रयन्मन्दगतिः सीतासन्दर्शनं तथा ॥ २३ ॥

वह धीमी चाल से इधर उधर घूमता हुआ कभी केलों के और कभी कनैर की कुंजों की ओर जाता, जिससे सीता की दृष्टि में वह पड़ जाय ॥२३॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः ।
रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम् ॥ २४ ॥

वह, कमल पुष्प के रंग जैसी विचित्र पीठ को दिखलाता श्रीराम के आश्रम में सुखपूर्वक (मनमाना) घूमने लगा ॥ २४ ॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः ।
गत्वा मुहूर्तं त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ २५ ॥

वह मृगोत्तम बार बार आश्रम में जाता और बार बार लौट आता था। फिर कुछ ही देर बाद वह आश्रम में जाता और थोड़े ही देर बाद वहां से फिर लौट आता था। इस प्रकार वह मृग आश्रम में घूम फिर रहा था ॥ २५ ॥

विक्रीडंश्च क्वचिद्भूमौ पुनरेव निषीदति ।
आश्रमद्वारमागम्य मृगयूथानि गच्छति ॥ २६ ॥

वह कुछ काल तक कुलेल करता और फिर क्षण भर विश्राम करता । फिर आश्रम के द्वार पर आ कर मृगों के झुंडों में चला जाता ॥२६॥

मृगयूथैरनुगतः पुनरेव निवर्तते ।
सीतादर्शनमाकाङ्क्षन्राक्षसो मृगतां गतः ॥ २७ ॥

और मृगों के झुंडों के पीछे पीछे हो लेता और फिर लौट आता था । उस राक्षस ने जानकी के दर्शन की इच्छा से मृग का रूप धारण किया था ॥ २७ ॥

परिभ्रमति चित्राणि मण्डलानि विनिष्पतन्[1] ।
समुद्वीक्ष्य च तं सर्वे मृगा ह्यन्ये वनेचराः ॥ २८ ॥

वह चित्र विचित्र मण्डलाकार गतियों से (अर्थात् चक्कर लगा कर) घूम रहा था । उसको देख हिरन तथा अन्य वनचर जन्तु॥२८॥

उपागम्य समाघ्राय विद्रवन्ति दिशो दश ।
राक्षसः सोऽपि तान्वन्यान्मृगान्मृगवधे रतः ॥ २९ ॥

उसके पास आ कर उसके शरीर को सूँघते और सूँघ कर इधर उधर भाग जाते थे । वह पशुघाती राक्षस भी ॥२९॥

प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन् ।
तस्मिन्नेव ततः काले वैदेही शुभलोचना ॥ ३० ॥

अपना भाव छिपाने के लिये उनको छू कर के भी वह उनको खाता न था । उस समय सुघर नेत्रों वाली सीता जी ॥३०॥

कुसुमापचयव्यग्रा पादपानभ्यवर्तत ।
कर्णिकारानशोकांश्च चूतांश्च मदिरेक्षणा ॥ ३१ ॥

जानकी जी फूल तोड़ने में व्यग्र कभी कनैर, कभी अशोक और कभी आम के वृक्षों के नीचे घूम रही थीं ॥३१॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना ।
अनर्हाऽरण्यवासस्य सा तं रत्नमयं मृगम् ॥ ३२ ॥

वनवास करने के अयोग्य, सुन्दर मुखवाली सीता जी ने फूल तोड़ने के लिये इधर उधर घूमते समय उस रत्नमय मृग को देखा ॥३२॥

मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना ।
सा तं रुचिरदन्तोष्ठी रूप्यधातुतनूरुहम् ॥ ३३ ॥

सुन्दर दाँतों और अधर वाली जानकी जी ने उस मणि मुक्ताओं से सर्वाङ्ग-विभूषित और रुपैले रोओं से चमकते हुए मृग को ॥३३॥

विस्मयोत्फुल्लनयना सस्नेहं समुदैक्षत ।
स च तां रामदयितां पश्यन्मायामयो मृगः ॥ ३४ ॥

आश्चर्य चकित हो बड़े प्यार से देखा। वह बनावटी हिरन भी श्रीरामचन्द्र की प्यारी जानकी को देखता रहा ॥३४॥

विचचार पुनश्चित्रं दीपयन्निव तद्वनम् ।
अदृष्टपूर्वं तं दृष्ट्वा नानारत्नमयं मृगम् ।
विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ॥ ३५ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

फिर वह विचित्र मृग उस वन को सुशोभित करता हुआ वहाँ घूमने लगा। उस अपूर्व एवं अनेक रत्नमय मृग को देख, जनकदुलारी जानकी जी को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥३५॥

अरण्यकाण्ड का बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

सा तं संप्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमान्यपचिन्वती।
हैमराजतवर्णाभ्यां पार्श्वाभ्यामुपशोभितम् ॥ १ ॥

फूलों को चुनती हुई सीता जी ने उस मृग को देखा, जो सोने और रूपे के रंग वाली कोखों से सुशोभित था ॥ १ ॥

प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्ट[1]हाटक[2]वर्णिनी।
भर्तारमभिचक्रन्द[3] लक्ष्मणं चापि सायुधम् ॥ २ ॥

सुन्दर अंगों वाली तथा विशुद्ध सुवर्ण जैसे रंग के शरीरवाली सीता, उस हिरन को देख, अति आनन्दित हुई और आयुध ले कर आने के लिये श्रीराम और लक्ष्मण को उच्च स्वर से बुलाया ॥२॥

तयाऽऽहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ॥ ३ ॥

---

१ मृष्टं—शुद्धं। (गो०) २ हाटकं—सुवर्णं। (गो०)। ३ अभिचक्रन्द—उच्चैराहूतवत्। (गो०)

सीता जी के इस प्रकार पुकारने पर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस ओर ताकते हुए वहाँ गये और उन्होंने भी उस मृग को देखा ॥३॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्ट्वा लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ॥ ४ ॥

उस मृग को देख, लक्ष्मण के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ और उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—मुझे तो मृगरूपधारी यह निशाचर मारीच जान पड़ता है ॥४॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना[1] वने ।
अनेन निहता राजन्राजानः कामरूपिणा ॥ ५ ॥

हे राम ! इस पापी दुष्ट राक्षस ने मृगरूप धारण कर के परम हर्षित हो, शिकार खेलने को वन में आये हुए अनेक राजाओं को मारा है ॥५॥

अस्य मायाविदो मायामृगरूपमिदं कृतम् ।
भानुमत्पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसन्निभम् ॥ ६ ॥

इस मायावी ने, इस समय माया के बल से मृग का रूप धारण किया है। हे पुरुषसिंह ! सूर्य की तरह (अथवा) गन्धर्वनगर की तरह यह मृग परम दीप्ति युक्त जान पड़ता है ॥ ६ ॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव ।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः ॥ ७ ॥

---

१ उपाधिना—मृगरूपच्छलेन । (रा०)

हे पृथिवीनाथ ! हे राघव ! इस धरणीतल पर तो इस प्रकार का रत्नों से भूषित विचित्र मृग कोई है नहीं। अतः निस्सन्देह यह सब बनावट है ॥ ७ ॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता ।
उवाच सीता संहृष्टा चर्मणा हृतचेतना ॥ ८ ॥

छद्मवेषधारी मृग को देखने से हतबुद्धि हुई सीता, लक्ष्मण को बोलने से रोक कर और परम प्रसन्न हो एवं मुसकरा कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ ८ ॥

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः ।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥ ९ ॥

हे आर्यपुत्र ! यह परम मनोहर मृग मेरे मन को हरे लेता है। सो हे महाबाहो ! इसे तुम ले आओ। मैं इसके साथ खेला करूँगी ॥९॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः ।
मृगाश्चरन्ति सहिताः सृमराश्चमरास्तथा ॥ १० ॥
ऋक्षाः पृषतसङ्घाश्च वानराः किन्नरास्तथा ।
विचरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा मनोहराः ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! हमारे इस आश्रम में बहुत से मनोहर एवं श्रेष्ठ रूपवाले मृग, सृमर ऋक्ष, पृषत, वानर और किन्नरादि जातियों के अनेक जीव घूमा फिरा करते हैं ॥१०॥ ११॥

न चास्य सदृशो राजन्दृष्टपूर्वो मृगः पुरा ।
तेजसा[1] क्षमया[2] दीप्त्या[3] यथाऽयं मृगसत्तमः ॥१२॥

---

१ तेजसा—वर्णेन । (गो०) २ क्षमया—अत्वरया । (गो०) ३ दीप्त्या—शरीर प्रकाशेन ।(गो०)

किन्तु हे राजन्! जैसा रंग और जैसी चमक इस उत्तम हिरन में है और जैसा यह शान्त स्वभाव है, वैसा हिरन तो मैंने दूसरा पहले कभी नहीं देखा ॥१२॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नबिन्दुसमाचितः ।
द्योतयन्वनमव्यग्रं शोभते शशिसन्निभः ॥ १३ ॥

इसका सारा शरीर कैसा रंग बिरंगा है, बीच बीच में रत्नों की बिंदुकी कैसी शोभा दे रही हैं। यह मृग चन्द्रमा के समान वनभूमि को शान्तभाव से कैसा प्रकाशित कर रहा है ॥ १३ ॥

अहो [1]रूपमहो लक्ष्मीः[2] स्वरसंपच्च शोभना ।
मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥ १४ ॥

आहा! देखो तो इसके शरीर का रंग और कान्ति कैसी अच्छी है और कैसा मनोहर इसका शब्द है। हे राम! यह रंग बिरंगा अद्भुत हिरन मेरे मन को हरे लेता है ॥ १४ ॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव ।
आश्चर्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥ १५ ॥

यदि तुम कहीं इसे जीता ही पकड़ लेते, तो यह एक बड़ा आश्चर्यप्रद पदार्थ आश्रम में रह कर, विस्मय उत्पन्न किया करता ॥ १५ ॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः ।
अन्तःपुरविभूषार्थो मृग एष भविष्यति ॥ १६ ॥

फिर वनवास की अवधि बीतने पर जब हम लोग अयोध्या चलेंगे; तब यह मृग हमारे रनवास की शोभा होगा॥१६॥

---

१ रूपं—वर्णः । (गो०) १ लक्ष्मीः—कान्तिः । (गो०)

भरतस्यार्यपुत्रस्य श्वश्रूणां मम च प्रभो ।
[1]मृगरूपमिदं व्यक्तं विस्मयं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

हे प्रभो ! इस उत्तम मृग को देख देख कर भरत, आप, मेरी सास और मैं स्वयं, विस्मित हुआ करूँगी ॥१७॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः ।
अजिनं नरशार्दूल रुचिरं मे भविष्यति ॥ १८ ॥

यदि यह मृगोत्तम जीता न भी पकड़ मिले, तो हे पुरुषसिंह ! इसका चाम भी मुझे बहुत पसंद आवेगा ॥१८॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि ।
[2]शष्पबृस्यां [3]विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम्[4] ॥१९॥

यदि यह मारा ही गया तो भी इसकी सुनहली चाम को चटाई पर बिछा कर, मैं बैठना पसन्द करूँगी ॥१९॥

[5]कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं[6] मतम् ।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥ २० ॥

यद्यपि यह मैं जानती हूँ कि, मनमानी चीज़ पर मन चला कर, उसकी प्राप्ति के लिये पति को प्रेरणा करना, सती स्त्रियों के लिये सर्वथा अनुचित और भयङ्कर कृत्य है, तथापि इस मृग की अद्भुत देह ने मुझे अत्यन्त विस्मित कर दिया है ॥ २० ॥

---

१ मृगरूपं—प्रशस्तमृगः । (गो०) २ शष्पबृस्यां—बालतृणैः कृतायां बृस्यां । (गो०) ३ उपासितुं—स्थातुं । (गो०) ४ विनीतायां—आस्तृतायां । (गो०) ५ कामवृत्तं—भर्तृप्रेरणरूपस्वेच्छाव्यापारः । (गो०) ६ असदृशं—अयुक्तं । (गो०)

तेन काञ्चनरोम्णा तु मणिप्रवरशृङ्गिणा ।
तरुणादित्यवर्णेन नक्षत्रपथ[1]वर्चसा ॥ २१ ॥
बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम् ।
एवं सीतावचः श्रुत्वा तं दृष्ट्वा मृगमद्भुतम् ॥ २२ ॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी भी उस सुवर्ण रोम वाले, मणिभूषित सींगों वाले, तरुण सूर्य के समान कान्ति वाले और आकाश के समान रंग वाले मृग को देख, विस्मित हुए। सीता के ऐसे वचन सुन और उस अद्भुत मृग को देख, ॥ २१ ॥ २२ ॥

लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः ।
उवाच राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मन उस मृग पर लुभा गया। वे सीता जी के कथन को मान और प्रसन्न हो अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥२३॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहां मृगगतामिमाम् ।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ २४ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो तो सीता इस मृग के सौन्दर्य पर कैसी लट्टू हो गयी है। सचमुच अब ऐसा मृग मिलना दुर्लभ है ॥२४॥

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये ।
कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित्समो मृगः ॥ २५ ॥

क्योंकि हे लक्ष्मण ! जब ऐसा मृग नन्दनवन और चैत्ररथवन ही में नहीं है, तब पृथिवी पर ऐसा मृग मिलना सर्वथा दुर्लभ है ॥ २५ ॥

---

1 नक्षत्रपथः—छायापथः। (गो०)

[1]प्रतिलोमानुलोमा[2]श्च रुचिरा रोमराजयः ।
शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः[3] कनकबिन्दुभिः ॥ २६ ॥

इस मृग के शरीर पर आड़ी तिरछी सुन्दर रोमावली सुवर्ण बिन्दुओं से भूषित हो, कैसी अद्भुत जान पड़ती हैं ॥२६॥

पश्यास्य जृम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम् ।
जिह्वां मुखान्निःसरन्तीं मेघादिव शतह्रदाम् ॥ २७ ॥

जैसे मेघ में बिजली कौंधे, वैसे ही जमुहाई लेने के समय इसके मुख से अग्निशिखा के समान जप जप करती जीभ निकलती है ॥२७॥

मसारगल्लर्कमुखः शङ्खमुक्तानिभोदरः ।
कस्य नामाभिरूपो[4]ऽसौ न मनो लोभयेन्मृगः ॥ २८ ॥

इसका मुख, नीलम के प्याले जैसा है और इसका पेट शङ्ख और मोती की तरह है । भला ऐसा सुन्दर मृग किसके मन को न लुभावेगा अथवा ऐसा सुन्दर मृग देख कौन लोभायमान न होगा? ॥२८॥

कस्य रूपमिदं दृष्ट्वा जाम्बूनदमयं प्रभो ।
नानारत्नमयं दिव्यं न मनो विस्मयं व्रजेत् ॥ २९ ॥

इसका सुवर्णनिर्मित और नाना रत्नखचित दिव्य रूप देख, किसका मन विस्मित न होगा ॥ २९ ॥

[किं पुनर्मैथिली सीता बाला नारी न विस्मयेत् ।]
मांसहेतोरपि मृगान्विहारार्थं च धन्विनः ॥ ३० ॥

---

१ प्रतिलोमाः—तिर्यग्भूताः । (गो०) २ अनुलोमाः—अनुकूलाः (गो०) ३ चित्राः—आश्चर्यभूताः । (गो०) ४ अभिरूपः—सुन्दरः । (गो०)

फिर भला इसको देख मैथिली सीता, जो एक स्त्री है, क्यों न विस्मित होगी। हे लक्ष्मण! धनुर्धारी राजा लोग, मांस और विनोद के लिये भी आखेट में मृगों को मारते हैं ॥३०॥

घ्नन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने।
धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने ॥ ३१ ॥

राजाओं को शिकार के लिये बड़े बड़े वनों में घूमने फिरने पर बहुमूल्य पदार्थ भी मिल जाते हैं ॥ ३ ॥

धातवो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः।
तत्सारमखिलं नृणां धनं निचयवर्धनम् ॥ ३२ ॥

अनेक प्रकार की धातुएँ, तरह तरह की मणियां, रत्न और स्वर्ण उनको मिलते हैं। इन्हीं श्रेष्ठ पदार्थों से राजा लोग अपने धनागार की वृद्धि करते हैं ॥ ३२ ॥

मनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण।
अर्थी येनार्थकृत्येन संव्रजत्यविचारयन् ॥ ३३ ॥

हे लक्ष्मण! इसी लिये वन में सब लोगों की इच्छा उसी प्रकार पूरी होती है, जिस प्रकार शुक्र की इच्छा पूरी हुई थी। अर्थ के लिये उद्योग करने में जो अर्थ अनायास मिल जाय ॥ ३३ ॥

तमर्थमर्थशास्त्रज्ञाः प्राहुरर्थ्याश्च लक्ष्मण।
एतस्य मृगरत्नस्य[1] परार्ध्ये[2] काञ्चनत्वचि ॥ ३४ ॥
उपवेक्ष्यति वैदेही मया सह सुमध्यमा।
न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाविकी ॥ ३५ ॥

---

१ मृगरत्नस्य—मृगश्रेष्ठस्य। (गो०) २ परार्ध्ये—श्लाघ्ये। (गो०)

भवेदेतस्य सदृशी स्पर्शनेनेति मे मतिः ।
एष चैव मृगः श्रीमान्यश्च दिव्यो नभश्चरः[1] ॥ ३६ ॥

हे लक्ष्मण ! उसी अर्थ को अर्थशास्त्रज्ञ अर्थ कहते हैं । अतः इस श्रेष्ठ मृग की श्लाघ्य सुनहली खाल पर सुन्दर कमर वाली जानकी मेरे साथ बैठेंगी । मेरी समझ में इस मृग की खाल के बराबर छूने में कोमल, न तो कादली, न प्रियकी, न प्रवेणी न चाविकी जाति के हिरनों की खाल हो सकती है । यह मृग और आकाशचारी दिव्य ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ ।
यदि वाऽयं तथा यन्मां भवेद्वदसि लक्ष्मण ॥ ३७ ॥

मृगशिरा नक्षत्र रूपी मृग—दोनों ही अत्यन्त शोभायुक्त हैं । हे लक्ष्मण ! यदि तुम्हारा कहना ही ठीक हो ॥ ३७ ॥

मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया ।
एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना[2] ॥ ३८ ॥

और यह राक्षसी माया ही हो, तो भी इसका वध करना मेरा कर्त्तव्य है । क्योंकि इस कसाई मारीच ने दुष्टतापूर्वक, ॥ ३८ ॥

वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुङ्गवाः ।
उत्थाय[3] बहवो येन मृगयायां जनाधिपाः ॥ ३९ ॥

वन में विचरते हुए पहिले अनेक श्रेष्ठ मुनियों का वध किया है और वन में प्रकट हो, शिकार खेलने के लिये आये हुए अनेक राजाओं को जो, ॥ ३९ ॥

---

१ नभश्चरोमृगः—मृगशीर्षः । (गो०) २ अकृतात्मना—दुष्टभावेन । (गो०)
३ उत्थाय—प्रादुर्भूय । (गो०)

निहताः परमेष्वासास्तस्माद्वध्यस्त्वयं मृगः ।
पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः ॥ ४० ॥

बड़े बड़े धनुर्धारी थे, इसने वध किया है। इसलिये भी यह मृग-रूपधारी मारीच मारने योग्य है। पूर्वकाल में वातापी नामक राक्षस तपस्वियों को धोखा दे कर, ॥ ४० ॥

उदरस्थो द्विजान्हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव ।
स कदाचिच्चिराल्लोभादाससाद महामुनिम् ॥ ४१ ॥

और उनके पेट में घुस उनको वैसे ही मार डाला करता था, जैसे गर्भस्थ खच्चरी अपनी माता को मार डालती है, सो उस राक्षस ने बहुत दिनों बाद, लोभ में पड़, अगस्त्य जी पर हाथ साफ करना चाहा ॥ ४१ ॥

अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्षस्तस्य बभूव ह ।
समुत्थाने[1] च तद्रूपं[2] कर्तुकामं समीक्ष्य तम् ॥ ४२ ॥
उत्स्मयित्वा तु भगवान्वातापिमिदमब्रवीत् ।
त्वयाविगण्य[3] वातापे परिभूताः स्वतेजसा ॥४३॥
जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः ।
तदेतन्न भवेद्रक्षो वातापिरिवलक्ष्मण ॥ ४४ ॥

वह राक्षस अगस्त्य मुनि का भक्ष्य बन गया। फिर श्राद्ध के अन्त में अपना पूर्व रूप धारण करने की इच्छा उस राक्षस की देख अगस्त्य जी ने हँस कर उससे यह कहा— हे वातापे ! तूने विना

---

१ समुत्थाने—श्राद्धान्ते । (गो०) २ तद्रूपं—रक्षोरूपं । (गो०) ३ अविगण्य—अविचार्य । (गो०)

सोचे समझे इस जीवलोक में बहुत ब्राह्मणों को अपने कुल से नष्ट किया है, अतः तू मेरे पेट में जीर्ण हो गया। हे लक्ष्मण! वातापी की तरह ही क्या यह राक्षस नहीं है? ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम्।
भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मां गतः ॥ ४५ ॥

जब यह मेरे जैसे जितेन्द्रिय और सदा धर्म में तत्पर रहने वाले का तिरस्कार करता है, तब यह उसी तरह मेरे हाथ से मारा जायगा, जिस प्रकार अगस्त्य द्वारा वातापी मारा गया था ॥ ४५ ॥

इह त्वं भव सन्नद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम्।
अस्यामायत्तमस्माकं यत्कृत्यं रघुनन्दन ॥ ४६ ॥

अब तुम तो शस्त्र ले और सावधान रह कर, जानकी की रक्षा करो। क्योंकि जानकी की रक्षा करना हमारा अवश्य करणीय कार्य है ॥ ४६ ॥

अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यपि वा मृगम्।
यावद्गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम् ॥ ४७ ॥

अब मैं या तो इस मृग को पकड़ कर ही लाता हूँ अथवा इसका वध ही करता हूँ। हे लक्ष्मण! अब मैं इस मृग को लाने के लिये शीघ्रता पूर्वक जाता हूँ ॥ ४७ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेहीं मृगत्वचि गतस्पृहाम्।
त्वचा प्रधानया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ ४८ ॥

देखो लक्ष्मण सीता जी की लालसा इस मृगचर्म में कितनी अधिक है। इससे यह हिरन अपनी खाल के कारण आज अवश्य मारा जायगा ॥ ४८ ॥

अप्रमत्तेन ते भाव्यमाश्रमस्थेन सीतया।
यावत्पृषतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम्।
हत्वैतच्चर्म चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण॥ ४९॥

हे लक्ष्मण! जब तक मैं इस मृग को एक ही बाण से मार और इसका चाम ले लौट कर न आऊँ, तब तक तुम सावधानता पूर्वक इस आश्रम में सीता के पास रहो। मैं शीघ्र ही लौट कर आता हूँ॥ ४९॥

[1]प्रदक्षिणेनातिबलेन पक्षिणा
जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण।
भवाप्रमत्तः परिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः॥ ५०॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्ग॥

हे लक्ष्मण! तुम जानकी की रक्षा के लिये अत्यन्त बली और चतुर जटायु के साथ सब से सदा चौकन्ने रह कर, यहाँ सावधान बने रहना॥ ५०॥

अरण्यकाण्ड का तेतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

---

१ प्रदक्षिणेन—अत्यन्तसमर्थेन। (गो०)

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—❋—

तथा तु तं समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः ।

बबन्धासिं महातेजा जाम्बूनदमयत्सरुम्[1] ॥ १ ॥

भाई को इस प्रकार समझा कर, श्रीरामचन्द्र ने सोने की मूठ लगी हुई तलवार ली ॥ १ ॥

ततस्त्रयवनतं चापमादायात्मविभूषणम् ।

आबध्य च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः ॥ २ ॥

फिर तीन जगह से झुका हुआ धनुष, जो उनका आभूषण था, ले और दो तरकस पीठ पर बांध, प्रचण्ड पराक्रमी श्रीरामचन्द्र रवाना हुए ॥ २ ॥

तं वञ्चयानो राजेन्द्रमापतन्तं निरीक्ष्य वै ।

बभूवान्तर्हितस्त्रासात्पुनः सन्दर्शनेऽभवत् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी को आते देख, धोखेबाज़ मारीच कुछ देर के लिये छिप गया। पीछे से फिर दिखलाई दिया ॥ ३ ॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृगः ।

तं स्म पश्यति रूपेण द्योतमानमिवाग्रतः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी खड्ग कमर में बांधे और धनुष हाथ में लिये हुए, जिधर वह देख पड़ा उसी ओर चले। मारीच कान्तिमान् श्रीरामचन्द्र जी को अपने समाने ही देखता था ॥ ४ ॥

---

1 त्सरुः—खड्गमुष्टिः। (गो०)

अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तं धनुष्पाणिं महावने ।
अतिवृत्तमिषोः पातात्लोभयानं कदाचन ॥ ५ ॥

कभी वह मृग धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को बार बार देख कर उस महावन में दौड़ लगाता। कभी कुलांचें मार कर, दूर हो जाता और कभी अति निकट आ उनको लुभाता ॥ ५ ॥

शङ्कितं तु समुद्भ्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरे ।
दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥ ६ ॥

कभी शङ्कित और घबड़ा कर वह इतनी ऊँची छलांग भरता कि, मानों वह आकाश में चला जायगा। कभी देखते ही देखते अदृश्य हो जाता और कभी वन में दूर जा निकलता ॥ ६ ॥

छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम् ।
मुहूर्तादेव ददृशे मुहुर्दूरात्प्रकाशते ॥ ७ ॥

कभी वह (पवन से) छितराये हुए मेघों से घिरे हुए शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह छिप जाता और मुहुर्त्त बाद ही फिर दूर पर दिखलाई पड़ता था ॥ ७ ॥

दर्शनादर्शनादेवं सोऽपाकर्षत राघवम् ।
सुदूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥ ८ ॥

इस प्रकार बार बार छिपता और प्रगट होता हुआ मृग रूपधारी मारीच, श्रीरामचन्द्र जी को आश्रम से दूर ले गया ॥ ८ ॥

आसीत्क्रुद्धस्तु काकुत्स्थो विवशः[1]तेन मोहितः[2] ।
अथावतस्थे *सुश्रान्तश्छायामाश्रित्य शाद्वले ॥ ९ ॥

---

१ विवशः कुतूहलपरवशः। (गो०) २ मोहितः—वञ्चितः। (गो०)

* पाठान्तरे—"सम्भ्रान्तः।"

श्रीरामचन्द्र जी कुतूहलवश हो, मारीच से जब इस प्रकार छले गये, तब वे क्रुद्ध और थक जाने के कारण छायायुक्त तृणमय स्थान पर खड़े हो गये ॥ ९ ॥

स तमुन्मादयामास मृगरूपो निशाचरः ।
मृगैः परिवृतो वन्यैरदूरात्प्रत्यदृश्यत ॥ १० ॥

वह मृगरूपधारी निशाचर श्रीरामचन्द्र जी को भुलावा देने के लिये, अन्य मृगों में जा मिला और समीप ही देख पड़ा ॥ १० ॥

ग्रहीतुकामं दृष्ट्वैनं पुनरेवाभ्यधावत ।
तत्क्षणादेव संत्रासात्पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ ११ ॥

जब उसने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी मुझे पकड़ा ही चाहते हैं, तब वह फिर भागा और डर कर फिर छिप गया ॥ ११ ॥

पुनरेव ततो दूराद्वृक्षषण्डाद्विनिःसृतम् ।
दृष्ट्वा रामो महातेजास्तं हन्तुं कृतनिश्चयः ॥ १२ ॥

फिर वह बहुत दूर जा कर वृक्ष समूह से निकलता हुआ दिखलाई पड़ा। महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने यह देख कर अब उस मृग को मार डालना ही निश्चय किया ॥ १२ ॥

भूयस्तु शरमुद्धृत्य कुपितस्तत्र राघवः ।
सूर्यरश्मिप्रतीकाशंज्वलन्तमरिमर्दनः ॥ १३ ॥

उन्होंने रोष में भर कर, बड़े वेग से तरकस से सूर्य की तरह चमचमाता और शत्रु का नाश करने वाला एक बाण निकाला ॥ १३ ॥

सन्धाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद्बली ।
तमेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ १४ ॥

और उसको अपने मज़बूत धनुष पर चढ़ा और रोदे को बल पूर्वक खींच, और हिरन का निशाना बांध, फुंसकारते हुए सांप की तरह ॥ १४ ॥

मुमोच ज्वलितं दीप्तमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम् ।
शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः ॥ १५ ॥

छोड़ा। ब्रह्मा के बनाये हुए और चमचमाते हुए उस उत्तम बाण ने जा कर, उस मृग के शरीर को विदीर्ण कर डाला॥ १५॥

मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसन्निभः ।
तालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतत्स शरातुरः ॥ १६ ॥

उस वज्र तुल्य बाण के लगने से मारीच एक ताड़ वृक्ष के बराबर ऊँचा उछल कर और बाण की चोट से व्यथित हो, ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ १६ ॥

विनदन्भैरवं नादं धरण्यामल्पजीवितः ।
म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ॥ १७ ॥

ज़मीन पर गिर अल्प समय जीने वाले मारीच ने भयङ्कर नाद किया। मरते समय मारीच ने बनावटी (हिरन के) शरीर को त्याग दिया ॥ १७ ॥

स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम् ।
इह प्रस्थापयेत्सीता शून्ये तां रावणो हरेत् ॥ १८ ॥

उस समय वह रावण की बात याद कर, विचारने लगा कि, सीता क्यों कर लक्ष्मण को यहां भेजे, जिससे सीता को एकान्त में पा, रावण हर कर ले जाय ॥ १८ ॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वरम् ।
सदृशं राघवस्यैव हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ १९ ॥

उपयुक्त अवसर जान, मारीच ने ठीक श्रीरामचन्द्र के कण्ठस्वर का अनुकरण कर, चिल्ला कर कहा—हा सीते! हा लक्ष्मण! ॥१९॥

तेन मर्मणि निर्विद्धः शरेणानुपमेन च।
मृगरूपं तु तत्त्यक्त्वा राक्षसं रूपमात्मनः ॥२०॥

श्रीरामचन्द्र जी के अनुपम बाण से उसका मर्मस्थल ऐसा विदीर्ण हो गया था कि, वह फिर मृग का रूप धारण न कर सका और अपने राक्षस रूप में प्रकट हो गया ॥ २० ॥

चक्रे स सुमहाकायो मारीचो जीवितं त्यजन्।
ततो विचित्रकेयूरः सर्वाभरणभूषितः ॥ २१ ॥

मरने के समय मारीच विशाल शरीरधारी हो गया और उस समय विचित्र केयूरादि सब आभूषण धारण किये हुए वह देख पड़ा ॥ २१ ॥

हेममाली महादंष्ट्रो राक्षसोऽभूच्छराहतः।
तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ २२ ॥

बाण के लगने से वह सुवर्ण की माला पहिने हुए बड़े बड़े दाँतों वाला राक्षस बन गया। उस भयङ्कर राक्षस को पृथिवी पर गिरा हुआ देख ॥ २२ ॥

रामो रुधिरसिक्ताङ्गं वेष्टमानं महीतले।
जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥ २३ ॥

और लोहू से तरवतर जमीन पर लोटता हुआ देख, श्रीरामचन्द्र मन ही मन सीता की चिन्ता करने लगे। उस समय उन्हें लक्ष्मण की कही बात याद आयी ॥ २३ ॥

मारीचस्यैव मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु ।
तत्तथा ह्यभवच्चाद्यमारीचोऽयं मया हतः ॥ २४ ॥

वे सोचने लगे कि, देखो लक्ष्मण ने पहले ही कहा था कि, यह मारीच की माया है । सो उन्हींकी बात ठीक निकली और यह मारीच मेरे द्वारा मारा गया ॥ २४ ॥

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य च महास्वनम् ।
ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कथं भवेत् ॥२५॥

यह राक्षस "हा ! सीते हा लक्ष्मण ! " चिल्लाता हुआ मरा है । सो जब ये शब्द सीता ने सुने होंगे, तब उसकी क्या दशा हुई होगी ॥ २५ ॥

लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति ।
इति सञ्चिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥२६॥

इससे महाबाहु लक्ष्मण की भी न मालूम क्या दशा हुई होगी। यह सोचने से डर के मारे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र के शरीर के रोए खड़े हो गये ॥ २६ ॥

तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम् ।
राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वरम् ॥ २७ ॥

उस समय मृगरूपी मारीच को मार और उसका इस प्रकार चिल्लना सुन कर, वे बहुत डरे और दुःखी हुए ॥ २७ ॥

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः ॥
त्वरमाणो जनस्थानं [1]ससाराभिमुखस्तदा ॥ २८ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

---

1 ससार—ययौ (गो० ।

तदनन्तर (श्रीरामचन्द्र जी) एक और मृग को मार और उसका मांस ले शीघ्रतापूर्वक जनस्थान की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का चौवालीसवां सर्ग पूरा हुआ।

—*—

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

—:*:—

आर्तस्वरं तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने ।
उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम् ॥ १ ॥

जब जानकी जी ने उस वन में पति के कण्ठस्वर के सदृश स्वर में आर्त्तनाद सुना, तब वे लक्ष्मण से बोलीं कि, जा कर तुम श्रीरामचन्द्र को देखो तो ॥ १ ॥

न हि मे हृदयं स्थाने[1] जीवितं[2] वाऽवतिष्ठते* ।
क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम् ॥ २ ॥

इस समय मेरा जी ठिकाने नहीं; चित्त न जाने कैसा हो रहा है। क्योंकि मैंने परम पीड़ित और अत्यन्त चिल्लाते हुए श्रीरामचन्द्र का शब्द सुना है ॥ २ ॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि ।
तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम्[3] ॥ ३ ॥

---

१ स्थाने—स्वस्थाने। (गो०) २ जीवितं—प्राणः। (गो०) ३ शरणैषिणं—रक्षकार्थिनं। (गो०) * पाठान्तरे—"तिष्ठति।"

अतः तुम वन में जा कर इस प्रकार आर्त्तनाद करने वाले अपने भाई की रक्षा करो और दौड़ कर शीघ्र आओ, क्योंकि उनको इस समय रक्षक की आवश्यकता है ॥ ३ ॥

रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोवृषम् ।
न जगाम तथोक्तस्तु भ्रातुराज्ञाय शासनम् ॥ ४ ॥

जान पड़ता है, वे राक्षसों के वश में जा पड़े हैं, इसीसे वे सिंहों के बीच में पड़े हुए बैल की तरह विकल हैं। सीता जी के इस कहने पर भी लक्ष्मण जी न गये। क्योंकि उनको उनके भाई श्रीरामचन्द्र जाते समय आश्रम में रह कर, सीता की रखवाली करने की आज्ञा दे गये थे ॥ ४ ॥

तमुवाच ततस्तत्र कुपिता जनकात्मजा ।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥ ५ ॥

तब तो सीता जी ने क्रोध कर लक्ष्मण से कहा—हे लक्ष्मण ! तुम अपने भाई के मित्ररूपी शत्रु हो ॥ ५ ॥

यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपत्स्यसे ।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥ ६ ॥

क्योंकि इस दशा में भी तुम भाई के समीप नहीं जाते। मैंने जान लिया, तुम मेरे लिये अपने भाई का विनाश चाहते हो ॥ ६ ॥

लोभान्मम कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम् ।
व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥ ७ ॥

तुम निश्चय ही मुझे हथियाने के लोभ से श्रीरामचन्द्र जी के पास नहीं जाते। तुमको अपने भाई का दुःखी होना अच्छा लगता है। अपने भाई में तुम्हारी ज़रा भी प्रीति नहीं है ॥ ७ ॥

तेन तिष्ठसि विस्रब्धस्तमपश्यन्महाद्युतिम् ।
किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह मया भवेत् ॥ ८ ॥
कर्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः ।
इति ब्रुवाणां वैदेहीं बाष्पशोकपरिप्लुताम् ॥ ९ ॥

(यदि ऐसा न होता तो) तुम क्या उस महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र के बिना इसी प्रकार निश्चिन्त और स्थिर बैठे रहते। देखो जिन श्रीरामचन्द्र जी के अधीन में हो कर, तुम वन में आये हो, उन्हीं श्रीरामचन्द्र जी के प्राण जब सङ्कट में पड़े हैं, तब मैं यहाँ रह कर ही क्या करूँगी (अर्थात् यदि तुम न जाओगे तो मैं जाऊँगी)। जब जानकी जी ने आँखों में आँसू भर कर, यह कहा ॥ ८ ॥ ९ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणस्त्रस्तां सीतां मृगवधूमिव ।
पन्नगासुरगन्धर्वदेवमानुषराक्षसैः ॥ १० ॥

तब मृगी के समान डरी हुई सीता जी से लक्ष्मण जी बोले कि, पन्नग, असुर, गन्धर्व, देवता, मनुष्य, राक्षस ॥ १० ॥

अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः ।
देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥ ११ ॥
राक्षसेषु पिशाचेषु किन्नरेषु मृगेषु च ।
दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥ १२ ॥
यो रामं प्रति युध्येत समरे वासवोपमम् ।
अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

कोई भी तुम्हारे पति (श्रीरामचन्द्र जी) को नहीं जीत सकता। इसमें कुछ भी सन्देह मत करना। हे सीते! हे शोभने! देवताओं,

मनुष्यों, गन्धर्वों, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों, मृगों, भयङ्कर वानरों में कोई भी ऐसा नहीं, जो इन्द्र के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र के समाने रणक्षेत्र में खड़ा रह सके। युद्धक्षेत्र में श्रीरामचन्द्र अवध्य हैं। अतः तुमको ऐसा कहना उचित नहीं ॥११॥१२॥१३॥

न त्वामस्मिन्वने हातुमुत्सहे राघवं विना।
अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र की अनुपस्थिति में, मैं तुम्हें इस वन में अकेली छोड़ कर नहीं जा सकता। बड़े बड़े बलवानों की भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र के बल को रोक सकें ॥१४॥

त्रिभिर्लोकैः समुद्युक्तैः सेश्वरैरपि सामरैः।
हृदयं निर्वृतं तेऽस्तु सन्तापस्त्यज्यतामयम् ॥१५॥

अगर तीनों लोक और समस्त देवताओं सहित इन्द्र इकट्ठे हो जाँय, तो भी श्रीरामचन्द्र का सामना नहीं कर सकते। अतः तुम सन्ताप को दूर कर, आनन्दित हो ॥ १५ ॥

आगमिष्यति ते भर्ता शीघ्रं हत्वा मृगोत्तमम्।
न च तस्य स्वरो व्यक्तं मायया केनचित्कृतः ॥ १६ ॥

उस उत्तम मृग को मार तुम्हारे पति शीघ्र आ जांयगे। जो शब्द तुमने सुना है, वह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं है, यह तो किसी का बनावटी शब्द है ॥ १६ ॥

गन्धर्वनगरप्रख्या माया सा तस्य रक्षसः।
न्यासभूतासि वैदेहि न्यस्ता मयि महात्मना ॥ १७ ॥
रामेण त्वं वरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
कृतवैराश्च वैदेहि वयमेतैर्निशाचरैः ॥ १८ ॥

खरस्य निधनादेव जनस्थानवधं प्रति ।
राक्षसा विविधा वाचो विसृजन्ति[1] महावने ॥ १९ ॥

बल्कि गन्धर्व-नगर की तरह यह उस राक्षस की माया है। हे सीते! महात्मा श्रीरामचन्द्र जी मुझको, तुम्हें धरोहर की तरह सौंप गये हैं। अतः हे वरारोहे! मैं तुम्हें अकेली छोड़ कर जाना नहीं चाहता। (हे वैदेही! एक बात और है) जनस्थाननिवासी खरादि राक्षसों का वध करने से राक्षसों से हमारा वैर हो गया है। सो इस महावन में राक्षस लोग हम लोगों को धोखा देने के लिये भाँति भाँति की बोलियाँ बोला करते हैं ॥१७॥१८॥१९॥

[2]हिंसाविहारा वैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि ।
लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा क्रुद्धा संरक्तलोचना ॥ २० ॥

और साधु जनों को पीड़ित करना राक्षसों का एक प्रकार का खेल है। अतः तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा, तब सीता जी के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये ॥ २० ॥

अब्रवीत्परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम् ।
[3]अनार्य[4]करुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥ २१ ॥
अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत् ।
रामस्य व्यसनं दृष्ट्वा तेनैतानि प्रभाषसे ॥ २२ ॥

---

१ वाचो विसृजन्ति अस्मन्मोहनार्थमितिशेषः । (गो०) २ हिंसैव साधुजन पीडैव विहारोयेषां । (रा०) ३ अनार्य—दुःशील । (गो०) ४ अकरुणारम्भ—दयाप्रसक्तिरहित । (गो०)

और उन्होंने लक्ष्मण से, जो यथार्थ बात कह रहे थे, कठोर वचन कहते हुए कहा—हे दुःशील कठोर हृदय! हे क्रूर स्वभाव और कुलकलङ्क! मैं जान गयी कि, श्रीरामचन्द्र जी का विपद्ग्रस्त होना तुझको भला लगता है। तभी तो तू श्रीरामचन्द्र जी को विपद्ग्रस्त देख ऐसा कहता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

नैतच्चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्भवेत् ।
त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण! तुझ जैसे घातक और सदैव छिपे छिपे व्यवहार करने वाले वैरी की यदि ऐसी निन्द्य पापबुद्धि हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ॥ २३ ॥

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥ २४ ॥

लक्ष्मण! तेरा स्वभाव बड़ा खोटा है, इसीसे तू अकेला श्रीराम के साथ वन में आया है। अथवा छिप कर भरत का भेजा हुआ तू श्रीराम के साथ आया है ॥ २४ ॥

तन्न सिध्यति सौमित्रे तव वा भरतस्य वा ।
कथमिन्दीवरश्यामं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ २५ ॥
उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम् ।
समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्ये न संशयः ॥ २६ ॥

सो लक्ष्मण! याद रखना तेरी और भरत की यह साध कभी पूरी होने वाली नहीं। भला मैं नीलोत्पल श्याम और कमलनयन श्रीरामचन्द्र को छोड़, क्यों क्षुद्र जन को अपना पति बनाऊँगी। मैं तो तेरे सामने ही अपने प्राण निश्चय ही दे दूँगी ॥२५॥२६॥

रामं विना क्षणमपि न हि जीवामि भूतले ।
इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् ॥ २७ ॥

श्रीराम के विना इस भूतल पर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती । जब जानकी जी ने, ऐसी रोमाञ्चकारी कठोर बातें कहीं ॥ २७ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिर्विजितेन्द्रियः ।
उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥ २८ ॥

तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर सीता से कहा—आप मेरी साक्षात् देवता हैं, (अर्थात् पूज्या हैं) अतः मैं आपकी इन बातों का उत्तर नहीं दे सकता ॥ २८ ॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ।
स्वभावस्त्वेष नारीणामेवं लोकेषु दृश्यते ॥ २९ ॥

हे मैथिली ! आपने जो ये अनुचित बातें कही हैं, सो स्त्रियों के लिये इनका कहना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है । क्योंकि संसार में स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है ॥ २१ ॥

विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः ।
न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥ ३० ॥

लोक में देखा जाता है कि, स्त्रियां धर्म को छोड़ने वाली, चञ्चल, उग्रस्वभाव और आपस में भेदभाव डालने वाली होती हैं । किन्तु हे जानकी ! ऐसे वाक्य मैं सह नहीं सकता ॥ ३० ॥

श्रोत्रयोरुभयोर्मेऽद्य तप्तनाराचसन्निभम् ।
उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिभूता वनेचराः ॥ ३१ ॥

अत्यन्त तपाये हुए बाणों की तरह तुम्हारे ये वचन मेरे दोनों कानों को विद्ध कर रहे हैं। अच्छा सब वनवासी देवता गण मेरे साक्षी बन कर सुनें ॥ ३१ ॥

न्यायवादी यथान्यायमुक्तोऽहं परुषं त्वया ।
धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशङ्कसे ॥ ३२ ॥

मेरे यथार्थ कहने पर भी तुमने मुझसे कठोर वचन कहे। अतः तुमको धिक्कार है। जान पड़ता है, आज तुम्हारा अनिष्ट होने वाला है, तभी तुमको मुझ पर ऐसा निर्मूल सन्देह हुआ है ॥ ३२ ॥

स्त्रीत्वं दुष्टं स्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।
गमिष्ये यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥ ३३ ॥

हे सीते ! इस समय तुमने स्त्रियोचित दुष्ट स्वभाव दिखलाया है। मैं तो श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा मान, तुम्हें अकेली छोड़ कर, नहीं जाता था। किन्तु हे वरानने ! तुम्हारा मङ्गल हो ! लो मैं अब श्रीरामचन्द्र के पास जाता हूँ ॥ ३३ ॥

रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः ।
निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे ॥ ३४ ॥

हे विशालाक्षि ! समस्त वनदेवता तुम्हारी रक्षा करें। इस समय बड़े बुरे बुरे शकुन मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥ ३५ ॥

क्या मैं श्रीरामचन्द्र सहित लौट, फिर तुम्हें (यहां) देख सकूँगा ॥ ३५ ॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा रुदन्ती जनकात्मजा ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रं बाष्पपरिप्लुता ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण की ये बातें सुन, रोती हुई जानकी जी ने लक्ष्मण जी को उत्तर देते हुए आंखों में आंसू भर, फिर कठोर वचन कहे ॥ ३६ ॥

गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि विना रामेण लक्ष्मण ।
आबन्धिष्येऽथ वा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥ ३७ ॥

हे लक्ष्मण ! श्रीराम के बिना मैं गोदावरी में [illegible] मरूँगी अथवा गले में फांसी लगा कर मर जाऊँगी अथवा किसी ऊँचे स्थान से गिर कर प्राण दे दूँगी ॥ ३७ ॥

पिबाम्यहं विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।
न त्वहं राघवादन्यं कदापि* पुरुषं स्पृशे ॥ ३८ ॥

अथवा हलाहल विष पीलूँगी अथवा अग्नि में कूद कर भस्म हो जाऊँगी; किन्तु श्रीरामचन्द्र को छोड़, परपुरुष को स्पर्श कभी भी न करूँगी ॥ ३८ ॥

इति लक्ष्मणमाक्रुश्य सीता दुःखसमन्विता ।
पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान ह ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण से इस प्रकार कह और शोक से पीड़ित हो सीता दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर रोने लगीं ॥ ३९ ॥

तमार्तरूपां विमना रुदन्तीं
सौमित्रिरालोक्य विशालनेत्राम्
आश्वासयामास न चैव भर्तुः
तं भ्रातरं किञ्चिदुवाच सीता ॥ ४० ॥

---

* पाठान्तरे—"पदापि ।"

विशालनयना जनकनन्दिनी को ऐसे आर्त्तभाव से, उदास हो रोते हुए देख, लक्ष्मण ने उनको समझाया बुझाया, किन्तु जानकी ने अपने देवर से फिर कुछ भी न कहा (अर्थात् रूठ गयीं) ॥ ४० ॥

ततस्तु सीतामभिवाद्य लक्ष्मणः
कृताञ्जलिः किञ्चिदभिप्रणम्य च ।
अन्वीक्षमाणो बहुशश्च मैथिलीं
जगाम रामस्य समीपमात्मवान् ॥ ४१ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी हाथ जोड़ और बहुत झुक कर सीता जी को प्रणाम कर और बार बार सीता को देखते हुए श्रीरामचन्द्र के पास चल दिये ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंतालीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—*—

तथा परुषमुक्तस्तु कुपितो राघवानुजः
स विकाङ्क्षन्भृशं[1] रामं प्रतस्थे न चिरादिव[2] ॥ १ ॥

इस प्रकार जानकी की कटूक्तियों से कुपित हो, लक्ष्मण जी वहाँ से जाने की बिलकुल इच्छा न रहते भी, श्रीरामचन्द्र जी के पास तुरन्त चल दिये ॥ १ ॥

---

१ भृशं—अत्यन्तम् । (शि०) २ नचिरादिव—अविलम्बितमेव । इवशब्दो वाक्यालङ्कार इतिवा । (गो०)

तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।
अभिचक्रामवैदेहीं परिव्राजकरूपधृत् ॥ २॥

इतने में एकान्त अवसर पा, रावण ने सन्यासी का भेष बनाया और वह तुरन्त सीता के सामने जा पहुँचा ॥ २ ॥

[1]श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही ।
वामे चांसेऽवसज्ज्याथ शुभे [2]यष्टिकमण्डलू ॥ ३ ॥

उस समय रावण स्वच्छ गेरुआ रङ्ग के कपड़े पहिने हुए था, उसके सिर पर चोटी थी, सिर पर छत्र लगाये और पैरों में खड़ाऊ पहिने हुए था। उसके वाम कंधे पर त्रिदण्ड था और हाथ में कमण्डलु लिये हुए था ॥ ३ ॥

[नोट —रावण ने उस समय के संन्यासियों का यथार्थ रूप धारण किया था। इससे जान पड़ता है, रामायणकाल के संन्यासी चोटीकट नहीं होते थे। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने रामायण के अनुवाद में "शिखी" का अर्थ किया है " सिर पर बाल रखाये"—इसका कारण उनका चोटीकट संन्यासियों का पक्षपाती होना ही कहा जा सकता है। ऋषि अङ्गिरा ने सन्यासियों के चिन्ह बतलाते हुए लिखा है।—

"यतेर्लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येनासौ लक्ष्यते यतिः
ब्रह्मसूत्रं त्रिदण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणं।
शिक्यं पात्रं वृसी चैव कौपीनं कटिवेष्टनम्
यस्यैतद्विद्यते लिङ्गं स यतिर्नेतरो यतिः ॥

इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने मूल श्लोक में प्रयुक्त "यष्टि" का अर्थ किया है "लाठी"। यदि रामाभिरामी तथा भूषण आदि टीकाकारों का किया हुआ महाभारत से समर्थित यष्टि का अर्थ (रावणास्तु यतिर्भूत्वामुण्डः कुण्डी त्रिदण्ड धृक्) त्रिदण्ड न भी करते, तो प्रसङ्गानुसार "दण्ड" तो करते; किन्तु न मालूम मिश्र जी महाराज ने यष्टि का अर्थ "लाठी" क्यों कर, कर डाला]

---

१ श्लक्ष्णः—स्वच्छः (शि०) २ यष्टिः—त्रिदण्डं (गो०) (रा०)

परिव्राजकरूपेण वैदेहीं समुपागमत् ।
तामाससादातिबलो भ्रातृभ्यां रहितां वने ॥ ४ ॥

इस प्रकार का यति भेष धारण कर अतिबली रावण, श्रीराम लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सीता को अकेली पा, उनके पास उसी प्रकार गया ॥ ४ ॥

रहितां चन्द्रसूर्याभ्यांसन्ध्यामिव महत्तमः ।
तामपश्यत्ततो बालां रामपत्नीं यशस्विनीम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य की अनुपस्थिति में सन्ध्या के समय अन्धकार आता है । उसने श्रीरामाश्रम में जा यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को वैसे ही देखा ॥ ५ ॥

रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद्भृशदारुणः ।
तमुग्रतेजः कर्माणं जनस्थानरुहा द्रुमाः ॥ ६ ॥
समीक्ष्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः ।
शीघ्रस्रोताश्च तं दृष्ट्वा वीक्षन्तं रक्तलोचनम् ॥ ७ ॥

जैसे चन्द्रमा की अनुपस्थिति में राहु रोहिणी को देखता है । उस अत्याचारी रावण को देख, जनस्थान के वृक्ष हिलते न थे और हवा का चलना भी बन्द हो गया था । लाल लाल नेत्र कर सीता जी की ओर उसे देखते हुए देख ॥ ६ ॥ ७ ॥

स्तिमितं गन्तुमारेभे भयाद्गोदावरी नदी ।
रामस्य त्व[1]न्तरप्रेप्सुर्दशग्रीवस्तदन्तरे ॥ ८ ॥

---

१ अन्तरप्रेप्सु—विश्लेषान्वेषी । (गो०)

भय के मारे, तेज बहने वाली गोदावरी की धार भी धीमी पड़ गयी। श्रीराम से सीता का वियोग कराने की इच्छा रखने वाला रावण, ॥ ८ ॥

उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः।
अभव्यो भव्यरूपेण भर्तारमनुशोचतीम् ॥ ९ ॥

जो दुर्जन होने पर भी उस समय सन्यासी का भेष धारण कर सज्जन बना हुआ था, सीता जी के पास, जो श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता में मग्न थीं, पहुँचा ॥ ९ ॥

अभ्यवर्तत वैदेहीं चित्रामिव शनैश्चरः।
स पापो भव्यरूपेण तृणैः कूप इवावृतः ॥ १० ॥

रावण, जानकी जी के पास उसी तरह गया, जिस प्रकार शनैश्चर चित्रा के पास जाता है। उस समय उस पापी रावण का वह भव्य रूप वैसा ही जान पड़ता था, जैसा किसी कुएँ का, जो तृणों से ढका हुआ हो ॥ १० ॥

अतिष्ठत्प्रेक्ष्य वैदेहीं रामपत्नीं यशस्विनीम्।
शुभां रुचिरदन्तोष्ठीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ ११ ॥
आसीनां पर्णशालायां बाष्पशोकाभिपीडिताम्।
स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम् ॥ १२ ॥
अभ्यागच्छत वैदेहीं दुष्टचेता निशाचरः।
स मन्मथशराविष्टो ब्रह्मघोषमुदीरयन् ॥ १३ ॥

रावण यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को देखता हुआ खड़ा हो गया। सुन्दर रूपवाली, मनोहर दाँतों वाली, पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुख वाली, जो सीता पर्णकुटी में बैठी हुई अपने पति के शोक से दुःखी हो रही थीं, उन कमल सदृश नेत्र वाली, सुनहले

रंग की साड़ी पहिने हुए सीता के पास वह दुष्ट रावण पहुँचा। और सीता को देख वह कामासक्त हो संन्यासियों के पढ़ने योग्य वेद के मंत्रों को पढ़ने लगा ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः ।
तामुत्तमां स्त्रियं लोके पद्महीनामिव श्रियम् ॥ १४॥
विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशशंस ह ।
का त्वं काञ्चनवर्णाभे पीतकौशेयवासिनि ॥ १५ ॥
कमलानां शुभां मालां पद्मनीव हि बिभ्रती ।
[1]ह्रीःकीर्तिःश्रीः[2] शुभा [3]लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने ॥१६॥
भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी[4] ।
समाः शिखरिणः स्निग्धाः पाण्डुरा दशनास्तव ॥१७॥

तदनन्तर वह त्रैलोक्य-सुन्दरी और कमलहीन लक्ष्मी की तरह शोभायमान शरीर से युक्त सीता की प्रशंसा करने लगा (रावण बोला—हे रूप्य काञ्चन के समान वर्ण वाली! हे चंपे रंग की साड़ी पहिनने वाली! हे सुन्दर कमल के फूलों की माला से सुशोभित कमलिनि! हे शुभानने! क्या तुम विष्णुपत्नी भूदेवी हो। अथवा कीर्ति हो, अथवा कमला हो, अथवा लक्ष्मी देवी हो, अथवा कोई अप्सरा हो, अथवा स्वतंत्र विहार करने वाली कामदेव की पत्नी रति तो नहीं हो? तुम्हारे दांत बराबर हैं, (ऊबड़ खाबड़ नहीं) उनके अग्रभाग कुन्द के फूल की तरह मनोहर और सफेद हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ ह्रीः—विष्णुपत्नी भूमिः। (गो०) २ श्रीः—कमला। (गो०) ३ लक्ष्मीः—कान्त्यधिष्ठानदेवता। (गो०) ४ स्वैरचारिणी—स्वतंत्रा। (गो०)

विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके ।
विशालं जघनं पीनमूरू करिकरोपमौ ॥ १८ ॥

तेरे नेत्र विशाल, निर्मल और अरुणाई लिये हुए हैं और उनमें काली पुतलियाँ हैं। तेरी जंघाएं बड़ी और मोटी हैं और उनके नीचे का भाग हाथी की सूंड़ की तरह है ॥ १८ ॥

एतावुपचितौ[1] वृत्तौ संहतौ[2] संप्रवित्गतौ ।
पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धौ तालफलोपमौ ॥ १९ ॥

और वे उठे हुए एवं गोलाकार होने के कारण आपस में मिले हुए और कुछ कुछ कम्पायमान हो रहे हैं। तुम्हारे दोनों उरोज मोटे और उनके अग्रभाग तने हुए हैं। वे परम मनोहर हैं और कोमल एवं ताल फल के आकार वाले हैं ॥ १९ ॥

मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ।
चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ॥ २० ॥

उन उरोजों पर मणियों की माला पड़ी हुई उनको शोभायमान कर रही है। हे मनोहर-हास्य-युक्ते ! हे सुन्दर दांतों वाली ! हे सुन्दर नेत्रों वाली ! हे विलासिनि ! ॥ २० ॥

मनो हरसि मे कान्ते नदीकूलमिवाम्भसा ।
करान्तमितमध्यासि सुकेशी संहतस्तनी ॥ २१ ॥

हे कान्ते ! तू मेरे मन को वैसे ही हर रही है जैसे नदी का जल नदी के तट को हरण करता है। तू पतली कमर वाली है, तू सुन्दर केशों वाली है और मिले हुए उरोजों से तू सुशोभित है ॥ २१ ॥

---

१ उपचितौ—उन्नतौ। (गो०) २ संहितौ—अन्योन्यसंश्लिष्टौ। (गो०)

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी ।
नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ २२ ॥

इस महीतल पर तो मैंने ऐसी रूपवती स्त्री कभी नहीं देखी। तेरे रूप के समान न तो कोई देवता की स्त्री है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है और न कोई किन्नरी ही है ॥ २२ ॥

रूपमग्र्यंच लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ।
इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्मादयन्ति मे ॥ २३ ॥

कहाँ तो तेरा ऐसा सुन्दर रूप और तेरी यह सुकुमारता और वय (उम्र) और कहाँ यह वन में रहना। जब मैं इन बातों पर विचार करता हूँ, तब मेरा मन उन्मत्त हो उठता है ॥ २३ ॥

सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ।
राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम् ॥ २४ ॥

अतः तू आश्रम से निकल चल। तेरा यहाँ (वन में) रहना ठीक नहीं। क्योंकि इस वन में कामरूपी भयङ्कर राक्षसों का डेरा है ॥ २४ ॥

प्रासादाग्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च ।
सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया ॥ २५ ॥

तुझको तो सुन्दर विशाल वनों में और रमणीक एवं सम्पन्न नगरों और सुगन्धित पुष्पों से युक्त वृक्षों से परिपूर्ण उपवनों में विहार करना उचित है ॥ २५ ॥

वरं माल्यं वरं भोज्यं वरं वस्त्रं च शोभने ।
भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे ॥ २६ ॥

हे शोभने! तुझे तो उत्तम पुष्पमालएँ धारण करनी चाहिये, सुस्वादु भोजन करने चाहिये। सुन्दर बढ़िया वस्त्र पहिनने चाहिये। हे असितेक्षणे! तेरे समान तेरे लिये सुन्दर वर भी होना चाहिये ॥२६॥

का त्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने।
वसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ॥ २७ ॥

हे वरानने! क्या तू रुद्रों की, मरुतों की अथवा वसुओं की स्त्री है। तू तो मुझे देवता सी जान पड़ती है ॥ २७ ॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः।
राक्षसानामयं वासः कथं नु त्वमिहागता ॥ २८ ॥

इस वन में गन्धर्व, देवता अथवा किन्नर नहीं आया करते। क्योंकि यहां तो राक्षसों का डेरा है, सो तू यहां क्यों कर आयी? ॥ २८ ॥

इह शाखामृगाः सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगास्तथा।
ऋक्षास्तरक्षवः[1] कङ्काः कथं तेभ्यो न बिभ्यसि ॥ २९ ॥

इस वन में बंदर, सिंह, चीते, बघेरें, मृग, रीछ, बड़े बड़े बाघ, और मांसभक्षी बड़े बड़े पक्षी रहते हैं, क्या उनका तुझको डर नहीं लगता ॥ २९ ॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनाम्[2]।
कथमेका महारण्ये न बिभेषि वरानने ॥ ३० ॥

हे वरानने! इस महावन में बड़े बड़े बलवान भयङ्कर और मतवाले हाथी घूमा करते हैं। सो अकेली होने पर भी तुझे उनसे डर क्यों नहीं लगता ॥ ३० ॥

---

१ तरक्षवो—मृगादनामहाव्याघ्राः। (गो०) २ तरस्विनां—बलवतां। (गो०)

क्वासि कस्य कुतश्चित्त्वं किंनिमित्तं च दण्डकान्।
एका चरसि कल्याणि घोरान्राक्षससेवितान्॥ ३१॥

हे कल्याणी! तू कौन है? किसकी स्त्री है? कहां से आयी है? और इस दण्डकवन में आने का कारण क्या है? तू भयङ्कर राक्षसों से सेवित इस वन में अकेली क्यों विचरती है॥ ३१॥

इति प्रशस्ता वैदेही रावणेन दुरात्मना।
द्विजातिवेषेण[1] हितं[2] दृष्ट्वा रावणमागतम्॥ ३२॥

जब इस प्रकार रावण ने सीता जी की प्रशंसा की तब उस संन्यासवेषधारी रावण को आया हुआ देख, सीता जी ने उसका यथाविधि आतिथ्य किया॥ ३२॥

सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली।
उपनीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनिमन्त्र्य च।
अब्रवीत्सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम्॥ ३३॥

सीता ने पहले उसे बैठने को आसन दिया, फिर पैर धोने को जल दिया, फिर फल आदि भोज्य पदार्थ देते हुए कहा, यह सिद्ध किये हुए पदार्थ हैं (अर्थात् भूंजे हुए अथवा पकाये हुए)॥ ३३॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मैथिली
समागतं पात्रकुसुम्भ[3]धारिणम्।
अशक्यमुद्द्रेष्टुमपायदर्शनं
न्यमन्त्रयद्ब्राह्मणवत्तदाऽङ्गना॥ ३४॥

---

१ द्विजातिवेषेण—संन्यासवेषे (गो०) २ हितं—सहितं (गो०) ३ कुसुम्भ—महारजताख्यरञ्जकद्रव्यविशेष रक्तवस्त्रं। (गो०)

संन्यासी का रूप धारण किये, गेरुआ वस्त्र पहिने अथवा कमण्डलु लिये हुए रावण को देख, और उसे महात्मा जान, जानकी जी ने उसकी उपेक्षा करनी उचित न समझी। अतः जानकी जी ने उसका ब्राह्मण जैसा सत्कार किया ॥ ३४ ॥

इयं वृसी ब्राह्मण काममास्यताम्
इदं च पाद्यं प्रतिगृह्यतामिति ।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमम्
त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम् ॥ ३५ ॥

सीता जी ने कहा—हे ब्राह्मण! यह आसन है इस पर आप विराजें। यह पैर धोने को जल है, इसे लें। ये वन में उत्पन्न हुए पके या भूने हुए फल आपके भोजन के लिये हैं। आप इनको व्यग्रता छोड़ अर्थात् शान्त होकर, खांय ॥ ३५ ॥

निमन्त्र्यमाणः प्रतिपूर्णभाषिणीं
नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम् ।
प्रसह्य तस्या हरणे धृतं मनः
समार्पयत्स्वात्मवधाय रावणः ॥ ३६ ॥

सीता जी ने जब इस प्रकार रावण का आतिथ्य किया और मधुर वचन कहे, तब रावण ने अपना नाश करने के लिये बलपूर्वक सीता को हरना चाहा ॥ ३६ ॥

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं
प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा ।

*विनीक्षमाणा हरितं ददर्श तन्
महद्वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ ॥ ३७ ॥
इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

सीता जी परम सुन्दर और शिकार के लिये गए हुए श्रीरामचन्द्र जी को तथा लक्ष्मण जी को प्रतीक्षा करती हुई वन की ओर देखने लगीं। उस समय उनको चारों ओर हरा हरा वन ही देख पड़ा, किन्तु श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उनको न देख पड़े ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—*—

रावणेन तु वैदेही तथा पृष्टा जिहीर्षता[1]।
परिव्राजकलिङ्गेन शशंसात्मानमङ्गना ॥ १ ॥

जब संन्यासी वेषधारी रावण ने हरण करने की अभिलाषा से, इस प्रकार पूँछा, तब सीता जी ने अपने मन में विचारा ॥ १ ॥

ब्राह्मणश्चातिथिश्चायमनुक्तो हि शपेत माम्।
इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

कि इस ब्राह्मण अतिथि को यदि मैं अपना नाम व गोत्र न बतलाऊँगी, तो यह मुझे शाप दे देगा। इस बात पर दो घड़ी विचार कर सीता जी बोलीं ॥ २ ॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः।
सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामभार्या द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

---

१ जिहीर्षता—हर्तुमिच्छता। (गो०)

*पाठान्तरे—"निरीक्षमाणा" वा "प्रतीक्षमाणा"।

मैं मिथिला देशाधिपति राजा जनक की लड़की हूँ। मेरा नाम सीता है और मैं श्रीरामचन्द्र की प्रिय भार्या हूँ ॥ ३ ॥

उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने ।
भुञ्जानान्मानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ४ ॥

विवाह के अनन्तर मैं ने बारह वर्ष तक इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी अयोध्या में रह कर, मनुष्यदुर्लभ भोग भोगे और अपने सब मनोरथों को पूर्ण किया ॥ ४ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः ।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभि[१]: ॥ ५ ॥

तदनन्तर तेरहवें वर्ष महाराज दशरथ ने श्रेष्ठ मंत्रियों से परामर्श कर, श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करने का विचार किया ॥ ५ ॥

तस्मिन्संभ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने ।
कैकेयी नाम भर्तारमार्या[२] सा याचते वरम् ॥ ६ ॥

जब श्रीरामाभिषेक की सब तैयारियाँ होने लगीं, तब कैकेयी ने, जो मेरी सास लगती है, महाराज से वर माँगा ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य तु कैकेयी श्वशुरं सुकृतेन मे ।
मम प्रव्राजनं भर्तुर्भरतस्याभिषेचनम् ॥ ७ ॥

कैकेयी ने, मेरे ससुर को धर्म के वश में कर, मेरे पति के लिये वनवास और भरत के लिये राज्याभिषेक चाहा ॥ ७ ॥

द्वावयाचत भर्तारं सत्यसंधं नृपोत्तमम् ।
नाद्य भोक्ष्ये न च स्वप्स्ये न च पास्ये कथञ्चन ॥ ८ ॥

---

१ राजमन्त्रिभिः—मंत्रिश्रेष्ठैः (गो०) २ आर्या—पूज्या ममश्वश्रूरित्यर्थः । (गो०)

सत्यप्रतिज्ञ व पतिश्रेष्ठ महाराज दशरथ से ये दो वर माँगे। साथ ही यह भी कहा कि मैं आज न किसी प्रकार भी खाऊँगी न पीऊँगी और न सोऊँगी ॥ ८ ॥

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते।

इति ब्रुवाणां कैकेयीं श्वशुरो मे स मानदः ॥ ९ ॥

यदि श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ तो मैं अपने प्राण दे दूँगी। जब कैकेयी ने इस प्रकार कहा, तब बहुत सम्मान करने वाले मेरे ससुर महाराज दशरथ जी ने ॥ ९ ॥

अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याच्ञां चकार सा।

मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ॥ १० ॥

कैकेयी से विविध प्रकार के अन्य पदार्थ माँगने के लिये कहा—परन्तु उसने और कुछ न चाहा। उस समय मेरे पति महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र की उम्र २५ वर्ष की ॥ १० ॥

अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।

रामेति प्रथितो लोके गुणवान्[1]सत्यवाक्शुचिः ॥ ११ ॥

विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः।

कामार्तस्तु महातेजाः पिता दशरथः स्वयम् ॥ १२ ॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत्।

अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥ १३ ॥

और मेरी जन्मकाल से गणना करके १८ वर्ष की थी। श्रीरामचन्द्र जो लोक में प्रसिद्ध हैं और जो सुशील, सत्यवादी, पवित्र, बड़े नेत्रों और लंबी बाहुओं वाले हैं तथा सब प्राणियों के हितकारी हैं—उनका

---

१ गुणवान्—सौशील्यवान्। गो०

महातेजस्वी महाराज दशरथ ने कामासक्त हो, कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए स्वयं राज्याभिषेक न किया और जब अभिषेक के लिये श्रीरामचन्द्र पिता के समीप गये ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच धृतं वचः ।
तव पित्रा समाज्ञप्तं ममेदं शृणु राघव ॥ १४ ॥

तब कैकेयी ने धीरज धारण कर, कहा—हे रामचन्द्र ! तुम्हारे पिता ने तुम्हारे लिये जो आज्ञा दी है, वह मुझसे सुनो ॥ १४ ॥

भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम् ।
त्वया हि खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ १५ ॥

यह निष्कण्टक राज्य भरत को दिया जाय और तुम्हें १४ वर्ष तक अवश्य वन में रहना चाहिये ॥ १५ ॥

वने प्रव्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात् ।
तथेत्युक्त्वा च तां रामः कैकेयीमकुतोभयः ॥ १६ ॥

इससे तुम्हें चाहिये कि, तुम अपने पिता को झूठा न होने दो। तब दृढ़व्रतधारी मेरे पति श्रीरामचन्द्र जी ने निडर हो कैकेयी से कहा कि, अच्छा ऐसा ही होगा ॥ १६ ॥

चकार तद्वचस्तस्या मम भर्ता दृढव्रतः ।
दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥ १७ ॥

और तदनुसार ही कार्य भी किया। मेरे पति बड़े दृढ़व्रत हैं। वे दान तो देते हैं, पर दान लेते नहीं, वे सच बोलते हैं, किन्तु झूठ नहीं बोलते ॥ १७ ॥

एतद्ब्राह्मण रामस्य ध्रुवं व्रतमनुत्तमम् ।
तस्य भ्राता तु द्वैमात्रो लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १८ ॥

हे ब्राह्मण ! रामचन्द्र जी के निश्चय ये ही उत्तमोत्तम व्रत हैं। उनके सौतेले भाई लक्ष्मण बड़े वीर हैं ॥ १८ ॥

रामस्य पुरुषव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा ।
स भ्राता लक्ष्मणो नाम धर्मचारी दृढव्रतः ॥ १९ ॥

वे मेरे पति के सहायक और समर में शत्रु का नाश करने वाले हैं। वे दृढ़व्रत और ब्रह्मचारी लक्ष्मण ॥ १९ ॥

अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः प्रव्रजन्तं मया सह ।
जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥ २० ॥

जटा रखाये हुए हाथ में धनुष लिये तपस्वी के रूप में, मेरे साथ अनुगामी हुए हैं ॥ २० ॥

प्रविष्टो दण्डकारण्यं धर्मनित्यो जितेन्द्रियः ।
ते वयं प्रच्युता राज्यात्कैकेय्यास्तु कृते त्रयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार धर्म में नित्य तत्पर और जितेन्द्रिय, श्रीरामचन्द्र जी आदि हम तीनों जन कैकेयी द्वारा राज्य से च्युत हो, इस दण्डक-वन में आये हैं ॥ २१ ॥

विचराम द्विजश्रेष्ठ वनं गम्भीरमोजसा ।
समाश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥ २२ ॥
आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम् ।
[रुरून्गोधान्वराहांश्च हत्वाऽऽदयामिषान्बहून् ॥२३॥]

और अपने बलबूते पर इस भङ्कयर वन में विचरते हैं। द्विज-श्रेष्ठ, तुम मूहूर्त भर यहां ठहरो। मेरे पति अनेक वन्य पदार्थों को ले कर आते होंगे। रुरु, गोह और वनैले शूकर को मार, वे बहुत सा मांस लावेंगे ॥२२॥२३॥

स त्वं नाम च गोत्रं च कुलं चाचक्ष्व तत्त्वतः ।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥ २४ ॥

अब आप अपना नाम, गोत्र और कुल ठीक ठीक बतलाइये और यह भी बतलाइये कि, आप अकेले इस दण्डकवन में क्यों फिरते हैं ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां रामपत्न्यां महाबलः ।
प्रत्युवाचोत्तरं तीव्रं रावणो राक्षसाधिपः ॥ २५ ॥

जब सीता जी ने ऐसे वचन कहे, तब महाबली राक्षसनाथ रावण ने ये कठोर वचन कहे ॥ २५ ॥

येन वित्रासिता लोकाः सदेवासुरपन्नगाः ।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥ २६ ॥

हे सीते! जिसके डर से देवताओं, असुरों और मनुष्यों सहित तीनों लोक थरथराते हैं, मैं वही राक्षसों का राजा रावण हूँ ॥ २६ ॥

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्ट्वा कौशेयवासिनीम् ।
रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते ॥ २७ ॥

हे अनिन्दिते! तेरे सुवर्ण तुल्य शरीर के रंग और कौशेय वस्त्र को देख कर, मुझे अपनी पत्नियों के प्रति प्रीति नहीं रही ॥ २७ ॥

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥ २८ ॥

मैं बहुत सी उत्तम स्त्रियों को अनेक स्थानों से हर कर लाया हूँ। सो तू उन सब में मेरी पटरानी बन ॥ २८ ॥

लङ्का नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी ।
सागरेण परिक्षिप्ता निविष्टा नागमूर्धनि ॥ २९ ॥

समुद्र के बीच में लङ्का नाम की मेरी महापुरी है। वह चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई है और पर्वतशृङ्ग पर स्थित है ॥ २९ ॥

तत्र सीते मया सार्धं वनेषु विहरिष्यसि ।
न चास्यारण्यवासस्य स्पृहयिष्यसि भामिनि ॥३०॥

हे सीते! वहाँ तू मेरे साथ जब वनों में विहार करेगी, तब तुझे इस वन में रहने की इच्छा न रह जायगी ॥ ३० ॥

पञ्च दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः ।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि ॥ ३१ ॥

हे सीते! यदि तू मेरी भार्या बनना अंगीकार कर लेगी, तो पांच हज़ार दासियां, जो समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं, तेरी परिचर्या करेंगीं ॥ ३१ ॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा ।
प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनादृत्य राक्षसम् ॥ ३२ ॥

रावण के ऐसे वचन सुन, अनिन्दिता सीता कुपित हुई और उस राक्षस का तिरस्कार कर बोलीं ॥ ३२ ॥

महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता ॥ ३३ ॥

महेन्द्राचल पर्वत की तरह अचल अटल और समुद्र की तरह क्षोभरहित श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम् ।
सत्यसन्धं महाभागमहं राममनुव्रता ॥ ३४ ॥

जो सब शुभलक्षणों से युक्त और वटवृक्ष की तरह सब को सदैव सुखदायी हैं, उन सत्यप्रतिज्ञ और महाभाग श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३४ ॥

[वटवृक्ष—"कूपोदकं वटच्छाया युवतीनां स्तनद्वयम् ।
शीतकाले भवेत्युष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥"]

महाबाहुं महोरस्कं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।
नृसिंहं सिंहसङ्काशमहं राममनुव्रता ॥ ३५ ॥

महाबाहु, चौड़ी छाती वाले, सिंह जैसी चाल चलने वाले, पुरुषसिंह, और सिंह से समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३५ ॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं[1] जितेन्द्रियम् ।
पृथुकीर्त्तिं महात्मानमहं राममनुव्रता ॥ ३६ ॥

मैं उन राजकुमार एवं जितेन्द्रिय श्रीराम की अनुगामिनी हूँ, जिनका मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य है, जिनकी कीर्ति दिग दिगन्त व्यापिनी है और जो महात्मा हैं ॥ ३६ ॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिच्छसि सुदुर्लभाम् ।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥ ३७ ॥

सो तू शृगाल के समान हो कर, सिंहनी के तुल्य मुझे चाहता है। किन्तु तू मुझे उसी प्रकार नहीं छू सकता, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा को कोई नहीं छू सकता ॥ ३७ ॥

---

1 राजवत्सं—राजकुमारं (गो०)

पादपान्काञ्चनान्नूनं* बहून्पश्यसि मन्दभाक् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां यस्त्वमिच्छसि रावण ॥ ३८ ॥

अरे अभागे राक्षस ! जब तू श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय भार्या को हरना चाहता है, तब निश्चय ही तू बहुत से सुवर्णमय वृक्ष (स्वप्न में) देखता होगा ॥ ३८ ॥

[नोट—जो शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनको स्वप्न में सोने के वृक्ष दिखलाई पड़ते हैं ।]

क्षुधितस्य हि सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः ।
आशीविषस्य वदनाद्दंष्ट्रामादातुमिच्छसि ॥ ३९ ॥

मृग के बलवान शत्रु भूखे सिंह के अथवा विषधर सर्प के मुख से तू दांत उखाड़ना चाहता है ॥ ३९ ॥

मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि ।
कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तिमान्गन्तुमिच्छसि ॥ ४० ॥

तू पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचल को हाथ से हरण करना चाहता है और हलाहल विषपान कर के भी तू सुखपूर्वक चला जाना चाहता है ॥ ४० ॥

अक्षि सूच्या प्रमृजसि जिह्वया लेक्षि च क्षुरम् ।
राघवस्य प्रियां भार्यां योऽधिगन्तुं[1] त्वमिच्छसि ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की भार्या को पाने की इच्छा कर, मानों तू आंख की सफाई सुई से करता है और जिह्वा से छुरे को चाटता है ॥ ४१ ॥

अवसज्य शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि ।
सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ॥ ४२ ॥

---

1 अधिगन्तु—प्राप्तुं । (गो०) * पाठान्तरे—"बहू" ।

अथवा गले में पत्थर बाँध समुद्र को पार करता है और हाथों से सूर्य और चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है ॥ ४२ ॥

यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि ।
अग्निं प्रज्वलितं दृष्ट्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥ ४३ ॥

तू जो श्रीरामचन्द्र की भार्या को प्राप्त करना चाहता है, सो मानों तू प्रज्वलित अग्नि को वस्त्र में लपेट कर ले जाना चाहता है ॥ ४३ ॥

कल्याणवृत्तां[1] रामस्य यो भार्यां हर्तुमिच्छसि ।
अयोमुखानां शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ।
रामस्य सदृशीं भार्यां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि ॥४४॥

तू जो शुभाचरण वाले श्रीराम की भार्या के पाने की अभिलाषा रखता है, सो मानों तू लोहे के नुकीले कांटों पर चलना चाहता है। तू श्रीराम की ऐसी पत्नी को प्राप्त करना चाहता है ॥४४॥

यदन्तरं सिंहसृगालयोर्वने[2]
यदन्तरं स्यन्दिनिका[3]समुद्रयोः ।
सुराग्र्य[4]सौवीर[5]कयोर्यदन्तरं
तदन्तरं वै तव राघवस्य च ॥ ४५ ॥

जो भेद सिंह और स्यार में है, जो अन्तर क्षुद्र नदी और समुद्र है; जो अन्तर श्रेष्ठ मद्य और कांजी में है; वही अन्तर श्रीरामचन्द्र में और तुझमें है ॥ ४५ ॥

---

१ कल्याणवृत्तां—शुभाचारां । (गो०) २ वने—जले । (गो०) ३ स्यन्दिनिका—क्षुद्रनदी । (गो०) ४ सुराग्र्यं—श्रेष्ठ मद्यं । (गो०) ५ सौवीरकं—काञ्जिकं । (गो०)

यदन्तरं काञ्चनसीसलोहयो-
र्यदन्तरं चन्दनवारिपङ्कयोः ।
यदन्तरं हस्तिविडालयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४६ ॥

जो अन्तर सोने और सीसे लोहे में है, जो अन्तर चन्दन और पानी की कीचड़ में है, जो अन्तर वन में (बसने वाले) हाथी और बिल्ली में है; वही अन्तर दशरथनन्दन और तुझमें है ॥ ४६ ॥

यदन्तरं वायसवैनतेययो-
र्यदन्तरं [1]मद्गुमयूरयोरपि ।
यदन्तरं सारसगृध्रयोर्वने
तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४७ ॥

जो अन्तर गरुड़ और कौए में है, जो अन्तर जलकाक और मोर में है और जो अन्तर वन में (बसने वाले) सारस और गृध्र में है; वही अन्तर दाशरथी श्रीराम और तुझमें है ॥ ४७ ॥

तस्मिन्सहस्राक्षसमप्रभावे
रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।
हृतापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
वज्रं यथा मक्षिकयाऽवगीर्णम् ॥ ४८ ॥

इन्द्र के समान प्रभाव वाले और हाथ में धनुष बाण लिये हुए श्रीरामचन्द्र के रहते यदि तू मुझे हर भी ले जायगा, तो मुझे उसी

---

१ मद्गुः—जलवायसः । (गो०)

तरह न पचा सकेगा, जैसे मक्खी (चांवल के धोखे में) हीरा खा कर, उसे नहीं पचा सकती ॥ ४८ ॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुधृष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।
गात्रप्रकम्पव्यथिता बभूव
वातोद्धता सा कदलीव तन्वी ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार पवन के वेग से केले का वृक्ष कांपने लगता है, वैसे ही साधु स्वभाव वाली सीता, अत्यन्त धृष्टतापूर्ण वचन उस राक्षस से कह कर, थर थर कांपने लगी ॥ ४९ ॥

तां वेपमानामुपलक्ष्य सीतां
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।
कुलं बलं नाम च कर्म च स्वं
समाचचक्षे भयकारणार्थम् ॥ ५० ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

काल समान रावण, सीता को डर से थर थर कांपने देख, उसे और भी अधिक भयभीत करने के लिये, अपने कुल, बल, नाम और कामों का बखान करने लगा ॥ ५० ॥

अरण्यकाण्ड का सैतालिसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—*—

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां संरब्धः[1] परुषं वचः।
ललाटे भ्रुकुटीं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

जब सीता जी ने इस प्रकार के कठोर वचन कहे, तब रावण ने महाक्रुद्ध हो और भौंहे टेढ़ी कर, कठोर वचन कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्न्यो वरवर्णिनि।
रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ २ ॥

हे सुन्दरी! तेरा भला हो, मैं कुवेर का सौतेला भाई हूँ। मेरा नाम रावण है। मै दससीस वाला और बड़ा प्रतापी हूँ ॥ २ ॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः।
विद्रवन्ति भयाद्भीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥ ३ ॥

मेरे डर के मारे देवता, गन्धर्व, पिशाच, पन्नग और सर्प उसी प्रकार भाग खड़े होते हैं, जैसे मनुष्य लोग मृत्यु के डर से भागते हैं ॥ ३ ॥

येन वैश्रवणो राजा द्वैमात्रः[2] कारणान्तरे।
द्वन्द्वमासादितः[3] क्रोधाद्रणे विक्रम्य निर्जितः ॥ ४ ॥

मैंने अपने सौतेले भाई कुवेर को कारण विशेष वश युद्ध में क्रुद्ध हो अपने वल विक्रम से जीता है ॥ ४ ॥

---

१ संरब्धः—कुपितः। (गो०) २ द्वैमात्रः—सपत्नीमातृपुत्रः। (गो०) ३ द्वन्द्वं—युद्धं। (गो०)

यद्भयार्तः परित्यज्य स्वमधिष्ठानमृद्धिमत् ।
कैलासं पर्वतश्रेष्ठमध्यास्ते नरवाहनः ॥ ५ ॥

वह कुवेर मेरे भय से भीत हो, भरी पूरी अपनी लङ्कापुरी को त्याग, पर्वतश्रेष्ठ कैलास पर जा बसा है ॥ ५ ॥

यस्य तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम् ।
वीर्यादेवार्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्[1] ॥ ६ ॥

उसके सुन्दर और इच्छाचारी पुष्पक विमान को मैंने वरजोरी उससे छीन लिया है। मैं उसी विमान में बैठ आकाश में घूमा करता हूँ ॥ ६ ॥

मम सञ्जातरोषस्य मुखं दृष्ट्वैव मैथिलि ।
विद्रवन्ति परित्रस्ताः सुराः शक्रपुरोगमाः ॥ ७ ॥

हे मैथिली ! इन्द्रादि देवता मेरा कुपित मुख देख, भयभीत हो भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः ।
तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च भयात्सम्पद्यते रविः ॥ ८ ॥

जहाँ मैं खड़ा होता हूँ, वहाँ पवन शङ्कायुक्त हो बहता है। मेरे डर के मारे सूर्य की प्रखर किरणें चन्द्रमा की तरह शीतल पड़ जाती हैं ॥ ८ ॥

निष्कम्पपत्रास्तरवो नद्यश्च स्तिमितोदकाः ।
भवन्ति यत्र यत्राहं तिष्ठामि विचरामि च ॥ ९ ॥

---

1 विहायसम्—आकाशं । (गो०)

जहाँ पर मैं उठता बैठता हूँ या घूमता फिरता हूँ, वहाँ वृत्तों के पत्तों का हिलना बंद हो जाता है और नदियों की धार रुक जाती है ॥ ९ ॥

मम पारे समुद्रस्य लङ्का नाम पुरी शुभा ।
सम्पूर्णा राक्षसैर्घोरैर्यथेन्द्रस्यामरावती ॥ १० ॥

समुद्र के पार लङ्का नामक मेरी परम सुन्दर नगरी है। वह भयङ्कर राक्षसों से वैसे ही परिपूर्ण है, जैसे (देवताओं से) इन्द्रपुरी अमरावती ॥ १० ॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजता ।
हेमकक्ष्या पुरी रम्या वैडूर्यमयतोरणा ॥ ११ ॥

वह सफेद परकोटे से घिरी हुई है। उसके चौक सोने के हैं और उसके बाहिरी सब फाटक वैडूर्य मणि के बने हुए हैं। वह नगरी सुरम्य है ॥ ११ ॥

हस्त्यश्वरथसंबाधा तूर्यनादविनादिता ।
सर्वकालफलैर्वृक्षैः सङ्कुलोद्यान शोभिता ॥ १२ ॥

हाथियों और घोड़ों तथा रथों से वह भरी हुई है और उसमें बाजे सदा बजा ही करते हैं, सब ऋतुओं में फलने वाले वृत्तों से युक्त उद्यानों से वह सुशोभित है ॥ १२ ॥

तत्र त्वं वसती सीते राजपुत्रि मया सह ।
न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनी ॥ १३ ॥

हे राजकुमारी सीते! वहाँ चल कर तू मेरे साथ रहना। वहाँ रहने पर तुझे कभी मानवी नारियों का स्मरण भी न होगा ॥ १३ ॥

भुञ्जाना मानुषान्भोगान्दिव्यांश्च वरवर्णिनि ।
न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुषः ॥ १४ ॥

हे वरवर्णिनी ! जब तू यहाँ मनुष्योचित भोग्य एवं दिव्य पदार्थों का उपभोग करेगी ; तब तू गतायु और मनुष्य-शरीर-धारी राम को कभी याद भी न करेगी ॥ १४ ॥

स्थापयित्वा प्रियं पुत्रं *राज्ये दशरथेन यः ।
मन्दवीर्यः सुतो ज्येष्ठस्ततः प्रस्थापितो ह्ययम् ॥ १५ ॥

देखो दशरथ ने अपने प्यारे पुत्र भरत को राज्य पर बिठाया और निकम्मे ज्येष्ठ पुत्र राम को वन में निकाल दिया ॥ १५ ॥

तेन किं भ्रष्टराज्येन रामेण गतचेतसा[1] ।
करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन[2] तपस्विना[3] ॥ १६ ॥

हे विशालाक्षी ! तुम उस राज्यभ्रष्ट एवं कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान-शून्य, डरपोंक और शोच्य राम के पास रह कर क्या करोगी ? ॥१६॥

सर्वराक्षसभर्तारं कामा[4]त्स्वयमिहागतम् ।
न मन्मथशराविष्टं प्रत्याख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥

मैं राक्षसों का राजा हो कर भी अपनी इच्छा से अपने आप यहाँ आया हूँ । मैं कामदेव के बाणों से घायल हो रहा हूँ । मेरा तिरस्कार करना तुमको उचित नहीं है ॥ १७ ॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु परितापं गमिष्यसि ।
चरणेनाभिहत्येव पुरूरवसमुर्वशी ॥ १८ ॥

---

१ गतचेतसा—कर्त्तव्याकर्त्तव्यमूढमनसा । (गो०) २ तापसेन—"भग्ना कुपेभोगवता भवन्ति" इति न्यायेन अशूरेण । (गो०) ३ तपस्विना—शोच्येन । (गो०) ४ कामात्—स्वेच्छया । (शि०) * पाठान्तरे—"राज्ञा" ।

हे भीरु! यदि तू मेरा तिरस्कार करेगी, तो पीछे तुझको वैसे ही पछताना पड़ेगा, जैसे उर्वशी अप्सरा राजा पुरूरवा के लात मार कर, पछतायी थी ॥ १८ ॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः।
तव भाग्येन सम्प्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि ॥ १९ ॥

राम मनुष्य है, वह युद्ध में मेरी एक अंगुली के बल के समान भी (बलवान्) नहीं है। (अर्थात् उसमें इतना भी बल नहीं, जितना मेरी एक अंगुली में है) अतः वह युद्ध में मेरा सामना कैसे कर सकता है। हे वरवर्णिनी! इसे तू अपना सौभाग्य समझ कि, मैं यहाँ आया हूँ। अतः तू मुझे अङ्गीकार कर ॥ १९ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्तलोचना।
अब्रवीत्परुषं वाक्यं [1]रहिते राक्षसाधिपम् ॥ २० ॥

रावण के ऐसे वचन सुन, सीता कुपित हो और लाल लाल नेत्र कर, उस निर्जन वन में रावण से कठोर वचन बोली ॥ २० ॥

कथं वैश्रवणं देवं सर्वभूतनमस्कृतम्।
भ्रातरं व्यपदिश्य त्वमशुभं कर्तुमिच्छसि ॥ २१ ॥

हे रावण! तू सर्वदेवताओं के पूज्य कुबेर को अपना भाई बतला कर भी, ऐसा बुरा काम करने को (क्यों) उतारु हुआ है? ॥ २१ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ २२ ॥

हे रावण! याद रख। निश्चय ही वे समस्त राक्षस मारे जाँयगे, जिनका तुझ जैसा क्रूर, दुष्टबुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है ॥२२॥

---

[1] रहिते—निर्जने वने। (गो०)

अपहृत्य शचीं भार्यां शक्यमिन्द्रस्य जीवितुम् ।
न च रामस्य भार्यां मामपनीयास्ति जीवितम् ॥ २३ ॥

इन्द्र की पत्नी शची को हर कर, कोई चाहे भले ही जीता बना रहे; किन्तु रामपत्नी मुझको हर कर, कोई जीता नहीं रह सकता ॥२३॥

जीवेच्चिरं वज्रधरस्य हस्ता-
च्छचीं प्रधृष्याप्रतिरूपरूपाम् ।
न मादृशीं राक्षस दूषयित्वा
पीतामृतस्यापि तवास्ति मोक्षः ॥ २४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राक्षस ! अत्यन्त रूपवती शची को हरने वाला, वज्रधारी इन्द्र के हाथ से एक बार जीता बच भी सकता है; किन्तु मुझ जैसी को दूषित कर, अमृतपान किया हुआ पुरुष भी, मृत्यु के हाथ से नहीं बच सकता ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का अड़तालीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—:*:—

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।
हस्ते हस्तं समाहत्य चकार सुमहद्वपुः ॥ १ ॥

प्रतापी रावण ने सीता के ये वचन सुन, हाथ पर हाथ मार, अपना विशाल शरीर प्रकट किया ॥ १ ॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्यं बभाषे च ततो भृशम् ।
नोन्मत्तया श्रुतौ मन्ये मम वीर्यपराक्रमौ ॥ २ ॥

फिर उसने सीता से कहा—मैं जानता हूँ कि, तू पगली है, क्योंकि तूने मेरे बल एवं पराक्रम पर ध्यान नहीं दिया ॥ २ ॥

उद्वहेयं भुजाभ्यां तु मेदिनीमम्बरे स्थितः ।
आपिबेयं समुद्रं च हन्यां मृत्युं रणे स्थितः ॥ ३ ॥

मैं आकाश में बैठा बैठा अपनी भुजाओं से इस पृथिवी को उठा सकता हूँ, और समुद्र को पी सकता हूँ और काल को संग्राम में मार सकता हूँ ॥ ३ ॥

अर्कं रुन्ध्यां शरैस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्द्यां* हि महीतलम् ।
कामरूपिणमुन्मत्ते पश्य मां कामदं पतिम् ॥ ४ ॥

मैं अपने पैने बाणों से सूर्य की गति को रोक सकता हूँ और पृथिवी को विदीर्ण कर सकता हूँ। हे उन्मत्ते! मुझ इच्छारूपधारी और मनोरथपूर्ण करने वाले पति को देख। (अर्थात् मुझे अपना पति बना) ॥ ४ ॥

एवमुक्तवतस्तस्य सूर्यकल्पे शिखिप्रभे ।
क्रुद्धस्य [1]हरिपर्यन्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ ५ ॥

ऐसा कहते हुए रावण की पीली आँखे मारे क्रोध के प्रज्वलित आग की तरह लाल हो गयीं ॥ ५ ॥

सद्यः सौम्यं परित्यज्य भिक्षुरूपं स रावणः ।
स्वं रूपं कालरूपाभं भेजे वैश्रवणानुजः ॥ ६ ॥

---

1 हरिपर्यन्ते—पिङ्गलवर्णपर्यन्ते । (गो०) * पाठान्तरे—" विभिन्द्यां ।"

वसी समय कुबेर के छोटे भाई रावण ने अपने उस संन्यासी भेष को त्याग, काल के समान भयङ्कर रूप धारण किया ॥ ६ ॥

संरक्तनयनः [1]श्रीमांस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
क्रोधेन महताऽविष्टो नीलजीमूतसन्निभः ॥ ७ ॥

विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल धारण किये हुए, विचित्र शक्ति सम्पन्न और नील मेघ की तरह डीलडौल का रावण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ ७ ॥

दशास्यः कार्मुकी बाणी बभूव क्षणदाचरः ।
स परिव्राजकच्छद्म महाकायो विहाय तत् ॥ ८ ॥

उस समय वह महाकाय रावण, बनावटी संन्यासी का रूप त्याग कर, दस मुख और बीस भुजा वाला हो गया ॥ ८ ॥

प्रतिपद्य स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः ।
संरक्तनयनः क्रोधाज्जीमूतनिचयप्रभः ॥ ९ ॥

राक्षसेश्वर रावण ने अपना असली रूप धारण कर लिया । क्रोध के मारे उस नीलमेघ सदृश शरीर वाले रावण के नेत्र लाल हो गये थे ॥ ९ ॥

रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।
स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव ॥ १० ॥

वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽब्रवीत् ।
त्रिषु लोकेषु विख्यातं यदि भर्तारमिच्छसि ॥ ११ ॥

---

1 श्रीमान् विचित्रशक्तिसम्पन्नः । (गो०)

वह लाल वस्त्र पहिने हुए था और स्त्रियों में उत्तम जानकी की ओर देख, उन सूर्य के समान प्रभावाली, काले बालों से युक्त, वस्त्र भूषण धारण किये हुए जानकी जी से कहने लगा—यदि तीनों लोकों में विख्यात व्यक्ति को तू अपना पति बनाना चाहती है ॥ १० ॥ ११ ॥

मामाश्रय वरारोहे तवाहं सदृशः पतिः ।
मां भजस्व चिराय त्वमहं श्लाघ्यः प्रियस्तव ॥ १२ ॥

तो हे वरारोहे! मेरा पल्ला पकड़। क्योंकि मैं ही तेरे योग्य पति हूँ। तू चिरकाल तक मेरे साथ रह। मैं ही तेरा उपयुक्त प्रेमी हूँ ॥ १२ ॥

नैव चाहं क्वचिद्भद्रे करिष्ये तव विप्रियम् ।
त्यज्यतां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीयताम् ॥ १३ ॥

हे भद्रे! मैं कभी कोई बात तेरे मन के प्रतिकूल न करूँगा। अतः तू अब राम, जो मनुष्य है, उसकी ओर से अपने प्रेम को हटा, मुझसे प्रेम कर ॥ १३ ॥

राज्याच्च्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम् ।
कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितमानिनि ॥ १४ ॥

रामचन्द्र तो राज्यच्युत, अकृतकार्य और परिमित आयु वाला है। अरे मूढ़ और अपने को बुद्धिमान समझने वाली! तू राम के कौन से गुण पर लट्टू हो रही है? ॥ १४ ॥

यः स्त्रिया वचनाद्राज्यं विहाय ससुहृज्जनम् ।
अस्मिन्व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः ॥ १५ ॥

जो राम, स्त्री का कहना मान, राज्य और इष्टमित्रों को त्याग, इस सर्पादि सङ्कुल भयानक वन में वास करता है, वह दुर्बुद्धि नहीं तो है क्या? ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं वाक्यं प्रियार्हां प्रियवादिनीम् ।
अभिगम्य सुदुष्टात्मा राक्षसः काममोहितः ॥ १६ ॥

इस प्रकार उस प्रियभाषिणी और प्रेम करने योग्य सीता से कह, कामान्ध एवं महादुष्ट राक्षस रावण ने सीता के निकट आ ॥१६॥

जग्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव ।
वामेन सीतां पद्माक्षीं मूर्धजेषु करेण सः ॥ १७ ॥
ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना ।
तं दृष्ट्वा मृत्युसङ्काशं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम् ॥ १८ ॥
प्राद्रवन्गिरिसङ्काशं भयार्ता वनदेवताः ।
स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः ॥ १९ ॥
प्रत्यदृश्यत [1]हेमाङ्गो रावणस्य महारथः ।
ततस्तां परुषैर्वाक्यैर्भर्त्सयन्स महास्वनः ॥ २० ॥

सीता को उसी प्रकार पकड़ लिया, जिस प्रकार आकाश में बुध ने रोहिणी को पकड़ लिया था। रावण ने बाएँ हाथ से सीता के सिर के बालों को और दहिने हाथ से दोनों ऊरुओं को पकड़ा। उस समय काल के समान पैने दांतो वाले और लंबी भुजाओं वाले तथा पर्वत के समान लंबे चौड़े डीलडौल वाले रावण को देख, वनदेवता भयभीत हो, भाग गये। तदनन्तर रावण का मायामय आकाशचारी बड़ा रथ, जिसमें खच्चर जुते हुए थे और जिसके पहिये सोने के थे, सामने देख पड़ा। रावण ने गम्भीर स्वर से, कठोर वचन कह, सीता को धमकाया ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

---

१ हेमाङ्गो—स्वर्णमयचक्रः। (गो०)

अङ्केनादाय वैदेहीं रथमारोपयत्तदा ।
सा गृहीता विचुक्रोश रावणेन यशस्विनी ॥ २१ ॥
रामेति सीता दुःखार्ता रामं दूरगतं वने ।
तामकामां[1] स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव ॥ २२ ॥

फिर गोदी में उठा सीता को रथ में बिठा लिया । उस समय रावण द्वारा पकड़ी हुई यशस्विनी सीता अत्यन्त दुःखी हो, वन में दूर गये हुए श्रीराम को "राम" "राम" कह, बड़े ज़ोर से पुकारने लगी । उस समय वह कामान्ध राक्षस विरागिणी सीता को पन्नगराज की स्त्री की तरह ॥ २१ ॥ २२ ॥

विवेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः ।
ततः सा राक्षसेन्द्रेण ह्रियमाणा विहायसा ॥ २३ ॥
भृशं चुक्रोश मत्तेव भ्रान्तचित्ता यथाऽऽतुरा ।
हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक ॥ २४ ॥

रावण छटपटाती सीता को ले कर रथ सहित आकाशमार्ग से चल दिया । उस समय रावण के वश में पड़ी सीता उन्मत्त की तरह घबड़ा कर, रोगी की तरह बहुत विलाप करने लगी । सीता जी विलाप करती हुई कहने लगी, हे बड़ी भुजाओं वाले और गुरुजनों के मन को प्रसन्न करने वाले लक्ष्मण ! ॥ २३ ॥ २४ ॥

ह्रियमाणां न जानीषे रक्षसा *कामरूपिणा ।
जीवितं सुखमर्थांश्च धर्महेतोः[2] परित्यजन् ॥ २५ ॥

---

१ अकामां—विरागिणीं । (गो०) २ धर्महेतो—आश्रित संरक्षण रूप धर्महेतोः । (गो०)

* पाठान्तरे—"मामर्षिणा ।"

मुझे कामरूपी राक्षस हरे लिये जाता है। हाय! तुम्हें इसकी ख़बर नहीं है। हे राघव! तुमने आश्रितों की रक्षा रूपी धर्म के लिये जीवन-सुख और राज्य को भी त्याग दिया॥ २५॥

ह्रियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि।
ननु नामाविनीतानां विनेतासि[1] परन्तप॥ २६॥

यह पापी राक्षस मुझे हरे लिये जाता है, क्या तुमको यह नहीं देख पड़ता? हे परन्तप! तुम तो दुर्जनों के शिक्षक (दण्ड देने वाले) हो॥ २६॥

कथमेवंविधं पापं न त्वं शास्सि हि रावणम्।
ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम्॥२७॥

तब इस प्रकार के पाप करने वाले इस पापी रावण को क्यों दण्ड नहीं देते? ठीक है, दुष्ट कर्म का फल तुरन्त ही नहीं मिलता॥ २७॥

कालोऽप्यङ्गी[2] भवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये[3]।
स कर्म कृतवानेतत्कालोपहतचेतनः॥ २८॥

जिस प्रकार अनाज के पकने में कुछ समय लगता है, उसी प्रकार पाप भी कर्त्ता को फल देने के लिये कुछ समय लेता है। रावण ने काल के प्रभाव से चेतना रहित हो (नष्ट बुद्धि हो), जो यह कर्म किया है॥ २८॥

जीवितान्तकरं घोरं रामाद्व्यसनमाप्नुहि।
हन्तेदानीं सकामास्तु कैकेयी सह बान्धवैः॥ २९॥

---

१ विनेतासि—शिक्षकः। (गो०) २ कालोऽप्यङ्गी—सहकारिकारणं। (गो०) ३ पक्तये—पाकाय। (गो०)

सो इसके लिये रावण को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्राणान्त करने वाली घोर विपद में पड़ना पड़ेगा। इस समय अपने बान्धवों सहित कैकेयी का मनोरथ पूरा हुआ ॥ २६ ॥

ह्रिये यद्धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः ।
[1]आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारान्सुपुष्पितान् ॥ ३० ॥

क्योंकि धर्म में तत्पर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी मैं हरी जा रही हूँ। मैं जनस्थान में इन फूले हुए कर्णिकार वृक्षों को सम्बोधन कर कहती हूँ कि, ॥ ३० ॥

क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः ।
माल्यवन्तं शिखरिणं वन्दे प्रस्रवणं गिरिम् ॥ ३१ ॥

कि तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र से कह देना कि, रावण सीता को हर कर ले गया। पुष्पित वृक्षों से युक्त एवं प्रशस्त शिखर वाले प्रस्रवण पर्वत को मैं प्रणाम करती हूँ कि, ॥ ३१ ॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः ।
हंसकारण्डवाकीर्णां वन्दे गोदावरीं नदीम् ॥ ३२ ॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि रावण सीता को हर कर ले गया। हंस और सारस पक्षियों से सेवित गोदावरी नदी को मैं प्रणाम करती हूँ कि, ॥ ३२ ॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः ।
दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे ॥ ३३ ॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि सीता को रावण हर ले गया। अनेक वृक्षों से पूर्ण इस वन में जो देवता रहते हैं, ॥ ३३ ॥

---

१ आमंत्रये—संबोधयामि। (गो०)

नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ।
यानि कानि चिद्प्यत्र सत्त्वानि[1] निवसन्त्युत ॥३४॥
सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानपि ।
ह्रियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ ३५ ॥
विवशापहृता सीता रावणेनेति शंसत ।
विदित्वा मां महाबाहुरमुत्रापि महाबलः ॥ ३६ ॥

उन सब को मैं प्रणाम करती हूँ कि, वे मेरा (रावण द्वारा) हरा जाना मेरे पति (श्रीरामचन्द्र जी) से कह दें । अन्य जो कोई जीव-जन्तु इस वन में रहते हैं, तथा जो मृगपक्षी (यहाँ) हैं उन सब की मैं शरण होती हूँ और उनसे प्रार्थना करती हूँ कि, वे मेरे पति से कह दें कि, उनकी प्राणों के समान प्यारी भार्या (सीता) को, बरजोरी रावण ने हर लिया है । क्योंकि बड़ी भुजाओं वाले महाबली श्रीराम को यदि यह वृत्तान्त मालूम हो गया तो, ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि ।
सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता ॥ ३७ ॥

वे अपने पराक्रम द्वारा मुझे यमराज से भी छुड़ा लावेंगे । इस प्रकार दुःखित और दीन हो विलाप करती हुई सीता ने ॥ ३७ ॥

वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शायतलोचना ।
सा तमुद्वीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशं गता ॥ ३८ ॥

जो विशाल नेत्र वाली थी, वृक्ष पर बैठे हुए जटायु को देखा । रावण के वश में पड़ी हुई सीता ने जटायु को देख ॥ ३८ ॥

---

1 सत्त्वानि—जन्तवः । (गो०)

समाक्रन्दद्भयपरा दुःखोपहतया गिरा।
जटायो पश्य मामाय ह्रियमाणामनाथवत् ॥ ३९ ॥
अनेन राक्षसेन्द्रेण करुणं पापकर्मणा।
नैष वारयितुं शक्यस्तव क्रूरो निशाचरः।
सत्त्ववाञ्जितकाशी च सायुधश्चैव दुर्मतिः ॥ ४० ॥

भयभीत एवं दुःखित हो रो कर कहा, हे मेरे बड़े बूढ़े जटायु! देखो यह पापी रावण मुझे अनाथ की तरह निर्भय भाव से पकड़ कर लिये जाता है। जान पड़ता है तुम इस महाबली, विजयी, कूटयुद्ध करने वाले, क्रूर और आयुधधारी राक्षस को रोक नहीं सकते (अतः) ॥ ३९ ॥ ४० ॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम।
लक्ष्मणाय च तत्सर्वमाख्यातव्यमशेषतः ॥ ४१ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

हे जटायु! तुम श्रीरामचन्द्र जी से मेरे हरे जाने का यथार्थ वृत्तान्त कह देना और लक्ष्मण को यह आद्यन्त समस्त वृत्तान्त बता देना ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

पञ्चाशः सर्गः

—:*:—

तं शब्दमवसुप्तस्तु[1] जटायुरथ शुश्रुवे।
निरीक्ष्य रावणं क्षिप्रं वैदेहीं च ददर्श सः ॥ १ ॥

---

[1] अवसुप्तः—ईषत्सुप्तो जटायुः। (गो०)

जटायु ने जो उस समय ऊँघ रहा था, सीता की आवाज़ सुन, आँखें खोलीं और उसने रावण और सीता को देखा ॥ १ ॥

ततः पर्वतकूटाभस्तीक्ष्णतुण्डः खगोत्तमः ।
वनस्पतिगतः श्रीमान्व्याजहार शुभां गिरम् ॥ २ ॥

उस पर्वत के शृङ्ग के तुल्य बड़े डीलडौल के जटायु पक्षी ने, जिसकी बड़ी पैनी चोंच थी, पेड़ पर बैठे ही बैठे मधुर शब्दों में रावण से कहा ॥ २ ॥

दशग्रीव स्थितो धर्मे[1] पुराणे[2] सत्य संश्रयः ।
जटायुर्नाम नाम्नाऽहं गृध्रराजो महाबलः ॥ ३ ॥

हे दशग्रीव! मैं सदैव से सेवाधर्म में लगा हुआ हूँ और सत्य पर आरूढ़ हूँ। मेरा नाम जटायु है और मैं गीधों का महाबलवान् राजा हूँ ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।
लोकानां च हिते युक्तो रामो दशरथात्मजः ॥ ४ ॥
तस्यैषा लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी ।
सीता नाम वरारोहा यां त्वं हर्तुमिहेच्छसि ॥ ५ ॥

जो सब लोकों के राजा हैं, जो इन्द्र और वरुण के तुल्य हैं और जो प्राणि मात्र की भलाई में लगे रहते हैं, उन्हीं त्रिलोकीनाथ दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र की यह यशस्विनी वरारोहा धर्मपत्नी सीता है, जिसे तुम हर कर लिये जाते हो ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

१ धर्मे—दास्यवृत्तावित्यर्थः। (गो०) २ पुराणे—सनातने। (गो०)

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान्परामृशेत् ।
रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबल: ॥ ६ ॥

जो राजा धर्ममार्ग पर आरूढ़ है क्या उसको परस्त्री पर हाथ डालना उचित है ? हे महाबली ! तुमको तो राजपत्नी की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

निवर्तय मतिं नीचां परदाराभिमर्शनात् ।
न तत्समाचरेद्धीरो[1] यत्परोऽस्य विगर्हयेत् ॥ ७ ॥

अतः तुम पराई स्त्री के हरण करने की नीच बुद्धि को त्याग दो। जिस काम के करने से निन्दा होती हो, वह काम धीमान् पुरुष नहीं किया करते ॥ ७ ॥

यथाऽऽत्मनस्तथाऽन्येषां दारा रक्ष्या विपश्चिता[2] ।
*धर्ममर्थं च कामं च शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्[3] ॥ ८ ॥
व्यवस्यन्ति न राजानो धर्मं पौलस्त्यनन्दन ।
राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः ॥ ९ ॥

विवेकी पुरुषों का कर्त्तव्य है कि, अपनी स्त्री की तरह पराई स्त्री की भी रक्षा करे। हे पौलस्त्यनन्दन ! शिष्टजन अथवा विवेकीजन धर्म, अर्थ, अथवा काम सम्बन्धी किसी भी कार्य के विषय में जब शास्त्र का विधान नहीं पाते, तब राजा जैसा करता है, उसीका वे लोग अनुसरण करते हैं। अतः राजा को सदैव धर्ममार्ग का अनुसरण करना चाहिये। क्योंकि राजा ही धर्म और राजा ही काम और राजा ही समस्त उत्तम द्रव्यों का ख़ज़ाना है ॥ ८ ॥ ९ ॥

---

१ धीरः—धीमान् । (गो०) २ विपश्चिता—विवेकिना । (गो०) ३ शास्त्रेष्वनागतम्—शास्त्रेषु अनुपदिष्टं । (गो०) * पाठान्तरे—"अर्थं वा यदि वा कामं शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्"।

धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते ।
पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसांवर ॥ १० ॥

धर्म, शुभकर्म अथवा पापकर्म सब की जड़ राजा ही है। क्योंकि राजा की प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रजाजनों की भी प्रवृत्ति होती है। हे! राक्षसोत्तम! स्वभाव ही से पापी और चञ्चल हो कर भी ॥ १० ॥

ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृतिः ।
कामं स्वभावो यो यस्य न शक्यः परिमार्जितुम् ॥ ११ ॥

तुम किस प्रकार दुष्कर्म करने वाले जन को देवविमान प्राप्त होने के समान, इस ऐश्वर्य को प्राप्त हुए हो? जो कामी है अथवा स्वेच्छाचारी है, वह अपने उस स्वभाव को बदल नहीं सकता ॥ ११ ॥

न हि दुष्टात्मनामार्[1]यमावसत्यालये[2] चिरम् ।
विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महाबलः ॥ १२ ॥
नापराध्यति धर्मात्मा कथं तस्यापराध्यसि ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥ १३ ॥

इसीसे दुष्ट जनों के हृदय में सदुपदेश बहुत देर तक नहीं टिकता। जब महाबली श्रीराम ने तुम्हारे अधिकृत देश में, अथवा पुर में, तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया; तब तुम उनके प्रति यह अपराध कार्य क्यों कर रहे हो। यदि कहो कि, शूर्पणखा के पीछे जनस्थान-वासी खरादि का ॥ १२ ॥ १३ ॥

---

१ आर्यं—सदुपदेशः। (गो०) २ आलये—हृदये। (गो०)

अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ १४ ॥

वध कर अक्लिष्टकर्मा श्रीरामचन्द्र पहिले ही मर्यादा भङ्ग कर चुके हैं, तो तुम्हीं बतलाओ कि, वास्तव में श्रीरामचन्द्र का इसमें क्या दोष है. ॥ १४ ॥

यस्य त्वं लोकनाथस्य भार्यां हृत्वा गमिष्यसि ।
क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा ॥ १५ ॥
दहेद्दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा ।
सर्पमाशीविषं बद्ध्वा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे ॥ १६ ॥

जो तुम उन लोकनाथ की भार्या को हर कर लिये जाते हो ? हे रावण ! तुम तुरन्त सीता को छोड़ दो । नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि, जिस प्रकार इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर को भस्म किया था, उसी प्रकार कहीं श्रीराम तुझे (भी) अपने अग्नितुल्य नेत्र से भस्म कर डालें । अरे रावण ! महाविषैले सर्प को आंचल में बांध कर भी, तू नहीं चेतता ॥ १५ ॥ १६ ॥

ग्रीवायां प्रतिमुक्तं[१] च कालपाशं न पश्यसि ।
स भारः सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत् ॥ १७ ॥

तुम गले में काल का फंदा लगा कर भी आंख से नहीं देखते । हे सौम्य ! बोझ उतना ही उठाना चाहिये जितने से स्वयम् दब जाना न पड़े ॥ १७ ॥

१ प्रतिमुक्तं—आमुक्तं । (गो०)

तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम् ।
यत्कृत्वा न भवेद्धर्मो न कीर्त्तिर्न यशो भुवि ॥ १८ ॥
शरीरस्य भवेत्खेदः कस्तत्कर्म समाचरेत् ।
षष्टिर्वर्षसहस्राणि मम जातस्य रावण ॥ १९ ॥

वही अन्न खाना चाहिये जो किसी प्रकार के रोग को उत्पन्न न कर के पच जाय। जिस कार्य के करने में न तो पुण्य ही होता है और न संसार में कीर्ति और यश ही फैलता है, वल्कि जिसके करने से शरीर को क्लेश हो ऐसे कर्म को कौन (समझदार) पुरुष करेगा ? हे रावण ! मुझे उत्पन्न हुए साठ हज़ार वर्ष बीत चुके ॥ १८ ॥ १९ ॥

पितृपैतामहं राज्यं यथावदनुतिष्ठतः ।
वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सशरः कवची रथी ॥ २० ॥

और मैं अपने बाप दादों के परम्परागत प्राप्त राज्य का पालन यथावत् करता हूँ। यद्यपि मैं बूढ़ा हूँ और तुम युवा हो, रथ पर सवार हो, कवचधारी हो और धनुष बाण लिये हुए हो ॥२०॥

तथाऽप्यादाय वैदेहीं कुशली न गमिष्यसि ।
न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः ॥ २१ ॥

तथापि तुम सीता को ले कर यहाँ से कुशलपूर्वक नहीं जा सकते ! मेरी आँखों के सामने तुम बरजोरी सीता को नहीं ले जा सकते ॥ २१ ॥

हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव ।
युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥ २२ ॥

जैसे किसी वेदवेत्ता के समाने कोई तर्कशास्त्री वेद के मंत्रों का अनुचित अर्थ नहीं कर सकता। हे रावण! यदि तुझे शूरवीर होने का दावा है, तो दो घड़ी यहाँ रुक कर, मुझसे युद्ध कर ॥ २२ ॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा।
असकृत्संयुगे येन निहता *दैत्यदानवाः ॥ २३ ॥

फिर देखना कि, मैं तुझे मार कर पृथिवी पर उसी प्रकार लिटाता हूँ कि नहीं, जिस प्रकार पहिले खर मर कर पृथिवी पर लोट चुका है। हे रावण! जिन्होंने अनेक बार युद्ध में दैत्य और दानवों को मारा है ॥ २३ ॥

न चिराच्चीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति।
किं तु शक्यं मया कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ ॥ २४ ॥

वे चीरधारी श्रीराम संग्राम में क्या तेरा वध करने में देर लगावेंगे! मैं क्या करूँ वे दोनों राजकुमार वन में दूर निकल गये हैं ॥ २४ ॥

क्षिप्रं त्वं नश्यसे[1] नीच तयोर्भीतो न संशयः।
न हि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम् ॥ २५ ॥
सीतां कमलपत्राक्षीं रामस्य महिषीं प्रियाम्।
अवश्यं तु मया कार्यं प्रियं तस्य महात्मनः ॥ २६ ॥
जीवितेनापि रामस्य तथा दशरथस्य च।
तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण ॥ २७ ॥

---

१ नश्यसे—अदर्शनं प्राप्नोषि। (गो०) * पाठान्तरे—" देव "

हे नीच ! तू भी उनसे डर कर, निस्सन्देह शीघ्र मारा जायगा, किन्तु मेरे जीते जी तो तू कमलनयनी श्रीराम की प्यारी पटरानी सीता को नहीं ले जाने पावेगा। क्योंकि मैं तो उन महात्मा श्रीराम की और दशरथ की भलाई जान दे कर भी अवश्य करूँगा। हे दशग्रीव रावण ! खड़ा रह !! खड़ा रह !!! मुहूर्त भर में ॥ २५ ॥ ॥ २६ ॥ २७ ॥

युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं[1] निशाचर ।
वृन्तादिव फलं त्वा तु पातयेयं रथोत्तमात् ॥ २८ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

हे निशाचर ! मैं तेरा अपने बल के अनुरूप युद्धोचित आतिथ्य कर, पके फल की तरह तुझे इस उत्तम रथ से नीचे गिराये देता हूँ ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

एकपञ्चाशः सर्गः

—*—

इत्युक्तस्य यथान्यायं रावणस्य जटायुषा ।
क्रुद्धस्याग्निनिभाः सर्वा रेजुर्विंशतिदृष्टयः ॥ १ ॥

जटायु के न्यायपूर्वक कहे हुए वचनों को सुन कर, रावण के बीसों नेत्र क्रोध में भरने के कारण अग्नि के समान लाल पड़ गये ॥ १ ॥

---

१ यथाप्राणं – यथाबलं । (गो०)

संरक्तनयनः कोपात्तप्तकाञ्चनकुण्डलः।
राक्षसेन्द्रोऽभिदुद्राव पतगेन्द्रममर्षणः[1] ॥ २ ॥

तब जटायु के वाक्यों को न सह कर शुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए रावण, क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर, जटायु पर बड़े वेग से दौड़ा ॥ २ ॥

स [2]संप्रहारस्तुमुलस्तयोस्तस्मिन्महावने।
बभूव वातोद्धतयोर्मेघयोर्गगने यथा ॥ ३ ॥

जिस प्रकार आकाश में पवन प्रेरित दो मेघों की टक्कर होती है, उसी प्रकार उन दोनों का विकट युद्ध हुआ ॥ ३ ॥

तद्बभूवाद्भुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा।
सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव ॥ ४ ॥

पक्षधारी दो माल्यवान श्रेष्ठपर्वतों की तरह गृद्धराज जटायु और राक्षसेश्वर रावण का अद्भुत युद्ध हुआ ॥ ४ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्ष्णाग्रैश्च विकर्णिभिः।
अभ्यवर्षन्महाघोरैर्गृध्रराजं महाबलः ॥ ५ ॥

रावण ने महाबली जटायु के ऊपर पैनी नोकों वाले नालीक और विकर्णि नामक बड़े भयङ्कर तीरों की वर्षा कर उसे ढक दिया ॥ ५ ॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः[3]।
जटायुः प्रतिजग्राह[4] रावणास्त्राणि संयुगे ॥ ६ ॥

---

१ अमर्षणः—असहनः। (गो०) २ संप्रहारः—युद्धं। (गो०) ३ पत्ररथेश्वरः—पक्षीश्वरः। (गो०) ४ प्रतिजग्राह—सेहे। (गो०)

परन्तु पक्षीश्वर गृद्ध ने उस युद्ध में रावण के सब तीरों और अस्त्रों के प्रहारों को सह लिया ॥ ६ ॥

तस्य तीक्ष्णनखाभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः ।
चकार बहुधा गात्रे व्रणान्पतगसत्तमः ॥ ७ ॥

और जटायु ने अपने पैने नखवाले दोनों पैरों से रावण के शरीर को क्षत विक्षत कर डाला ॥ ७ ॥

अथ क्रोधाद्दशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान्[1] ।
मृत्युदण्डनिभान्घोराञ्शत्रुमर्दनकाङ्क्षया ॥ ८ ॥

तब तो क्रोध में भर कर, दशग्रीव रावण ने जटायु का वध करने के लिये बड़े भयङ्कर कालदण्ड की तरह दस बाण निकाले ॥ ८ ॥

स तैर्बाणैर्महावीर्यः पूर्णमुक्तैरजिह्मगैः[2] ।
बिभेद निशितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलीमुखैः ॥ ९ ॥

और कान तक धनुष के रोदे को खींच कर, उन सीधे चलने वाले सान पर पैनाये हुए और भयङ्कर बाणों से जटायु का शरीर विदीर्ण किया ॥ ९ ॥

स राक्षसरथे पश्यञ्जानकीं बाष्पलोचनाम् ।
अचिन्तयित्वा तान्बाणान्राक्षसं समभिद्रवत् ॥ १० ॥

जटायु ने उन बाणों की तो कुछ परवाह न की, किन्तु जब देखा कि, रावण के रथ में बैठी जानकी नेत्रों से आंसू बहा रही है, तब वह रावण की ओर झपटा ॥ १० ॥

---

१ मार्गणान्—बाणान् । (गो०) २ अजिह्मगैः—ऋजुगामिभिः । (गो०)

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम् ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्ज पतगेश्वरः ॥ ११ ॥

और उस महातेजस्वी पक्षिराज ने मारे लातों के रावण का तीरों सहित धनुष, जिसमें मोती और मणियाँ जड़ी थीं, तोड़ डाला ॥ ११ ॥

ततोऽन्यद्धनुरादाय रावणः क्रोधमूर्छितः ।
ववर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १२ ॥

तब तो अत्यन्त कुपित हो रावण ने दूसरा धनुष उठाया और जटायु पर सैकड़ों सहस्रों बाणों की वर्षा की ॥ १२ ॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः ।
कुलायमुपसम्प्राप्तः पक्षीव प्रबभौ तदा ॥ १३ ॥

उस समय जटायु उस शरसमूह से घिर कर घोंसले में बैठे हुए पक्षी की तरह शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १३ ॥

स तानि शरवर्षाणि पक्षाभ्यां च विधूय च ।
चरणाभ्यां महातेजा बभञ्जास्य महद्धनुः ॥ १४ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी जटायु ने अपने दोनों पंखों से उस शरजाल को खण्डित कर, अपने दोनों पंजों से रावण के उस (दूसरे) बड़े धनुष को भी तोड़ डाला ॥ १४ ॥

तच्चाग्निसदृशं दीप्तं रावणस्य शरावरम्[1] ।
पक्षाभ्यां स महावीर्यो व्याधुनोत्पतगेश्वरः ॥ १५ ॥

---

1 शरावरं—कवचं गो०

(इतना ही नहीं बल्कि) अपने पंखों के प्रहार से महातेजस्वी जटायु ने रावण का अग्नि की तरह चमचमाता कवच भी तोड़ फोड़ डाला ॥ १५ ॥

काञ्चनोरश्छदान्दिव्यान्पिशाचवदनान्खरान् ।
तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥ १६ ॥

उस बली जटायु ने रावण का सुवर्णमय दिव्य कवच तोड़, अति शीघ्र दौड़ने वाले और पिशाचों जैसे मुख वाले रथ में जुते हुए खच्चरों को मार डाला, ॥ १६ ॥

वरं त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम् ।
मणिहेमविचित्राङ्गं ब[illegible]ञ्ज च महारथम् ॥ १७ ॥

फिर इच्छागामी, अग्नि के समान चमचमाता, और मणियों के बने पायदानों से युक्त, तथा जिसके जुये में तीन बाँस लगे हुए थे—ऐसे रावण के बड़े रथ को जटायु ने तोड़ डाला ॥ १७ ॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह ।
पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह ॥ १८ ॥

फिर जटायु ने पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह छत्र, चामरों को और उनके थामने वाले राक्षसों को भी मार डाला ॥ १८ ॥

सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेनैव महच्छिरः ।
पुनर्व्यपाहरच्छ्रीमान्पक्षिराजो महाबलः ॥ १९ ॥

फिर महाबली पक्षिराज जटायु ने अपनी चोंच के प्रहार से रावण के सारथी का बड़ा सिर भी काट डाला । इस प्रकार परम बल सम्पन्न पक्षिराज द्वारा ॥ १९ ॥

स भग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।
अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः ॥ २० ॥

जब रावण का धनुष तोड़ा गया, रथ नष्ट किया गया, और घोड़े तथा सारथी मार डाले गये, तब रावण सीता को अपनी गोदी में लिये हुए भूमि पर कूद पड़ा ॥ २० ॥

दृष्ट्वा निपतितं भूमौ रावणं भग्नवाहनम् ।
साधु साध्विति भूतानि गृध्रराजमपूजयन् ॥ २१ ॥

सवारी नष्ट होने के कारण रावण को पृथ्वी पर गिरा हुआ देख, समस्त प्राणी "वाह वाह" कह कर, जटायु की प्रशंसा करने लगे ॥ २१ ॥

परिश्रान्तं तु तं दृष्ट्वा जरया पक्षियूथपम् ।
उत्पपात पुनर्हृष्टो मैथिलीं गृह्य रावणः ॥ २२ ॥

पक्षिराज जटायु को बुढ़ापे के कारण थका जान, रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सीता को ले फिर आकाशमार्ग से चल दिया ॥२२॥

तं प्रहृष्टं निधायाङ्के गच्छन्तं जनकात्मजाम् ।
गृध्रराजः समुत्पत्य समभिद्रुत्य रावणम् ॥ २३ ॥

रावण को प्रसन्न होते हुए और जानकी को लेकर जाते हुए देख, जटायु ने बड़े वेग से उसका पीछा किया ॥ २३ ॥

*समावार्य महातेजा जटायुरिदमब्रवीत् ।
वज्रसंस्पर्शबाणस्य भार्यां रामस्य रावण ॥ २४ ॥

---

* पाठान्तरे "ममावार्य" "तमावार्य" वा ।

अल्पबुद्धे हरस्येनां वधाय खलु रक्षसाम् ।
समित्रबन्धुः सामात्यः सबलः सपरिच्छदः ॥ २५ ॥

और उस महातेजस्वी जटायु ने रावण का मार्ग रोक उससे यह कहा—तू अपने इष्टमित्रों, भाईबन्धुओं, मंत्रियों, सेनाओं और कुटुम्ब सहित समस्त राक्षसकुल का सर्वनाश करने के लिये ही, वज्र समान बाण धारण करने वाले श्रीरामचन्द्र की भार्या, इन जानकी को चुरा कर लिये जा रहा है ॥ २४ ॥ २५ ॥

विषपानं पिबस्येतत्पिपासित इवोदकम् ।
अनुबन्धम्[1]अजानन्तः कर्मणामविचक्षणाः[2] ॥ २६ ॥

जिस प्रकार प्यासा पानी पीता है , उसी प्रकार तू यह विषपान कर रहा है । असमर्थ लोग जिस प्रकार अपने किये हुए कर्म के फल को न जान कर, ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनशिष्यसि ।
बद्धस्त्वं कालपाशेन क गतस्तस्य मोक्ष्यसे ॥ २७ ॥

शीघ्र निनष्ट होते हैं, उसी प्रकार तू भी विनष्ट हो जायगा । तूने अपने गले में काल की फांसी डाल ली है, अब तू किस देश में भाग कर इससे निस्तार पा सकता है ॥ २७ ॥

वधाय बडिशं गृहय सामिषं जलजो यथा ।
न हि जातु दुराधर्षौ काकुत्स्थौ तव रावण ॥ २८ ॥

---

१ अनुबन्धः—फलम् । (गो०) २ अविचक्षणाः—असमर्थाः । (गो०)

धर्षणं चाश्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ ।
यथा त्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम् ॥ २९ ॥
तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः ।
युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥ ३० ॥

मांस के टुकड़े से युक्त वंशी के कांटे की ओर अपने प्राण खोने को जिस प्रकार मछली दौड़ती है, उसी प्रकार तू भी यह काम कर रहा है। हे रावण! श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण अजेय हैं, वे तेरे इस अपराध को, जो तू उनके आश्रम से सीता को हर कर लिये जाता है कभी क्षमा न करेंगे। तू जो यह लोकनिन्दित और डरपोकों जैसा काम कर रहा है, सो चोरों के योग्य है, वीरों के योग्य नहीं है। यदि तुझे वीर होने का अभिमान है, तो दो घड़ी ठहरा रह और युद्ध कर ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा ।
परेतकाले पुरुषो यत्कर्म प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥
विनाशायात्मनोऽधर्म्यं प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत् ।
पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः कर्म को नु तत् ॥ ३२ ॥

और फिर देख, मैं तुझे उसी तरह, जिस तरह तेरा भाई खर मारा गया है, मार कर भूमि पर गिराता हूँ कि, नहीं। मरते समय मनुष्य अपने नाश के लिये जैसे अधर्म के काम किया करते हैं, वैसे ही तू भी कर रहा है। जिस कर्म का सम्बन्ध पाप से है उस कर्म को कौन पुरुष ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्भगवानपि ।
एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः ॥ ३३ ॥

निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान् ।
तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विरराद समन्ततः ॥ ३४ ॥

करेगा—भले ही वह लोकाधिपति साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो। इस प्रकार की हित की बातें कह, जटायु उस बलवान राक्षस दशग्रीव रावण की पीठ से लिपट गया और अपने पैने नाखूनों से उसकी समस्त पीठ विदीर्ण कर डाली ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

[नोट—जब रावण ने जटायु का तिरस्कार कर, उसकी बातों पर ध्यान न दिया और वह आगे बढ़ने लगा, तब जटायु उसकी पीठ में लिपट गया—ऐसा जान पड़ता है।]

अधिरूढो गजारोहो यथा स्यादुदुष्टवारणम् ।
विरराद नखैरस्य तुण्डं पृष्ठे समर्पयन् ॥ ३५ ॥

जैसे महावत् दुष्ट हाथी की गर्दन पर सवार हो, उसके अंकुश चुभोता है, उसी प्रकार जटायु ने रावण की पीठ पर अपनी चोंच चुभोयी ॥ ३५ ॥

केशांश्चोत्पाटयामास नखपक्षमुखायुधः ।
स तथा गृध्रराजेन क्लिश्यमानो मुहुर्मुहुः ॥ ३६ ॥

नख, चोंच और पंखों के हथियार से लड़ने वाले जटायु ने रावण के सिर के बाल नोंच डाले। इस प्रकार जटायु से बार बार सताये जाने पर ॥ ३६ ॥

[1]अमर्षस्फुरितोष्ठः सन्प्राकम्पत[2] स रावणः ।
स परिष्वज्य वैदेहीं वामेनाङ्केन रावणः ॥ ३७ ॥

---

१ अमर्षेण—क्रोधेन। (गो०) २ प्राकम्पत—महारार्थं प्रदक्षिणं प्राचल-दित्यर्थः। (गो०)

रावण क्रोध के मारे ओंठों को फरफराता हुआ, जटायु पर वार करने के लिये मुड़ा। उसने सीता को बाईं बगल में दबाया ॥ ३७ ॥

तलेनाभिजघानाशु जटायुं क्रोधमूर्छितः ।
जटायुस्तमभिक्रम्य तुण्डेनास्य खगाधिपः ॥ ३८ ॥

और वह क्रोध में भर कर, जटायु के थपेड़ मारने लगा। पक्षि-राज जटायु ने उसके थपेड़े को बचाया और अपनी चोंच से ॥ ३८ ॥

वामबाहून्दश तदा [1]व्यपाहरदरिन्दमः ।
संछिन्नबाहोः सद्यैव बाहवः सहसाऽभवन् ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन जटायु ने रावण की बाईं ओर की दसों भुजाओं को काट गिराया; किन्तु तत्क्षण रावण की वैसी भुजाएं उसी प्रकार निकल आयीं, ॥ ३९ ॥

विषज्वालावलीयुक्ता वल्मीकादिव पन्नगाः ।
ततः क्रोधाद्दशग्रीवः सीतामुत्सृज्य रावणः ॥ ४० ॥

जिस प्रकार विष की ज्वलाएं फेंकते हुए सर्प बांबी से निकलते हैं। तब रावण ने क्रोध में भर सीता को तो छोड़ दिया ॥ ४० ॥

मुष्टिभ्यां चरणाभ्यां च गृध्रराजमपोथयत्[2] ।
ततो मुहूर्तं संग्रामो बभूवातुलवीर्ययोः ॥ ४१ ॥
राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च ।
तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः ॥ ४२ ॥

---

१ व्यपाहरत्—अच्छिनत् । (गो०) २ अपोथयत्—अताडयत् । (गो०)

और वह मुक्कों और लातों से गृध्रराज को मारने लगा। अतुल वीर्यवान उन दोनों का (अर्थात् राक्षसराज और पक्षिराज का) एक मुहूर्त्त तक घमासान युद्ध हुआ। उस समय श्रीराम के लिये युद्ध करते हुए जटायु के, रावण ने ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पक्षौ पार्श्वौ च पादौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत् ।
स च्छिन्नपक्षः सहसा रक्षसा रौद्रकर्मणा ।
निपपात हतो गृध्रो धरण्यामल्प जीवितः ॥ ४३ ॥

तलवार से समूल दोनों पर और दोनों पैर काट डाले। तब भयानक कर्म करने वाले रावण द्वारा पक्षों के काटे जाने पर जटायु गृद्ध मरणप्रायः हो कर, पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ॥ ४४ ॥

जटायु को घायल पड़ा देख, दुःख से पीड़ित हो कर, सीता उस की ओर उसी प्रकार दौड़ी, जिस प्रकार कोई अपने किसी भाई बन्धु को पीड़ित देख, उसकी ओर दौड़ता है ॥ ४४ ॥

तं नीलजीमूतनिकाशकल्पं
सुपाण्डुरोरस्कमुदारवर्यम् ।
ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां
जटायुषं शान्तमिवाग्निदावम् ॥ ४५ ॥

लङ्काधिपति रावण ने, नीले मेघ के समान रंग वाले, पाण्डुर रंग की छाती वाले और अत्यन्त पराक्रमी जटायु को, उस समय, शान्त हुई वन की आग की तरह, पृथिवी पर पड़ा देखा ॥ ४५ ॥

ततस्तु तं पत्ररथं महीतले
निपातितं रावणवेगमर्दितम् ।
पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
रुरोद सीता जनकात्मजा तदा ॥ ४६ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

रावण के द्वारा मर्दित अंगों वाले और भूमि पर लोटते हुए जटायु को अपने कण्ठ से लगा, शशिवदनी जानकी जी रोने लगीं ॥ ४६ ॥

अरण्यकाण्ड का एकयावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—※—

तमल्पजीवितं गृध्रं स्फुरन्तं राक्षसाधिपः ।
ददर्श भूमौ पतितं समीपे राघवाश्रमात् ॥ १ ॥

राक्षसेश्वर रावण ने श्रीरामाश्रम के समीप उस मृतप्राय जटायु को भूमि पर पड़ा हुआ और तड़फड़ाते हुए देखा ॥ १ ॥

सा तु ताराधिपमुखी रावणेन बलीयसा* ।
गृध्रराजं विनिहतं विललाप सुदुःखिता ॥ २ ॥

बलवान् रावण द्वारा मारे गये जटायु को देख, सीता जो बहुत दुःखी हुईं और विलाप करने लगीं ॥ २ ॥

* पाठान्तरे—"समीक्ष्य तम् ।"

आलिङ्ग्य गृध्रं निहतं रावणेन बलीयसा ।
विललाप सुदुःखार्ता सीता शशिनिभानना ॥ ३ ॥

बलवान रावण द्वारा घायल किये गये गृद्धराज को आलिङ्गन कर, चन्द्रवदनी सीता अत्यन्त दुखी हो, विलाप करने लगीं ॥ ३ ॥

निमित्तं लक्षणज्ञानं शकुनिस्वरदर्शनम् ।
अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां प्रतिदृश्यते ॥ ४ ॥

वे बोलीं कि, बाएं या दहिने अङ्गों का फड़कना, पक्षियों का बोलना और स्वप्न में सुवर्ण रूपी वृक्षों आदि का देखना; मनुष्यों के सुख दुःख के बारे में साक्षी रूप देख पड़ते हैं ॥ ४ ॥

नूनं राम न जानासि महद्व्यसनमात्मनः ।
धावन्ति नूनं काकुत्स्थं मदर्थं मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

यद्यपि आज निश्चय ही मृग और पक्षीगण इस विपत्ति की सूचना देने को श्रीराम के सामने दौड़ते होंगे, तथापि यह भी निश्चय है कि, श्रीरामचन्द्र जी इस महान् कष्ट को न समझ सकेंगे ॥ ५ ॥

अयं हि पापचारेण मां त्रातुमभिसङ्गतः ।
शेते विनिहतो भूमौ ममाभाग्याद्विहङ्गमः ॥ ६ ॥

यह बेचारा जटायु, जो मेरी रक्षा करने यहाँ आया था, यह भी मारा जा कर, मेरे अभाग्य से ज़मीन पर अचेत हुआ पड़ा है ॥ ६ ॥

त्राहि मामद्य काकुत्स्थ लक्ष्मणेति वराङ्गना ।
सुसंत्रस्ता समाक्रन्दच्छृण्वतां तु [1]यथाऽन्तिके ॥ ७ ॥

---

१ शृणुतामन्तकेयथा — शृण्वतांसमीप इव । (गो०)

हे राम ! हे लक्ष्मण ! इस समय मुझे आ कर बचाओ। डरी हुई सीता इस प्रकार उस समय रो कर कह रही थी; मानों श्रीराम और लक्ष्मण पास ही कहीं उसकी बातें सुन ही रहे हों ॥ ७ ॥

तां क्लिष्टमाल्याभरणां विलपन्तीमनाथवत् ।
अभ्यधावत वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ८ ॥

अनाथ की तरह विलाप करती हुई, कुम्हलाई हुई माला और मसले हुए आभूषणों को पहिने हुए सीता की ओर राक्षसेश्वर रावण दौड़ा ॥ ८ ॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्तीं महाद्रुमान् ।
मुञ्चमुञ्चेति बहुशः प्रवदन्राक्षसाधिपः ॥ ९ ॥

उस समय सीता लता की तरह बड़े बड़े वृक्षों से लिपटने लगी। तब रावण ने उनसे बार बार कहा "छोड़ छोड़" ॥ ९ ॥

क्रोशन्तीं रामरामेति रामेण रहितां वने ।
जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसन्निभः ॥ १० ॥

उस समय श्रीराम की अनुपस्थिति में राम राम कह कर, उस वन में रोती हुई सीता के पास जा, रावण ने काल की तरह अपने विनाश के लिये सीता के सिर के बाल पकड़ लिये ॥ १० ॥

प्रधर्षितायां सीतायां बभूव सचराचरम् ।
जगत्सर्वममर्यादं तमसाऽन्धेन संवृतम् ॥ ११ ॥

सीता का ऐसा अपमान होते देख कर, सम्पूर्ण चराचर जगत् मर्यादा रहित हो कर, निविड़ अन्धकार से व्याप्त हो गया। अर्थात् सब चराचर जीव किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये ॥ ११ ॥

न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः।
दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दीनां दिव्येन चक्षुषा॥ १२॥

हवा का चलना बंद हो गया। सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया। उस समय दुःखिनी सीता के केशाकर्षण को दिव्य दृष्टि से देख, ॥ १२॥

कृतं कार्यमिति श्रीमान्व्याजहार पितामहः।
प्रहृष्टा व्यथिताश्चासन्सर्वे ते परमर्षयः॥ १३॥

ब्रह्मा जी ने कहा कि, कार्य सिद्ध हो गया। समस्त बड़े बड़े ऋषि लोग हर्षित और दुःखित भी हुए॥ १३॥

दृष्ट्वा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः।
रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्वा यदृच्छया॥ १४॥

दण्डकारण्यवासी लोगों ने सीता का केशाकर्षण देख, जान लिया कि, रावण के नाश में अब बहुत विलंब नहीं है॥ १४॥

स तु तां राम रामेति रुदन्तीं लक्ष्मणेति च।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः॥ १५॥

हा राम! हा लक्ष्मण! कह कर, रोती हुई जानकी को पकड़ कर, राक्षसनाथ रावण आकाश में चला गया॥ १५॥

तप्ताभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी।
रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामिनी यथा॥ १६॥

उस समय विशुद्ध सुवर्ण के भूषणों को पहिने हुए और चंपई रंग की साड़ी धारण किये हुए राजपुत्री जानकी ऐसी जान पड़ी, मानों बादल में बिजली॥ १६॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः ।
अधिकं प्रतिबभ्राज गिरिर्दीप्त इवाग्निना ॥ १७ ॥

उस समय सीता जी की चंपई रंग की साड़ी के उड़ने से रावण भी, अग्नि से प्रदीप्त पर्वत की तरह शोभित जान पड़ता था ॥ १७ ॥

तस्याः परमकल्याण्यास्ताम्राणि सुरभीणि च ।
पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम् ॥ १८ ॥

परम कल्याण रूपिणी सीता जी के शरीर पर जो सुगन्धि युक्त लाल वर्ण के कमलदल थे, वे रावण के शरीर पर गिरते जाते थे ॥ १८ ॥

तस्याः कौशेयमुद्धूतमाकाशे कनकप्रभम् ।
बभौ चादित्यरागेण ताम्रमभ्रमिवातपे ॥ १९ ॥

सुवर्ण के रंग जैसी सीता जी की साड़ी, जो आकाश में उड़ रही थी, ऐसी शोभायमान् जान पड़ती थी, जैसे सूर्य की प्रभा से लाल मेघ शोभायमान् होते हैं ॥ १९ ॥

तस्यास्तत्सुनसं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ।
न रराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम् ॥ २० ॥

सीता का निर्मल मुखमण्डल, रावण की गोदी में, श्रीरामचन्द्र जी के विना, नाल (डंडी) रहित कमल की तरह किसी प्रकार भी शोभायमान नहीं देख पड़ता था ॥ २० ॥

बभूव जलदं नीलं भित्त्वा चन्द्र इवोदितः ।
सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाभमव्रणम् ॥ २१ ॥

शुक्लैः सुविमलैर्दन्तैः प्रभावद्भिरलङ्कृतम् ।
तस्यास्तद्विमलं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्कगम् ॥ २२ ॥

अच्छे ललाट वाला, सुन्दर केशों से युक्त, पद्मगर्भसम प्रकाशित, क्षतिरहित, सुन्दर, सफेद, स्वच्छ और प्रभायुक्त दांतों से सुशोभित और मनोहर नेत्रों से युक्त सीता का मुखमण्डल, रावण की गोद में ऐसा जान पड़ता था, जैसे नीले मेघों से निकल कर चन्द्रमा उदय हुआ हो ॥ २१ ॥ २२ ॥

रुदितं व्यपमृष्टास्रं चन्द्रवत्प्रियदर्शनम् ।
सुनासं चारु ताम्रोष्ठमाकाशे हाटकप्रभम् ॥ २३ ॥
*राक्षसेन्द्रसमाधूतं तस्यास्तद्वदनं शुभम् ।
शुशुभे न विना रामं दिवा चन्द्र इवोदितः ॥ २४ ॥

अनवरत रोदनयुक्त आंसुओं से मलिन हुआ, चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, सुन्दर नासिका सहित, मनोहर व लाल ओंठों से युक्त, सुवर्ण जैसी कान्तिवाला और रावण की तेज चाल के कारण कम्पित सीता का मुख, श्रीरामचन्द्र के विना वैसे ही सुशोभित नहीं होता था, जैसे दिन में उदय हुआ चन्द्रमा ॥ २३ ॥ २४ ॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्गं मैथिली राक्षसाधिपम् ।
शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥ २५ ॥

सुवर्ण के रंग के शरीर की सीता नीले रंग के शरीर वाले रावण के साथ ऐसी शोभायमान होती थी जैसे सोने की ज़ंजीर नीले रंग के हाथी के शरीर पर शोभायमान होती है ॥ २५ ॥

---

*पाठान्तरे—" राक्षसेन ।"

सा पद्मगौरी हेमाभा रावणं जनकात्मजा ।
विद्युद्घनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥ २६ ॥

वह कमल फूल के केसर के और सोने के समान पीली और सुवर्ण के भूषणों से भूषित सीता रावण की गोद में ऐसी शोभा देती थी, मानों बादल में बिजली दमक रही हो ॥ २६ ॥

तस्या भूषणघोषेण वैदेह्या राक्षसाधिपः ।
बभौ सचपलो नीलः सघोष इव तोयदः ॥ २७ ॥

उस समय सीता जी के गहनों के बजने के शब्द से रावण गरजते हुए मेघ की तरह जान पड़ता था ॥ २७ ॥

उत्तमाङ्गच्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।
सीताया ह्रीयमाणायाः पपात धरणीतले ॥ २८ ॥

जिस समय रावण सीता को हर कर ले चला; उस समय सीता जी के सिर से फूलों की झड़ी सी पृथिवी पर चारों ओर हो रही थी ॥ २८ ॥

सा तु रावणवेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।
समाधूता दशग्रीवं पुनरेवाभ्यवर्तत ॥ २९ ॥
अभ्यवर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम् ।
नक्षत्रमाला विमला मेरुं नगमिवोन्नतम् ॥ ३० ॥

वायु के झोकों और रावण के आकाश-गमन के वेग से वे पुष्प उसके चारों ओर उड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों नक्षत्रों की माला बड़े ऊँचे मेरुपर्वत के चारों ओर घूम रही हो ॥ २९ ॥ ३० ॥

चरणान्नूपुरं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम् ।
विद्युन्मण्डलसङ्काशं पपात मधुरस्वनम् ॥ ३१ ॥

उसी समय जानकी जी के चरण से मधुर झनकार करता हुआ रत्नजड़ाऊ नूपुर खसक कर, चक्कर खाती हुई बिजली की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ३१ ॥

तां महोल्का[1]मिवाकाशे दीप्यमानां स्वतेजसा ।
जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः ॥ ३२ ॥

कुवेर का छोटा भाई रावण तेजस्विनी सीता को, आकाशमार्ग में उत्पातसूचक तारा (महोल्का) की तरह लिये हुए चला जाता था ॥ ३२ ॥

तस्यास्तान्यग्निवर्णानि भूषणानि महीतले ।
सघोषाण्यवकीर्यन्त क्षीणास्तारा इवाम्बरात् ॥ ३३ ॥

सीता जी के वे अग्नि को तरह चमकते हुए गहने, खुल खुल कर ज़मीन पर झनकार के साथ ऐसे गिरते थे, जैसे आकाश से टूटे हुए तारे ॥ ३३ ॥

तस्याः स्तनान्तराद्भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः ।
वैदेह्या निपतन्भाति गङ्गेव गगनाच्च्युता ॥ ३४ ॥

सीता जी के वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ हार, जो चन्द्रमा की तरह चमचमाता था, ज़मीन पर गिरते समय ऐसा जान पड़ा, मानो आकाश से गङ्गा गिर रही हो ॥ ३४ ॥

---

१ महोल्का—उत्पातसूचकतारा । (गो०)

उत्पन्न[1]वाताभिहता नानाद्विजगणायुताः ।
मा भैरिति विधूताग्रा[2] व्याजह्रुरिव पादपाः ॥ ३५ ॥

रावण के गमन के वेग से उत्पन्न वायु से कम्पित हो, पक्षिगण मानों अपना सिर हिला कर, सीता को धीरज बंधाते हुए कह रहे थे कि, डरो मत ॥ ३५ ॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलास्त्रस्तमीनजलेचराः ।
सखीमिव [3]गतोच्छ्वासामन्वशोचन्त मैथिलीम् ॥ ३६ ॥

तालावों में जो कमल के फूल थे (रावण के गमन के वेग-से) वे ध्वस्त हो गये थे और मछली आदि जलचर जीव जन्तु, भयभीत हो गये थे। मानों वे भी सीता के वियोग से वैसे विकल हो रहे थे, जैसे कोई स्त्री अपनी सहेली के लिये शोक करती हो ॥ ३६ ॥

समन्तादभिसम्पत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः ।
अन्वधावंस्तदा रोषात्सीतां छायानुगामिनः ॥ ३७ ॥

सिंह, व्याघ्र, मृग और पत्ती क्रोध में भर सीता जी की परछाईं पकड़ने के लिये चारों ओर से आ कर, उनके पीछे पीछे दौड़ते चले जाते थे ॥ ३७ ॥

जलप्रपातास्रमुखाः शृङ्गैरुच्छ्रितबाहवः ।
सीतायां ह्रियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥ ३८ ॥

जानकी जी के हरे जाने से, पर्वतश्रेणी अपने शिखर रूपी बाहों को उठा और झरनों के जल से मानों अश्रु बहा रही थी ॥ ३८ ॥

---

१ उत्पन्नेति—रावणवेगोत्पन्नेत्यर्थः। (गो०) २ विधूताग्राः—आश्वसनाय चालितशिरसः सन्तः। (गो०) ३ गतोच्छ्वासां—गतप्राणां। (गो०)

ह्रियमाणां तु वैदेहीं दृष्ट्वा दीनो दिवाकरः।
प्रतिध्वस्तप्रभः श्रीमानासीत्पाण्डरमण्डलः ॥ ३९ ॥

सीता जी का हरा जाना देख, सूर्यदेव दुःखी होने के कारण तेजहीन हो गये और उनका मण्डल धुंधला पड़ गया ॥ ३९ ॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानृशंसता।
यत्र रामस्य वैदेहीं भार्यां हरति रावणः ॥ ४० ॥
इति सर्वाणि भूतानि गणशः[1] पर्यदेवयन्।
वित्रस्तका दीनमुखा रुरुदुर्मृगपोतकाः[2] ॥ ४१ ॥

उस वन के यावत् प्राणी एकत्र हो विलाप करते हुए कहते थे कि, जब रावण, श्रीरामभार्या सीता को हर कर लिये जाता है, तब फिर धर्म, सत्य, दया, सरलता और सुशीलता की तो इतिश्री ही हो गयी। एक ओर मृगछौने त्रस्त हो दुःखी हो रो रहे थे ॥४०॥४१॥

उद्वीक्ष्योद्वीक्ष्य नयनैरास्रपाताविलेक्षणाः।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः ॥ ४२ ॥

बारंबार नेत्र खोल खोल कर यह देखने से, वनदेवताओं के शरीर मारे भय के थर थर कांप रहे थे ॥ ४२ ॥

विक्रोशन्तीं दृढं सीतां दृष्ट्वा दुःखं तथा गताम् ॥ ४३ ॥
तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्तीं मधुरस्वरम्।
अवेक्षमाणां बहुशो वैदेहीं धरणीतलम् ॥ ४४ ॥

---

१ गणशः—सङ्घशः। (गो०) २ मृगपोतकाः—मृगशावाः। (गो०)

स तामाकुलकेशान्तां विप्रमृष्टविशेषकाम् ।
जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो मनस्विनीम् ॥ ४५ ॥

मधुर स्वर से हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर चिल्लाती, रोती, दुःखी होती हुई और बार बार पृथिवी की ओर निहारती, खुले हुए बाल और माथे के मिटे हुए तिलक वाली और दृढ़ पतिव्रत धारण करने वाली सीता को रावण अपने विनाश के लिये हर कर लिये जाता था ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

ततस्तु सा चारुदती शुचिस्मिता
विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली ।
अपश्यती राघवलक्ष्मणावुभौ
विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता ॥ ४६ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

मनोहर दांतों वाली, मन्द मन्द हास करने वाली सीता, बन्धुजनों से हीन और दोनों अर्थात् राम लक्ष्मण को न देखने से, बहुत उदास और भयभीत हो गयी ॥ ४६ ॥

अरण्यकाण्ड का बावनवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:*:—

खमुत्पतन्तं तं दृष्ट्वा मैथिली जनकात्मजा ।
दुःखिता परमोद्विग्ना भये महति वर्तिनी ॥ १ ॥

रावण को आकाशमार्ग से जाते देख, जनकात्मजा मैथिली बहुत डरी और दुःखित हो घबड़ा गयी ॥ १ ॥

रोषरोदनताम्राक्षी भीमाक्षं राक्षसाधिपम् ।
रुदन्ती करुणं सीता ह्रियमाणेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

हरे जाने पर, क्रोध के मारे और रोते रोते सीता के नेत्र लाल हो गये, वह आर्तस्वर से रोती हुई भयङ्कर नेत्रों वाले राक्षसेश्वर रावण से यह बोली ॥ २ ॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणाऽनेन रावण ।
ज्ञात्वा विरहितां यन्मां चोरयित्वा पलायसे ॥ ३ ॥

अरे नीच रावण ! क्या तुझको यह काम करते हुए लज्जा नहीं मालूम पड़ती कि, जो तू मुझे अकेली पा और चुरा कर भागा जा रहा है ॥ ३ ॥

त्वयैव नूनं दुष्टात्मन्भीरुणा हर्तुमिच्छता ।
ममापवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया ॥ ४ ॥

मैं जान गयी तू बड़ा दुष्ट और डरपोंक है । अतः निश्चय ही तू मुझे हरने के लिये मायामृग के रूप से, मेरे पति को आश्रम से दूर ले गया ॥ ४ ॥

यो हि मामुद्यतस्त्रातुं सोऽप्ययं विनिपातितः ।
गृध्रराजः पुराणोऽसौ श्वशुरस्य सखा मम ॥ ५ ॥

फिर इस बूढ़े गृध्रराज को भी, जो मेरे ससुर का मित्र था और मेरी रक्षा करने को तैयार हुआ था, मार डाला ॥ ५ ॥

परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम ।
विश्राव्य नामधेयं हि युद्धेनास्मि जिता त्वया ॥ ६ ॥

हे राक्षसाधम ! इससे तू बड़ा पराक्रमी जान पड़ता है। (यह व्यङ्ग्योक्ति है) तूने केवल अपना नाम सुना कर, मुझे हरा है—तू मुझे युद्ध में जीत कर नहीं लाया ॥ ६ ॥

ईदृशं गर्हितं कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे ।
स्त्रियाश्च हरणं नीच रहिते तु परस्य च ॥ ७ ॥

अरे नीच ! तूने मैं पराई स्त्री के हरण करने का, यह निन्दनीय कर्म कर, तुझे लज्जा नहीं आती ? ॥ ७ ॥

कथयिष्यन्ति लोकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम् ।
सुनृशंसमधर्मिष्ठं तव शौण्डीर्यमानिनः ॥ ८ ॥

तू अपने को शूर बतला कर, जो ऐसा क्रूर और पापकर्म कर रहा है, सो लोग तेरे इस कर्म की निन्दा करेंगे ॥ ८ ॥

धिक् ते शौर्यं च सत्त्वं च यत्त्वं कथितवांस्तदा ।
कुलाक्रोशकरं लोके धिक् ते चारित्रमीदृशम् ॥ ९ ॥

हरन करने के समय तूने जिस शूर वीरता और बल को बखान किया था, उस तेरी शूरवीरता और बल को धिक्कार है। इस लोक में कुल को कलङ्क लगाने वाले तेरे इस चरित्र पर भी लानत है ॥ ९ ॥

किं कृतं शक्यमेवं हि यज्जवेनैव धावसि ।
मुहूर्तमपि तिष्ठस्व न जीवन्प्रतियास्यसि ॥ १० ॥

ऐसी दशा में जब तू बड़े वेग से भागा जा रहा है कोई क्या कर सकता है। हां, यदि तू एक मुहूर्त भर ठहर जाय, तो तू जीता हुआ तो न जा सकेगा ॥ १० ॥

न हि चक्षुष्पथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः ।
ससैन्योऽपि समर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ ११ ॥

उन राजपुत्रों की दृष्टि में पड़ते ही तू अपनी सेना सहित भी एक मुहूर्त्त भर भी जीता जागता नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

न त्वं तयोः शरस्पर्शं सोढुं शक्तः कथञ्चन ।
वने प्रज्वलितस्येव स्पर्शमग्नेर्विहङ्गमः ॥ १२ ॥

पक्षी जिस प्रकार वन के दावानल को नहीं छू सकता, उसी प्रकार तू उन राजकुमारों के बाणों का स्पर्श किसी तरह सहन नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

साधु कृत्वाऽऽत्मनः पथ्यं साधु मां मुञ्च रावण ।
मत्प्रधर्षणरुष्टो हि भ्रात्रा सह पतिर्मम ॥ १३ ॥
विधास्यति विनाशाय त्वं मां यदि न मुञ्चसि ।
येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥

अतएव हे रावण ! भली प्रकार अपना हित विचार कर सीधी तरह मुझको छोड़ दे। यदि न छोड़ेगा, तो मेरी धर्षणा से क्रुद्ध हो, मेरे पति अपने भाई लक्ष्मण सहित तेरे विनाश के लिये उद्योग करेंगे। हे नीच ! जिस उद्देश से तू बरजोरी मुझे हरे लिये जाता है ॥ १३ ॥ १४ ॥

व्यवसायः स ते नीच भविष्यति निरर्थकः ।
न ह्यहं तमपश्यन्ती भर्तारं विबुधोपमम् ॥ १५ ॥

वह तेरा उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकेगा। क्योंकि मैं उस देवता तुल्य अपने पति को न देख ॥ १५ ॥

उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान्धारयितुं चिरम् ।
न नूनं चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥ १६ ॥

और शत्रु के वश में पड़, बहुत दिनों जीती न रह सकूँगी। मैं समझती हूँ कि, तू अपने हित और कल्याण की ओर दृष्टि नहीं देता ॥ १६ ॥

मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते ।
मुमूर्षूणां हि सर्वेषां यत्पथ्यं तन्न रोचते ॥ १७ ॥

जो पुरुष शीघ्र मरने वाला होता है वह अपथ्य सेवन करने लगता है। क्योंकि ऐसे पुरुष को पथ्य वस्तु भली ही नहीं लगती ॥ १७ ॥

पश्याम्यद्य हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम् ।
यथा चास्मिन्भयस्थाने न बिभेषि दशानन ॥ १८ ॥

हे दशानन! मैं देख रही हूँ कि, तेरे गले में काल की फाँसी पड़ चुकी है, क्योंकि इस भय के स्थान में भी तुझे भय नहीं लगता ॥१८॥

व्यक्तं हिरण्मयान्हि त्वं सम्पश्यसि महीरुहान् ।
नदीं वैतरणीं घोरां रुधिरौघनिवाहिनीम् ॥ १९ ॥

इससे स्पष्ट है कि, तू सोने के वृक्ष देखता (स्वप्न में) होगा। तू भयङ्कर और रुधिर के प्रवाह को बहाने वाली वैतरणी नदी को ॥ १९ ॥

असिपत्रवनं चैव भीमं पश्यसि रावण ।
तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैडूर्यप्रवरच्छदाम् ॥ २० ॥

द्रक्ष्यसे शाल्मलीं तीक्ष्णामायसैः कण्टकैश्चिताम् ।
न हि त्वमीदृशं कृत्वा तस्यालीकं[1] महात्मनः ॥ २१ ॥

और भयङ्कर असिपत्र वन नामक नरक को देखना चाहता है। तू तपाये हुए सुवर्ण के फलों से पूर्ण और पन्नों के पत्रों वाले और नुकीले लोहे के काटों से युक्त शाल्मली के वृक्ष को देखेगा। महात्मा श्रीराम का ऐसा अप्रिय कार्य कर ॥ २० ॥ २१ ॥

[नोट—जो परदाराभिगमन करते हैं उन्हें मरने पर यमलोक में कटीले शाल्मली वृक्ष को आलिङ्गन करना पड़ता है।]

*चरितुं शक्ष्यसि चिरं विषं पीत्वेव निर्घृणः ।
बद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निवारेण रावण ॥ २२ ॥

तू बहुत दिनों जीवित नहीं रह सकता। जैसे कोई विष पी कर बहुत दिनों तक नहीं जी सकता। हे निर्घृण रावण ! अब तू दृढ काल-पाश से बंध गया है ॥ २२ ॥

क्व गतो लप्स्यसे शर्म भर्तुर्मम महात्मनः ।
निमेषान्तरमात्रेण विना भ्रात्रा महावने ॥ २३ ॥

मेरे महात्मा भर्त्ता के सामने से भाग कर, तू कहां सुख पा सकता है ! उन्होंने पलक मारते दण्डकवन में अकेले ही अपने भाई लक्ष्मण की सहायता के बिना ॥ २३ ॥

राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश ।
स कथं राघवो वीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ।
न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टभार्यापहारिणम् ॥ २४ ॥

---

1 अलीकं—अप्रियं। (गो०)

* पाठान्तरे—"चरितु", "चरितं" वा।

चौदह हज़ार राक्षसों को मार डाला था। वे सब अस्त्रों के चलाने में निपुण एवं बलवान तथा वीर श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी भार्या के चोर तुझको अपने पैने बाणों से क्यों न मारेंगे॥ २४॥

एतच्चान्यच्च परुषं वैदेही रावणाङ्कगा।
भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह॥ २५॥

रावण की गोद में पड़ी हुई सीता, भय और शोक से पीड़ित हो, इस प्रकार के और भी अनेक कठोर वचन कह, करुण स्वर से विलाप करने लगी॥ २५॥

तथा भृशार्तां बहु चैव भाषिणीं
विलापपूर्वं करुणं च भामिनीम्।
जहार पापः करुणं विवेष्टतीं
नृपात्मजामागतगात्रवेपथुम्॥ २६॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः॥

जानकी जी बहुत घबड़ा कर, करुणा सहित विलाप कर अनेक कठोर वचन कहने लगीं। उस समय वह पापी रावण भय से काँपता हुआ, छटपटाती सीता को लिये चला जाता था॥ २६॥

अरण्यकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—*—

ह्रियमाणा तु वैदेही कञ्चिन्नाथमपश्यती।
ददर्श गिरिशृङ्गस्थान्पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥ १ ॥

इस प्रकार जाती हुई सीता ने, जब कोई अपना बचाने वाला न देखा, तब उनकी निगाह एक पर्वतशिखर पर बैठे हुए, पांच बंदरों पर पड़ी ॥ १ ॥

तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम्।
उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥ २ ॥

उन विशालाक्षी वरारोहा जानकी जी ने सुवर्ण की तरह चमकीले चंपई रंग के वस्त्र में बांध अपने कुछ उत्तम गहनों को उन बंदरों के बीच में ॥ २ ॥

मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति मैथिली।
वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥ ३ ॥

यह समझ कर, गिरा दिया कि, वे वानर सम्भवतः सीता के हरण का संदेसा श्रीराम से कह दें। सीता जी के छोड़े हुए वे वस्त्र सहित आभूषण बंदरों के बीच में जा गिरे ॥ ३ ॥

सम्भ्रमात्तु दशग्रीवस्तत्कर्म न स बुद्धवान्।
पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥ ४ ॥

विक्रोशन्तीं तथा सीतां ददृशुर्वानरर्षभाः ।
स च पम्पामतिक्रम्य लङ्कामभिमुखः पुरीम् ॥ ५ ॥

सीता जी का यह कर्म, हड़बड़ी में रावण ने नहीं जान पाया। पीली आँखों वाले वे श्रेष्ठ वानर उच्च स्वर से चिल्लाती हुई सीता को बिना पलक झपकाये अर्थात् टकटकी बाँधे देखते रहे। पम्पा को नांघ लंकापुरी की ओर ॥ ४ ॥ ५ ॥

जगाम रुदतीं गृह्य वैदेहीं राक्षसेश्वरः ।
तां जहार सुसंहृष्टो रावणो मृत्युमात्मनः ॥ ६ ॥

राक्षसेश्वर रावण रोती हुई सीता को लिये हुए चला गया। उस समय रावण सीता रूपी अपनी मौत को लिये वैसे ही अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ चला जाता था ॥ ६ ॥

उत्सङ्गेनेव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम् ।
वनानि सरितः शैलान्सरांसि च विहायसा ॥ ७ ॥

जैसे कोई पैने दांतों वाली और महाविषैली साँपिन को अपनी गोद में ले प्रसन्न होता हो। अनेक वनों, नदियों, पहाड़ों और झीलों को पीछे छोड़ता हुआ, रावण आगे बढ़ता चला जाता था ॥ ७ ॥

स क्षिप्रं समतीयाय शरश्चापादिव च्युतः ।
तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥ ८ ॥

वह ऐसी जल्दी चला जा रहा था, जैसे धनुष से छूटा बाण जाता है। तिमि (एक प्रकार की बड़ी भयङ्कर मछली) और घड़ियालों के निवासस्थान और वरुण के आवासस्थान सागर को भी रावण ने पार किया ॥ ८ ॥

सरितां शरणं गत्वा समतीयाय सागरम् ।
सम्भ्रमात्परिवृत्तोर्मी रुद्धमीनमहोरगः ॥ ९ ॥

उस समय सीता को हरी जाती देख, नदीनाथ समुद्र तरङ्गहीन हो गया और उसमें रहने वाले मत्स्य और सर्प घबड़ा उठे ॥ ९ ॥

वैदेह्यां ह्रियमाणायां बभूव वरुणालयः ।
अन्तरिक्षगता वाचः [1]ससृजुश्चारणास्तदा ॥ १० ॥

सीता जी के हरने पर समुद्र की तो यह दशा हुई । उधर आकाशस्थित चारणगण यह बात बोले, ॥ १० ॥

एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तदाब्रुवन् ।
स तु सीतां विवेष्टन्तीमङ्केनादाय रावणः ॥ ११ ॥

बस अब रावण किसी प्रकार नहीं बच सकता । उस समय यही बात सिद्धों ने भी कही । रावण छटपटाती हुई सीता को गोदी में लिये ॥ ११ ॥

प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः ।
सोऽभिगम्य पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥ १२ ॥

अपनी लङ्का पुरी में ले गया । वह सीता को नहीं ले गया बल्कि वह अपनी मृत्यु को ले गया । लङ्कापुरी बड़े बड़े चौराहों और चौड़ी सड़कों से सुशोभित थी ॥ १२ ॥

संरूढकक्ष्याबहुलं स्वमन्तःपुरमाविशत् ।
तत्र तामसितापाङ्गां शोकमोहपरायणाम् ॥ १३ ॥

---

१ ससृजुः—ऊचुः । (गो०)

उसकी शालाएँ राक्षसजनों से भरी हुई थीं। रावण ने अपने अन्तःपुर में ले जाकर सीता को, जो शोक मोह से युक्त और परम सुन्दरी थी, बैठा दिया॥ १३॥

निदधे रावणः सीता मयो मायामिव स्त्रियम्।
अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीर्घोरदर्शनाः॥ १४॥

उस समय ऐसा बोध हुआ मानो मयदानव अपनी पुरी में आसुरी माया ले आया है। रावण ने सीता जी को अपने रनवास में ठहरा भयङ्कर सूरतवाली पिशाचिनों से कहा॥ १४॥

यथा नेमां पुमान्स्त्री वा सीतां पश्यत्यसम्मतः।
मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च॥ १५॥
यद्यदिच्छेत्तदेवास्या देयं मच्छन्दतो यथा।
या च वक्ष्यति वैदेहीं वचनं किञ्चिदप्रियम्॥ १६॥
अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानान्न तस्या जीवितं प्रियम्।
तथोक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान्॥१७॥

मेरी आज्ञा हुए बिना सीता को न कोई पुरुष और न कोई स्त्री ही देखने पावे। मोती, मणि, सुवर्ण, वस्त्र, गहने आदि वस्तुओं में से सीता जो माँगे सो तुम मुझसे पूँछे बिना उसे देना। जान कर अथवा अनजाने जो कोई सीता से कठोर वचन कहेगा, वह जान से मार डाला जायगा। प्रतापी रावण इस प्रकार उन राक्षसियों को आज्ञा दे॥ १५॥ १६॥ १७॥

निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्किं कृत्यमिति चिन्तयन्।
ददर्शाष्टौ महावीर्यान्राक्षसान्पिशिताशनान्॥ १८॥

अन्तःपुर से निकल सोचने लगा कि, अब क्या करना चाहिये। इस प्रकार सोचते विचारते उसने देखा कि, आठ मांसभक्षी और बड़े बलवान राक्षस बैठे हैं ॥ १८ ॥

स तान्दृष्ट्वा महावीर्यो वरदानेन मोहितः।
उवाचैतानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः ॥ १९ ॥

उन राक्षसों को देख और ब्रह्मा जी के वरदान से मोहित रावण, उनके बल और पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ, उनसे यह बोला ॥ १९ ॥

नानाप्रहरणाः क्षिप्रमितो गच्छत सत्वराः।
जनस्थानं हतस्थानं भूतपूर्वं खरालयम् ॥ २० ॥

हे राक्षस लोगों! अब तुम लोग तरह तरह के अस्त्र लेकर शीघ्र यहाँ से जनस्थान को, जहाँ पहिले खर रहा करता और जो इस समय नष्ट हो गया है, जाओ ॥ २० ॥

तत्रोष्यतां जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे।
पौरुषं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः ॥ २१ ॥

और वहाँ जा कर रहो। क्योंकि वहाँ के राक्षसों के मारे जाने से वह स्थान शून्य हुआ पड़ा है। तुम लोग अपने पुरुषार्थ और बल के भरोसे वहाँ जा कर रहना और किसी बात से डरना मत ॥ २१ ॥

बलं हि सुमहद्यन्मे जनस्थाने निवेशितम्।
सदूषणखरं युद्धे हतं रामेण सायकैः ॥ २२ ॥

मैंने तो जनस्थान में एक बड़ी सेना रखी थी, किन्तु श्रीरामचन्द्र ने अपने बाणों से खरदूषण सहित उसको मार डाला ॥ २२ ॥

तत्र क्रोधो ममामर्षाद्धैर्यस्योपरि वर्तते ।
वैरं च सुमहज्जातं रामं प्रति सुदारुणम् ॥ २३ ॥

अतः इससे मुझे बड़ा क्रोध हुआ है और इस क्रोध ने मेरे धैर्य को भी दबा लिया है। श्रीराम के साथ मेरा बड़ा भारी वैर हो गया है ॥ २३ ॥

निर्यातयितुमिच्छामि तच्च वैरमहं रिपोः ।
न हि लप्स्याम्यहं निद्रामहत्वा संयुगे रिपुम् ॥ २४ ॥

इस वैर का बदला मैं शत्रु से लेना चाहता हूँ और जब तक मैं युद्ध में अपने शत्रु को न मार डालूँगा, तब तक मुझे नींद नहीं आवेगी ॥ २४ ॥

तं त्विदानीमहं हत्वा खरदूषणघातिनम् ।
रामं शर्मोपलप्स्यामि धनं लब्ध्वेव निर्धनः ॥ २५ ॥

किन्तु जब मैं खरहन्ता श्रीराम का वध कर डालूँगा, तब मुझे वैसे ही प्रसन्नता होगी, जैसी प्रसन्नता किसी निर्धनी को धन पाने पर होती है ॥ २५ ॥

जनस्थाने वसद्भिस्तु भवद्भी राममाश्रिता ।
प्रवृत्तिरुपनेतव्या किं करोतीति तत्त्वतः ॥ २६ ॥

तुम लोग जनस्थान में रह कर, श्रीराम किस समय क्या करते हैं, सो सदा ही ठीक ठीक खोज खबर लेते रहो ॥ २६ ॥

अप्रमादाच्च गन्तव्यं सर्वैरपि निशाचरैः ।
कर्तव्यश्च सदा यत्नो राघवस्य वधं प्रति ॥ २७ ॥

तुम सब लोग वहाँ बड़ी सावधानी से जाना और श्रीरामचन्द्र को मार डालने के लिये सदा प्रयत्नवान् बने रहना ॥ २७ ॥

युष्माकं च बलज्ञोऽहं बहुशो रणमूर्धनि ।
अतश्चास्मिञ्जनस्थाने मया यूयं नियोजिताः ॥ २८ ॥

रणक्षेत्र में मैं तुम लोगों के पराक्रम की अनेक बार परीक्षा कर चुका हूँ। इसीसे मैं तुम लोगों को जनस्थान में रहने के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ २८ ॥

ततः प्रियं वाक्यमुपेत्य राक्षसा
महार्थमष्टावभिवाद्य रावणम् ।
विहाय लङ्कां सहिताः प्रतस्थिरे
यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः ॥ २९ ॥

रावण के इस प्रकार के मधुर और सारगर्भित वचन सुन, वे आठों राक्षस, रावण को प्रणाम कर, और लङ्का छोड़, गुप्त रूप से जनस्थान को चल दिये ॥ २९ ॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः
सुसंप्रहृष्टः परिगृह्य मैथिलीम् ।
प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं
बभूव मोहान्मुदितः स राक्षसः ॥ ३० ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

इधर सीता को पा कर, रावण प्रसन्न हो, लङ्का में रहने लगा और श्रीराम के साथ वैर बांध कर भी वह भ्रान्तिवश प्रसन्न हुआ ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का चौवनवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:※:—

संदिश्य राक्षसान्घोरान्रावणोऽष्टौ महाबलान्।
आत्मानं [1]बुद्धिवैक्लव्यात्कृतकृत्यममन्यत ॥ १ ॥

रावण ने महाबलवान आठ राक्षसों को जनस्थान में रहने के लिये भेज, अपने बुद्धिदौर्बल्य से, अपने को कृतकृत्य माना ॥ १ ॥

स चिन्तयानो वैदेहीं कामबाणसमर्पितः[2]।
प्रविवेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन् ॥ २ ॥

और वह कामबाण से पीड़ित हो, सीता का स्मरण करता हुआ, सीता को देखने के लिये अपने रमणीक घर में गया ॥ २ ॥

स प्रविश्य तु तद्वेश्म[3] रावणो राक्षसाधिपः।
अपश्यद्राक्षसीमध्ये सीतां शोकपरायणाम् ॥ ३ ॥

---

१ बुद्धिवैक्लव्यात्—बुद्धिदौर्बल्यात्। (गो०) २ समर्पितः—पीड़ित। (गो०) ३ वेश्म—अन्तःपुरं। (गो०)

राक्षसेश्वर रावण ने उस घर में प्रवेश कर, दुःख से पीड़ित सीता को राक्षसियों के बीच में बैठे हुए देखा ॥ ३ ॥

अश्रुपूर्णमुखीं दीनां शोकभाराभिपीडिताम् ।
वायुवेगैरिवाक्रान्तां मज्जन्तीं नावमर्णवे ॥ ४ ॥

उस समय सीता जी शोक के भार से पीड़ित अत्यन्त उदास और नेत्रों से आँसू बहाती हुई बैठी थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानों नाव, हवा के झोंके से उलट कर, जल में डूब रही हो ॥ ४ ॥

मृगयूथपरिभ्रष्टां मृगीं श्वभिरिवावृताम् ।
अधोमुखमुखीं सीतामभ्येत्य च निशाचरः ॥ ५ ॥

अथवा झुंड से छूटी हुई और कुत्तों से घिरी हुई हिरनी हो। उस समय नीचे सिर किये बैठी हुई सीता को रावण ने देखा ॥ ५ ॥

तां तु शोकपरां दीनामवशां राक्षसाधिपः ।
स बलाद्दर्शयामास गृहं देवगृहोपमम् ॥ ६ ॥

शोक से पीड़ित और उदास सीता जी की इच्छा न रहते भी, रावण ने बरज़ोरी उनको अपना देवगृह तुल्य दिव्यभवन दिखलाया ॥ ६ ॥

हर्म्यप्रासादसंबाधं स्त्रीसहस्रनिषेवितम् ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानारत्नसमन्वितम् ॥ ७ ॥

उस घर में अनेक अटा अटारियाँ और बारजे थे। उसमें हज़ारों स्त्रियाँ रहती थीं और तरह तरह के पक्षी कलोलें कर रहे थे तथा यथास्थान अनेक प्रकार के रत्न जड़े हुए थे ॥ ७ ॥

*दान्तैश्च तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि ।
वज्रवैडूर्यचित्रैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः ॥ ८ ॥

उस भवन के खंभे हाथीदांत, सुवर्ण, स्फटिक, चांदी और वैडूर्य की नक्काशी के काम से भूषित और देखने में बड़े मनोहर जान पड़ते थे ॥ ८ ॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्हादं तप्तकाञ्चनतोरणम् ।
सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह ॥ ९ ॥

(उस समय) सुरीली नौबत बज रही थी और दरवाज़े पर सोने बंदनवारें लटक रही थीं रावण सीता को लिये हुए सुवर्ण-निर्मित विचित्र सीढ़ियों पर चढ़ा ॥ ९ ॥

दान्तिका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः ।
हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपङ्क्तयः ॥ १० ॥

उस भवन की अटारियों के सुन्दर झरोखे हाथीदांत और चांदी के बने थे। वहां पर बहुत सी ऐसी अटारियां बनी हुई थीं, जिनमें सोने के जंगले लगे हुए थे ॥ १० ॥

सुधामणिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः ।
दशग्रीवः स्वभवने प्रादर्शयत मैथिलीम् ॥ ११ ॥

उन अटारियों के सब फर्श चूना के पक्के बने थे और रंग बिरंगे पत्थर जगह जगह जड़े हुए थे। इस प्रकार के अपने भवन को रावण ने जानकी जी को दिखलाया ॥ ११ ॥

[1]दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानावृक्षसमन्विताः ।
रावणो दर्शयामास सीतां शोकपरायणाम् ॥ १२ ॥

---

१ दीर्घिकाः—वाप्यः । (गो०)

* पाठान्तरे—"काञ्चनैः", "दान्तकैः" वा ।

शोकपरायणा सीता को रावण ने उस भवन में जगह जगह बनी हुई बावड़ी व पुष्करिणी, जिनके चारों ओर वृक्ष शोभायमान थे, दिखलायीं ॥ १२ ॥

दर्शयित्वा तु वैदेह्याः कृत्स्नं तद्भवनोत्तमम् ।
उवाच वाक्यं पापात्मा सीतां लोभितुमिच्छया ॥ १३ ॥

अपने उस समस्त उत्तम भवन को रावण ने सीता को दिखलाया और सीता को लोभ में फसाने के लिये वह पापी रावण बोला ॥ १३ ॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः ।
तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम् ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैं दस करोड़ और बाइस करोड़ अर्थात् बत्तीस करोड़ बड़े भयङ्कर काम करने वाले राक्षसों का स्वामी हूँ ॥ १४ ॥

[1]वर्जयित्वा जरावृद्धान्बालांश्च रजनीचरान् ।
सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरःसरम् ॥ १५ ॥

बूढ़े और बालक राक्षसों को छोड़ कर, मेरे निज के एक हज़ार टहलुए हैं ॥ १५ ॥

यदिदं राजतन्त्रं[2] मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणैर्गरीयसी ॥ १६ ॥

---

१ वर्जयित्वेतिबालवृद्धान्विना ममैकस्य एकसहस्र परिचारक जातं । (गो०)

२ राजतंत्रं—राजपरिकरं । (गो०)

यह समस्त राजपरिकर तुम्हारे ही अधीन है। हे विशालाक्षि! मेरा जीवन भी तुम्हारे अधीन है। क्योंकि मैं तुम्हें अपने प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय समझता हूँ॥ १६॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां मम योऽसौ परिग्रहः।
तासां त्वमीश्वरा सीते मम भार्या भव प्रिये॥ १७॥

हे प्रिये सीते! मेरे रनवास में जो मेरी ब्याही हुई स्त्रियाँ हैं, उन सब के ऊपर तुम स्वामिनी बनो॥ १७॥

साधु किं तेऽन्यथा बुद्ध्या रोचयस्व वचो मम।
भजस्व माऽभितप्तस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ १८॥

हे सीते! मैंने जो अभी कहा है उसे तुम मान लो। क्योंकि मैंने जो कहा है वही ठीक है। तुम इसके विपरीत यदि कुछ करोगी तो उसका कुछ फल न होगा। इस समय मैं काम से पीड़ित हो रहा हूँ सो मुझे अंगीकार कर, तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ॥ १८॥

परिक्षिप्ता सहस्रेण लङ्केयं शतयोजना।
नेयं धर्षयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः॥ १९॥

सौ योजन के विस्तार वाली लङ्का चारों ओर एक हज़ार योजन तक समुद्र से घिरी है। अतः सब देवताओं सहित इन्द्र भी इसे जीत नहीं सकते॥ १९॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषूरगेषु च।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत्॥ २०॥

क्या देवताओं में, क्या यक्षों में, क्या गन्धर्वों में और क्या नागों में, ऐसा कोई भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पराक्रम में मेरा सामना कर सके ॥ २० ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन गतायुषा ।
किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा ॥ २१ ॥

देखो, राज्य से च्युत, दीन, भिक्षुक, पैदल घूमने वाले, मनुष्य जाति के और गतायु एवं अल्पतेज वाले श्रीराम को ले कर, तुम क्या करोगी? ॥ २१ ॥

भजस्व सीते मामेव भर्ताहं सदृशस्तव ।
यौवनं ह्यध्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह ॥ २२ ॥

हे सीते! तुम तो मुझे ही अपनाओ, क्योंकि तुम्हारे योग्य पति तो मैं ही हूँ। यह जवानी सदा नहीं रहती, अतः जब तक यह है तब तक तुम मेरे साथ विहार करो ॥ २२ ॥

दर्शने मा कृथा बुद्धिं राघवस्य वरानने ।
कास्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥ २३ ॥

हे वरानने! अब तुम श्रीरामचन्द्र से पुनः मिलने की आशा मत रक्खो। क्योंकि ऐसी शक्ति किसमें है जो कल्पना द्वारा भी यहाँ आ सके ॥ २३ ॥

न शक्यो वायुराकाशे पाशैर्बद्धुं महाजवः ।
दीप्यमानस्य चाप्यग्नेर्ग्रहीतुं विमलां शिखाम्* ॥ २४ ॥

जिस तरह प्रचण्ड पवन का पाशों से बांधना और अग्नि की शिखा का थामना असम्भव है, उसी तरह श्रीरामचन्द्र का यहाँ आना भी असम्भव है ॥ २४ ॥

---

*पाठान्तरे—"विमलाशिखा", "विमलाः शिखाः"।

त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने ।
विक्रमेण नयेद्यस्त्वां मद्बाहुपरिपालिताम् ॥ २५ ॥

हे शोभने ! मैं तो तीनों लोकों में ऐसो सामर्थ्य किसी में नहीं देखता जो मेरी भुजा से रक्षित तुझको अपने पराक्रम द्वारा यहाँ से ले जाय ॥ २५ ॥

लङ्कायां सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय ।
त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचराः ॥ २६ ॥

अतएव तू अब इस लङ्का के विशाल राज्य का पालन कर, केवल मैं स्वयं और देवता लोग ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण चराचर तेरे टहलुए हो कर रहेंगे ॥ २६ ॥

अभिषेकोदकक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व माम् ।
दुष्कृतं यत्पुरा कर्म वनवासेन तद्गतम् ॥ २७ ॥

तू अपना अभिषेक करा कर और प्रसन्न हो कर मेरे साथ विहार कर । पूर्वजन्म के तेरे जो कुछ पाप थे, वे सब वनवास करने से नष्ट हो गये ॥ २७ ॥

यश्च ते सुकृतो धर्मस्तस्येह फलमाप्नुहि ।
इह माल्यानि सर्वाणि दिव्यगन्धानि मैथिली ॥ २८ ॥

और जो पूर्वजन्म के पुण्यफल बाकी हैं, उनके फलों को तू लङ्का में रह कर उपभोग कर । हे मैथिली ! यहाँ पर जो ये दिव्य मालाएँ और चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ हैं ॥ २८ ॥

भूषणानि च मुख्यानि सेवस्व च मया सह ।
पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥ २९ ॥

और जो बढ़िया बढ़िया आभूषण हैं; उन सब को, तू मेरे साथ विहार कर के भोग। मेरे भाई कुबेर का पुष्पक नामक, ॥ २९ ॥

विमानं सूर्यसङ्काशं तरसा निर्जितं मया ।
विशालं रमणीयं च तद्विमानमनुत्तमम् ॥ ३० ॥
तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम् ।
वदनं पद्मसङ्काशं विमलं चारुदर्शनम् ॥ ३१ ॥
शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने ।
एवं वदति तस्मिन्सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना ॥ ३२ ॥

सूर्य के समान देदीप्यमान जो विमान है और जिसे मैंने संग्राम में जीत कर पाया है, वह विशालकाय, रमणीय, और विमानों में उत्तम है। उसमें बैठ कर तू मेरे साथ सुख सहित, विहार कर। हे वरानने ! तेरा यह मुख जो कमल की तरह साफ और सुन्दर है, शोक के कारण मलिन होने से शोभित नहीं होता। जब रावण ने इस प्रकार कहा; तब सीता वस्त्र से ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

पिधायेन्दुनिभं सीता मुखमश्रूण्यवर्तयत् ।
ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां दीनां चिन्ताहतप्रभाम् ॥ ३३ ॥

चन्द्र के समान अपना मुख ढांक कर रोने लगी। मारे चिन्ता के उसका मुख फीका पड़ गया। वह अत्यन्त उदास और अस्वस्थ सी हो, चिन्तामग्न हो गयी ॥ ३३ ॥

उवाच वचनं पापो रावणो राक्षसेश्वरः ।
अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन च ॥ ३४ ॥

ऐसी दशा को प्राप्त सीता से पापी राक्षसेश्वर रावण कहने लगा। हे वैदेही! धर्मलोप हो जाने की शङ्का से तेरा लज्जित होना व्यर्थ है॥ ३४॥

आर्षोऽयं दैवनिष्यन्दो यस्त्वामभिगमिष्यति।
एतौ पादौ मयास्निग्धौ शिरोभिः परिपीडितौ॥३५॥

क्योंकि राक्षस विवाह भी तो ऋषिप्रोक्त विवाह है। (यह अधर्म कार्य नहीं है) इस विवाह के द्वारा परपुरुष का संसर्ग प्रायश्चिताई नहीं है। देखो मैं अपने दसों सिर, तेरे दोनों कोमल चरणों पर रखता हूँ॥ ३५॥

प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते।
इमाः शून्या[1] मया वाचः शुष्यमाणेन[2] भाषिताः।
न चापि रावणः काञ्चिन्मूर्ध्ना स्त्रीं प्रणमेत ह॥ ३६॥

अब तू मेरे ऊपर तुरन्त प्रसन्न हो जा। मैं तेरा वशवर्ती दास हूँ। देख, मैंने काम से पीड़ित होने के कारण ही ऐसी अधीनताई की बातें केवल तुझसे कही हैं। नहीं तो रावण ने आज तक कभी किसी स्त्री के पैरों पर अपने सिर नहीं रखे॥ ३६॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम्।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते॥ ३७॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः॥

---

१ शून्याः—नीचाः (गो०) २ शुष्यमाणेन—अनङ्गेन तप्यमानेन। (गो०)

रावण, मृत्यु के वश हो कर सीता से इस प्रकार कह कर, अपने मन में समझ बैठा कि, सीता मेरी हो गयी ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का पचपनवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षट्पञ्चाशः सर्गः

—:*:—

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्शिता ।
तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

रावण द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर शोक से पीड़ित सीता जी ने, तिनके की आड़ कर, निर्भय हो, रावण से कहा ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम [1]धर्मसेतुरिवाचलः ।
सत्यसन्धः परिज्ञातो[2] यस्य पुत्रः स राघवः ॥ २ ॥

महाराज दशरथ जी, जो धर्म की अटल मर्यादा के स्थापन करने वाले थे और अपनी सत्यप्रतिज्ञा के लिये प्रसिद्ध थे, श्रीरामचन्द्र जी उन्हींके पुत्र हैं ॥ २ ॥

रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
दीर्घबाहुर्विशालाक्षो दैवतं हि पतिर्मम ॥ ३ ॥

वे श्रीरामचन्द्र भी धर्मात्मा के नाम से तीनों लोकों में विख्यात हैं । वे ही दीर्घबाहु और विशालाक्ष श्रीरामचन्द्र मेरे पति और देवता हैं ॥ ३ ॥

---

१ धर्मसेतुः—मर्यादास्थापकः । (गो०) २ परिज्ञातः—प्रसिद्धः । (गो०)

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान्हरिष्यति ॥ ४ ॥

वे इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए हैं, उनके सिंह जैसे कंधे हैं और वे बड़े द्युतिमान् हैं। वे अपने भाई लक्ष्मण के सहित यहाँ आ कर अवश्य ही तेरा वध करेंगे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं यद्यहं तस्य त्वया स्यां धर्षिता बलात् ।
शयिता त्वं हतः संख्ये जनस्थाने यथा खरः ॥ ५ ॥

यदि कहीं उनकी उपस्थिति में तूने मुझे बलपूर्वक हरने का साहस किया होता तो तू आज युद्ध में मारा जा कर जनस्थान में खर की तरह भूमि पर पड़ा (अनन्त निद्रा में) सोता होता ॥ ५ ॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महाबलाः ।
राघवे निर्विषाः[1] सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा ॥ ६ ॥

तू जिन भयङ्कर महाबली राक्षसों का बखान कर चुका है वे सब श्रीरामचन्द्र जी के सामने आते ही उसी प्रकार निर्वीर्य (बलहीन) हो जावेंगे, जिस प्रकार गरुड़ के सामने आने से बड़े बड़े विषधर सर्प विषहीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य ज्याविप्रमुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः
शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः ॥ ७ ॥

श्रीराम के धनुष से छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण राक्षसों के शरीर को उसी प्रकार वेध डालेंगे जिस प्रकार गङ्गा की लहरें किनारे को छलनी कर डालती हैं ॥ ७ ॥

---

१ निर्विषाः — निर्वीर्याः इति व्याख्याते टी०

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण ।
उत्पाद्य सुमहद्वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

हे रावण ! यद्यपि तू देवताओं और दानवों से अवध्य है, तथापि श्रीरामचन्द्र से वैर बांध तू जीता नहीं बच सकता ॥ ८ ॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली ।
पशोर्यूपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥ ९ ॥

बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ही तेरे बचे हुए जीवन का समय पूरा कर देंगे। यज्ञस्तम्भ में बँधे हुए पशु की तरह अब तेरा जीना दुर्लभ है ॥ ९ ॥

यदि पश्येत्स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।
रक्षस्त्वमद्य निर्दग्धो गच्छेः सद्यः पराभवम् ॥ १० ॥

यदि श्रीरामचन्द्र क्रोध से प्रज्वलित अपने नेत्रों से तुझे देख दें, तो हे राक्षस ! तू अभी भस्म हो कर पराभव को प्राप्त हो जाय ॥१०॥

यश्चन्द्रं नभसो भूमौ पातयेन्नाशयेत वा ।
सागरं शोषयेद्वापि स सीतां मोचयेदिह ॥ ११ ॥

जो श्रीरामचन्द्र आकाश से चन्द्रमा को भूमि पर गिरा या नष्ट कर सकते हैं और समुद्र का जल सुखा सकते हैं वे ही श्रीरामचन्द्र सीता को यहां से छुड़ावेंगे ॥ ११ ॥

गतायुस्त्वं गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः ।
लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति ॥ १२ ॥

तेरे किये हुए परदाराभिमर्शन रूपी पाप से तेरी आयु बीत चुकी। तेरी श्री नष्ट हो चुकी, तेरा बल नष्ट हो चुका और तेरी इन्द्रियाँ भी अपने अपने कामों से जवाब दे चुकीं। तेरी यह लङ्का भी अब शीघ्र ही विधवा होने वाली है ॥ १२ ॥

[पराई स्त्री के साथ खोटा कर्म करने से स्मृतियों के अनुसार मनुष्य की आयु, उसका बल, यश और उसकी लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाती है। यथा
आयुर्बलं यशो लक्ष्मीः परदाराभिमर्शनात् सद्य एव विनश्यन्ति ।]

न ते पापमिदं कर्म सुखोदर्कं भविष्यति ।
याहं नीता विनाभावं[1] पतिपार्श्वात्त्वया वने ॥ १३ ॥

तूने जो यह पापकर्म किया है, सो इसका परिणाम कभी सुख-दायी नहीं हो सकता। क्योंकि तूने वन में रहते हुए, मेरा वियोग मेरे पति से करवाया है ॥ १३ ॥

स हि दैवतसंयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः ।
निर्भयो वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसति दण्डके ॥ १४ ॥

मेरे वह महाद्युतिमान् स्वामी अपने भाई लक्ष्मण के साथ केवल अपने पराक्रम से, निर्भय हो, निर्जन वन में वास करते हैं ॥ १४ ॥

स ते दर्पं बलं वीर्यमुत्सेकं च तथाविधम् ।
अपनेष्यति गात्रेभ्यः शरवर्षेण संयुगे ॥ १५ ॥

वह संग्राम में बाणों की वर्षा कर के तेरी देह से, तेरे अभिमान, बल और पराक्रम और मर्यादाहीन कर्म करने की तेरी प्रवृति को दूर कर देंगे ॥ १५ ॥

---

[1] विनाभावं—वियोगं। (गो०) उत्सेकं—उल्लंघ्यकार्यकारित्वं। (गो०)

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः ।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥ १६ ॥

मृत्यु के वश होने के कारण जब प्राणियों का नाश निकट आ जाता है, तब वे काल के वश हो कार्यों में प्रमाद करने लगते हैं ॥१६॥

मां प्रधृष्य स ते कालः प्राप्तोऽयं राक्षसाधम ।
आत्मनो राक्षसानां च वधायान्तःपुरस्य च ॥ १७ ॥

हे राक्षसाधम ! मेरी धर्षणा से तेरी मौत निकट आ पहुँची है। अब तेरा, तेरे राक्षसों का और तेरे अन्तःपुरवासियों का वध होगा ॥ १७ ॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्रग्भाण्डमण्डिता ।
द्विजातिमन्त्रपूता च चण्डालेनाभिमर्शितुम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार स्रुवा तथा अन्य यज्ञपात्रों से भूषित और ब्राह्मणों से मन्त्र द्वारा पवित्र की हुई यज्ञवेदी चाण्डाल के छूने योग्य नहीं होती ॥ १८ ॥

तथाऽहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी पतिव्रता ।
त्वया स्प्रष्टुं न शक्याऽस्मि राक्षसाधम पापिना ॥१९॥

उसी प्रकार उन धर्मतत्पर श्रीरामचन्द्र जी की पतिव्रता धर्मपत्नी तुझ जैसे राक्षसाधम पापी के छूने योग्य नहीं है ॥ १९ ॥

क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यदा ।
हंसी सा तृणषण्डस्थं कथं पश्येत मद्गुकम् ॥ २० ॥

राजहंस के साथ कमलों में सदा क्रीड़ा करने वाली हंसनी तृणों के बीच बैठे हुए जलकाक को कैसे देख सकती है ॥ २० ॥

इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा खादयस्व वा।
नेदं शरीरं रक्ष्यं मे जीवितं वापि राक्षस ॥ २१ ॥

हे राक्षस ! यह शरीर तो निश्चेष्ट है, चाहे तू इसे बाँध या मार। मुझे इस शरीर को न रखना है और न अपने प्राण ही बचाने हैं ॥२१॥

न तु शक्ष्याम्युपक्रोशं[1] पृथिव्यां दातुमात्मनः।
एवमुक्त्वा तु वैदेही क्रोधात्सुपरुषं वचः ॥ २२ ॥
रावणं मैथिली तत्र पुनर्नोवाच किञ्चन।
सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोमहर्षणम् ॥ २३ ॥

क्योंकि मैं इस पृथिवी पर अपना अपवाद करवाना नहीं चाहती। इस प्रकार वैदेही क्रोध में भर रावण से कठोर वचन कह कर, चुप हो गयी और फिर कुछ भी न बोली। सीता जी के ये रोमाञ्चकारी कठोर वचन सुन कर ॥ २२ ॥ २३ ॥

प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः।
शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्वादश भामिनि ॥२४॥

रावण, सीता को भय दिखलाता हुआ कहने लगा। हे सीते ! सुन, बारह महीने के भीतर ॥ २४ ॥

कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः ॥ २५ ॥

---

[1] उपक्रोशं—अपवादं। (गो०)

चारुहासिनी (सुन्दर हँसी हँसने वाली) ! यदि तू मुझे स्वीकार न करेगी तो मेरे रसोइये, मेरे प्रातः कालीन भोजन (कलेवा) के लिये तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः ।
राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

शत्रु को रुलाने वाला रावण सीता से ऐसे कठोर वचन कह कर क्रोध में भर राक्षसियों से यह वचन बोला ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विकृता घोरदर्शनाः ।
दर्पमस्या विनेष्यध्वं मांसशोणितभोजनाः ॥ २७ ॥

हे विकटरूपा ! हे भयङ्कर रूप वाली ! हे रक्त मांस खाने वाली राक्षसियों ! तुम सब इस सीता का गर्व दूर करो ॥ २७ ॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा राक्षसीगणाः ।
कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

भयङ्कर सूरत वाली राक्षसियों ने यह सुन तत्क्षण (रावण को) हाथ जोड़ और जो आज्ञा कह, सीता जी को घेर लिया ॥ २८ ॥

स ताः प्रोवाच राजा तु रावणो घोरदर्शनः ।
प्रचाल्य चरणोत्कर्षैर्दारयन्निव मेदिनीम् ॥ २९ ॥

यह देख, रावण मानों अपनी चाल से पृथिवी को कंपा और विदीर्ण करता हुआ, कुछ पग चल कर उन राक्षसियों से फिर कहने लगा ॥ २९ ॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिली नीयतामियम् ।
तत्रेयं रक्ष्यतां गूढं युष्माभिः परिवारिता ॥ ३० ॥

इस सीता को तुम लोग अशोकवाटिका में ले जाओ और वहाँ इसको घेर कर गूढ़ भाव से सदा इसकी रखवाली किया करो ॥३०॥

तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम् ।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव ॥ ३१ ॥

जंगली हथिनी जिस प्रकार वश में की जाती है उसी प्रकार तुम सब भी खूब डरा धमका कर और फिर धीरज बँधा कर इसे मेरे वश में करो ॥ ३१ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः ।
अशोकवनिकां जग्मुर्मैथिलीं प्रतिगृह्य तु ॥ ३२ ॥

जब रावण ने इस प्रकार उनको आज्ञा दी, तब वे राक्षसियाँ सीता जी को अपने साथ ले, अशोकवाटिका में चली गयीं ॥३२॥

सर्वकालफलैर्वृक्षैर्नानापुष्पफलैर्वृताम् ।
सर्वकालमदैश्चापि द्विजैः समुपसेविताम् ॥ ३३ ॥

वह अशोकवाटिका ऐसे वृक्षों से युक्त थी, जिनमें सदैव फल फला करते और तरह तरह के फूल फूला करते थे और जिन पर सदा मतवाले हो भाँति भाँति के पक्षी रहा करते थे ॥ ३३ ॥

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा ।
राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ॥ ३४ ॥

उस समय शोक से कर्षित और राक्षसियों के पाले पड़ी हुई सीता की वही दशा थी जो दशा हिरनी की वाघिन के पाले पड़ने से होती है ॥ ३४ ॥

शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा ।
न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा ॥ ३५ ॥

बड़े भारी शोक में पड़ी हुई जनकदुलारी मैथिली को फंदे में फंसी हुई हिरनी की तरह, अशोकवाटिका में ज़रा भी सुख न मिला ॥ ३५ ॥

न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली
विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता ।
पतिं स्मरन्ती दयितं च दैवतं
विचेतनाऽभूद्भयशोकपीडिता ॥ ३६ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

विकट नेत्र वाली राक्षसियों से डरायी धमकायी जाने के कारण अत्यन्त भयभीत हो, जानकी जी को कुछ भी आराम न मिला और अपने प्यारे पति और देवर को स्मरण करती हुई सीता जी अचेत सी हो गयीं ॥ ३६ ॥

अरण्यकाण्ड का छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—※—

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—*—

राक्षसं मृगरूपेण चरन्तं कामरूपिणम् ।
निहत्य रामो मारीचं तूर्णं पथि निवर्तते ॥ १ ॥

उस ओर श्रीरामचन्द्र जी मृग रूप धर कर विचरण करने वाले काम रूपी राक्षस मारीच को मार, शीघ्र ही आश्रम की ओर लौटे ॥ १ ॥

तस्य संत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मैथिलीम् ।
क्रूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः ॥ २ ॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी बड़ी शीघ्रता के साथ सीता जी को देखने के लिये लौट रहे थे, उस समय उनकी पीठ के पीछे शृगाल महाकठोर शब्द कर के चिल्लाने लगा ॥ २ ॥

स तस्य स्वरमाज्ञाय दारुणं रोमहर्षणम् ।
चिन्तयामास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः ॥ ३ ॥

उस गीदड़ का वह रोमाञ्चकारी और दारुण शब्द सुन, श्रीरामचन्द्र जी के मन में शङ्का उत्पन्न हो गयी और वे चिन्तित हुए ॥ ३ ॥

अशुभं वत मन्येऽहं गोमायुर्वाश्यते यथा ।
स्वस्ति स्यादपि वैदेह्या राक्षसैर्भक्षणं विना ॥ ४ ॥

(मन ही मन) उन्होंने कहा जिस प्रकार का शब्द गीदड़ कर रहा है, इससे तो जान पड़ता है कि, कोई अशुभ होगा। कहीं राक्षसों ने सीता को खा न डाला हो। अब तो सीता को सकुशल देख कर ही मेरे जी में जी आवेगा ॥ ४ ॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वरमालम्ब्य मामकम्।
विक्रुष्टं मृगरूपेण लक्ष्मणः शृणुयाद्यदि ॥ ५ ॥

मृगरूप धारी मारीच जो मेरी बोली बना लक्ष्मण और सीता का नाम ले पुकारा था, उसे यदि लक्ष्मण ने सुना होगा ॥ ५ ॥

स सौमित्रिः स्वरं श्रुत्वा तां च हित्वा च मैथिलीम्।
तयैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिहैष्यति ॥ ६ ॥

तो लक्ष्मण उस पुकार को सुन और सीता जी द्वारा प्रेरित हो और सीता को छोड़, शीघ्र ही मेरे पास आवेंगे ॥ ६ ॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः।
काञ्चनश्च मृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमात्तु माम् ॥ ७ ॥

मारीच सोने का मृग बन, मुझे आश्रम से इतनी दूर बहका लाया। इससे जान पड़ता है कि, राक्षस मिल कर, निश्चय ही सीता का वध करना चाहते हैं ॥ ७ ॥

दूरं नीत्वा तु मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः।
हा लक्ष्मण हतोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार च ॥ ८ ॥

आश्रम से मुझे इतनी दूर ले जा कर और मेरे बाण से घायल हो कर, उसका—"हा लक्ष्मण! मैं मारा गया कहना—(अवश्य राक्षसों के षड़यंत्र का सूचक है।) ॥ ८ ॥

अपि स्वस्ति भवेत्ताभ्यां रहिताभ्यां महावने।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवैरोऽस्मि राक्षसैः ॥ ९ ॥

इस महावन में मेरे वहाँ से चले आने पर उन दोनों का मङ्गल हो। जनस्थाननिवासी राक्षसों का वध करने के कारण अब तो राक्षसों से वैर बँध ही गया है ॥ ९ ॥

निमित्तानि च घोराणि दृश्यन्तेऽद्य बहूनि च।
इत्येवं चिन्तयन्रामः श्रुत्वा गोमायुनिःस्वनम् ॥ १० ॥

तिस पर मुझे बहुत से बड़े बुरे अशकुन दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी मन ही मन सोचते विचारते और गीदड़ों का चीत्कार सुनते आश्रम की ओर लौटे ॥ १० ॥

आत्मनश्चापनयनान्मृगरूपेण रक्षसा।
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः ॥ ११ ॥

वे बार बार अपने मन में यही सोचते विचारते थे कि, देखो मृग रूपी राक्षस आश्रम से मुझे कितनी दूर ले आया ऐसा सोचते और शङ्कित होते श्रीरामचन्द्र जनस्थान में पहुँचे ॥ ११ ॥

तं दीनमनसो दीनमासेदुर्मृगपक्षिणः।
सव्यं कृत्वा महात्मानं घोरांश्च ससृजुः स्वरान् ॥ १२ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को उदास देख, सब मृग और पक्षी स्वयं उदास हो उनके पास गये और बाईं ओर से रास्ता काट कर, घोर शब्द करने लगे ॥ १२ ॥

तानि दृष्ट्वा निमित्तानि महाघोराणि राघवः ।
न्यवर्तताथ [1]त्वरितो जवेना[2]श्रममात्मनः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र इन महाभयङ्कर अपशकुनों को देख कर हड़बड़ा कर, शीघ्रता पूर्वक अपने आश्रम को लौटने लगे ॥ १३ ॥

स तु सीतां वरारोहां लक्ष्मणं च महाबलम् ।
आजगाम जनस्थानं चिन्तयन्नेव राघवः ॥ १४ ॥

वे वरारोहा सीता और महाबली लक्ष्मण के लिये चिन्ता करते हुए जनस्थान में पहुँचे ॥ १४ ॥

ततो लक्ष्मणमायान्तं ददर्श विगतप्रभम् ।
ततोऽविदूरे रामेण समीयाय[3] स लक्ष्मणः ॥ १५ ॥

रास्ते में श्रीरामचन्द्र ने, उदास लक्ष्मण को अपनी ओर आते हुए देखा । जब लक्ष्मण निकट आ गये ॥ १५ ॥

विषण्णः सुविषण्णेन दुःखितो दुःखभागिना ।
सञ्जगर्हेऽथ तं भ्राता ज्येष्ठो लक्ष्मणमागतम् ॥ १६ ॥
विहाय सीतां विजने वने राक्षससेविते ।
गृहीत्वा च करं सव्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १७ ॥

तब विषादित और दुःखित हो श्रीरामचन्द्र जी ने आये हुए लक्ष्मण जी को, जो विषाद युक्त और दुःखी हो रहे थे, उस निर्जन वन में सीता को अकेली छोड़ आने के लिये निन्दा की। श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण का बायाँ हाथ पकड़ कर ॥ १६ ॥ १७ ॥

---

१ त्वरितः—मानसिकत्वरासहितः । (गो०) २ जवेन—कायिकत्वरया । (गो०) ३ समीयाय—सङ्गतः । (गो०)

उवाच [1]मधुरोदर्कमिदं परुषमार्त्तिमत् ।
अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यस्त्वं विहाय ताम् ॥ १८ ॥
सीतामिहागतः सौम्य कच्चित्स्वस्ति भवेदिह ।
न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥ १९ ॥

आर्त्त की तरह कुछ कोमलता युक्त कठोर वचन कहे—हे लक्ष्मण ! तुमने यह बहुत बुरा काम किया जो तुम उस सीता को अकेली छोड़ यहाँ चले आये । हे सौम्य ! तुम्हारी इस करतूत से क्या सीता की भलाई होगी ? हे वीर ! मुझे तो इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है कि, सीता को ॥ १८ ॥ १९ ॥

विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः ।
अशुभान्येव भूयिष्टं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ २० ॥

वनचारी राक्षसों ने या तो मार डाला या खा डाला । क्योंकि ये सब अशकुन ऐसे हो रहे हैं ॥ २० ॥

अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्र्यं प्राप्नुयावहे ।
जीवन्त्याः* पुरुषव्याघ्र सुतायाः जनकस्य वै ॥ २१ ॥

कि हे लक्ष्मण ! हे पुरुष व्याघ्र ! मैं जनकदुलारी सीता को जीता और सकुशल देख सकूंगा कि नहीं ॥ २१ ॥

यथा वै मृगसङ्घाश्च गोमायुश्चैव भैरवम् ।
वाश्यन्ते शकुनाश्चापि प्रदीप्तामभितो दिशम् ।
अपि स्वस्ति भवेत्तस्या राजपुत्र्या महाबल ॥ २२ ॥

---

[1] मधुरोदर्क—मधुरोत्तर । (गो०)

* पाठान्तरे—"जीवन्त्यः"

हे महाबली ! ये मृग समूह, गीदड़ और पक्षी सूर्य की ओर मुँह उठा ऐसा शब्द कर रहे हैं, जिससे जान पड़ता है कि, राजपुत्री सीता के कुशल होने में सन्देह है ॥ २२ ॥

इदं हि रक्षो मृगसन्निकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम् ।
हतं कथञ्चिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव ॥ २३ ॥

वह राक्षस जो मृग का रूप धर मुझे भुलावा दे आश्रम से बहुत दूर ले गया वह किसी प्रकार बड़े श्रम से मारा गया, मरते समय उसने निज राक्षस रूप धारण किया ॥ २३ ॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम् ।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ २४ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! इस समय मेरा मन बहुत उदास है और घबड़ा रहा है। बाईं आँख भी फड़क रही है। हे लक्ष्मण ! निस्सन्देह सीता अब आश्रम में नहीं है। या तो कोई उसे हर कर ले गया, या वह मर गयी अथवा रास्ते में होगी ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:※:—

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—*—

स दृष्ट्वा लक्ष्मणं दीनं शून्ये दशरथात्मजः ।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीमागतं विना ॥ १ ॥

धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस निर्जनवन में लक्ष्मण को सीता के विना आया हुआ देख, उनसे पूछा ॥ १ ॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगामह ।
क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! जो दण्डकारण्य में आते समय मेरे साथ आ रही थी और जिसे छोड़ तुम यहाँ आये हो, वह वैदेही कहाँ है ॥ २ ॥

राज्य भ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान्परिधावतः ।
क्व सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा ॥ ३ ॥

राज्य से भ्रष्ट, दीन और दण्डकवन में घूमते हुए जो मेरे दुःख की साथिन है, वह क्षीण कटि वाली सीता कहाँ है ? ॥ ३ ॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम् ।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता [1]सुरसुतोपमा ॥ ४ ॥

---

[1] सुरसुता—सुरस्त्री । (गो०)

हे वीर ! जिसके विना मैं क्षण भर भी जीता नहीं रह सकता वह मेरे प्राणों की आधार और देवस्त्री के समान सीता कहाँ है ? ॥ ४ ॥

पतित्वममराणां वा पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण ।
तां विना [1]तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं उस सुवर्ण-वर्ण जनकात्मजा के विना, स्वर्ग राज्य या भूमण्डल का राज्य नहीं चाहता ॥ ५ ॥

कच्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम ।
कच्चित्प्रव्राजनं सौम्य न मे मिथ्या भविष्यति ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी वैदेही क्या अभी तक जीवित है ? कहीं मेरी चौदह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा तो मिथ्या नहीं हो जायगी ? ॥ ६ ॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि ।
कच्चित्सकामा सुखिता कैकेयी सा भविष्यति ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता के पीछे मेरे प्राण त्यागने पर और तुम्हारे अयोध्या लौट कर जाने पर, क्या कैकेयी सफल मनोरथ और सुखी होगी ? ॥ ७ ॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्विनी[2] ।
उपस्थास्यति कौसल्या कच्चित्सौम्य न केकयीम् ॥८॥

---

1 तपनीयं—स्वर्णं । (गो०) २ तपस्विनी—शोच्या । (गो०) ३ वृत्ता—परीता । (गो०)

हे सौम्य! बापुरी कौशल्या मृत-पुत्रा हो जाने पर, अपने पुत्र के राज्य पाने से हर्षित और सफल मनोरथ कैकेयी की टहल कभी न करेगी ॥ ८ ॥

यदि जीवति वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः ।
सुवृत्ता[1] यदि वृत्ता[2] सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण ॥९॥

हे लक्ष्मण! यदि सीता जीती होगी तो मैं आश्रम में जाऊँगा और यदि वह पतिव्रता जीवित न हुई तो मैं अपनी जान दे दूँगा ॥ ९ ॥

यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते ।
पुनः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण! यदि आश्रम में जाने पर सीता पूर्ववत् हँस कर मुझसे बातचीत न करेगी तो मैं मर जाऊँगा ॥ १० ॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा ।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण! तुम सच सच मुझे बतलाओ कि, सीता जीती है कि नहीं? अथवा रक्षा करने में तुम्हारी असावधानी होने के कारण राक्षसों ने उसे खा डाला? ॥ ११ ॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखदर्शिनी ।
मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण! वह सुकुमारी और बाला सीता, जिसने दुःख कभी नहीं सहे, मेरे वियोग में उदास हो चिन्ताग्रस्त होगी ॥ १२ ॥

---

१ सुवृत्ता—स्वाचारा। (गो०) २ वृत्ता—परेता। (गो०)

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्मेन[1] सुदुरात्मना ।
वदता लक्ष्मणेत्युच्चैस्तवापि जनितं भयम् ॥ १३ ॥

अतिशय दुष्ट राक्षस मारीच ने उच्च स्वर से "हा लक्ष्मण मैं मारा गया" पुकार कर, तुमको धोखा दिया और तुम्हारे मन में भय उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

श्रुतस्तु शङ्के वैदेह्या स स्वरः सदृशो मम ।
त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः ॥ १४ ॥

सीता ने भी मेरे समान कण्ठस्वर को सुन कर और डर कर शङ्कित हो तुमको मेरे निकट भेजा और तुम भी मुझे देखने के लिये तुरन्त चले आये ॥ १४ ॥

सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता वने ।
प्रतिकर्तुं नृशंसानां राक्षसां दत्तमन्तरम् ॥ १५ ॥

हे लक्ष्मण ! तुमने जानकी को वन में अकेली छोड़ कर अच्छा काम नहीं किया । तुमने यहाँ आ कर उन नृशंस राक्षसों को मुझसे बदला लेने का अवसर दिया ॥ १५ ॥

दुःखिताः खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः ।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति न संशयः ॥ १६ ॥

मेरे द्वारा खर के मारे जाने से मांसभोजी राक्षस गण दुःखित हैं । उन घोर राक्षसों ने अवश्य सीता को खा डाला होगा ॥ १६ ॥

---

[1] जिह्मेन—कपटेन । (गो०)

अहोऽस्मिन्व्यसने मग्नः सर्वथा शत्रुसूदन ।
*किन्विदानीं करिष्यामि शङ्के प्राप्तव्यमीदृशम् ॥१७॥

हे शत्रुसूदन लक्ष्मण ! मैं तो बड़े सङ्कट में पड़ गया। मुझे तो अब इस बात की चिन्ता है कि, ऐसी विपत्ति पड़ने पर मैं क्या करूँगा ॥ १७ ॥

इति सीतां वरारोहां चिन्तयन्नेव राघवः ।
आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सुमुखी सीता के लिये चिन्ता करते हुए लक्ष्मण जी के साथ शीघ्रता के साथ जनस्थान में पहुँचे ॥ १८ ॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं
क्षुधा श्रमाच्चैव पिपासया च ।
विनिःश्वसञ्छुष्कमुखो विवर्णः
[1]प्रतिश्रयं प्राप्तसमीक्ष्य शून्यम् ॥ १९ ॥

भूख, प्यास और थकावट के मारे श्रीरामचन्द्र जी का मुख सूख गया और चेहरे की रंगत फीकी पड़ गयी थी। उन्होंने आर्त हो दीर्घ निश्वास त्याग कर, लक्ष्मण जी के कर्म की निन्दा की और अपने आश्रम में पहुँच उसको सूना पड़ा पाया ॥ १९ ॥

स्वमाश्रमं सम्प्रविगाह्य वीरो
विहारदेशाननुसृत्य कांश्चित् ।

---

१ प्रतिश्रयं—स्वाश्रमप्रदेशं । (गो०)

* पाठान्तरे—"किन्विदानीं", "किंचेदानीं"

एतत्तदित्येव निवासभूमौ
प्रहृष्टरोमा व्यथितो बभूव ॥ २० ॥

इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

अपना आश्रम देख चुकने पर वीर श्रीरामचन्द्र सीता जी के कई एक विहारस्थलों में घूमे और ये सीता के विहारस्थल हैं यह बात याद आते ही उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे बहुत व्यथित हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ।

एकोनषष्टितमः सर्गः

अथाश्रमादुपावृत्तमन्तरा[1] रघुनन्दनः ।
परिपप्रच्छ सौमित्रिं रामो दुःखार्दितं पुनः ॥ १ ॥

आश्रम को लौटते समय मार्ग में श्रीरामचन्द्र जी के पूँछने पर जब लक्ष्मण चुप रहे और कुछ न बोले तब फिर महादुःखी हो, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहने लगे ॥ १ ॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोपास्य मैथिलीम् ।
यदा सा तव विश्वासाद्वने विरहिता मया ॥ २ ॥

---

१ अन्तरा—मध्येमार्गे । (गो०)

भाई! मैंने तो तुम्हारे विश्वास पर सीता को वन में अकेले छोड़ा था। सो तुम उसे अकेली छोड़ क्यों यहाँ चले आये॥ २॥

दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण।
शङ्कमानं महत्पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः॥ ३॥

हे लक्ष्मण! सीता को छोड़, तुमको आते देख मेरा मन अनिष्ट की शङ्का कर जो व्यथित हुआ था सो मेरी वह शङ्का सत्य ही सिद्ध हुई॥ ३॥

स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि॥ ४॥

तुम को दूर ही से जानकी के बिना आते देख, मेरा बायाँ नेत्र, बायीं भुजा और हृदय का वाम भाग फड़कने लगा था॥ ४॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिर्लक्ष्मणः शुभलक्षणः।
भूयो दुःखसमाविष्टो दुःखितं राममब्रवीत्॥ ५॥

शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन पुनः अत्यन्त दुःखी हुए और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले॥ ५॥

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः॥ ६॥

मैं अपनी इच्छा से जानकी को छोड़ यहाँ नहीं आया, बल्कि उनके उग्र वचन कहने पर ही मैं आपके पास आया हूँ॥ ६॥

आर्येणेव पराक्रुष्टं हा सीते लक्ष्मणेति च।
परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुतिं गतम्॥ ७॥

आप ही ने तो "हा लक्ष्मण" और "हा सीता मुझे बचाओ" उच्चस्वर से कहा था। आपका यह उच्चस्वर से कहा हुआ वाक्य जानकी जी के कान तक पहुँचा॥ ७॥

सा तमार्तस्वरं श्रुत्वा तव स्नेहेन मैथिली।
गच्छ गच्छेति मामाह रुदन्ती भयविह्वला॥ ८॥

आपके इस आर्त स्वर को सुन आपकी प्रीति के कारण रोती और भयभीत हुई सीता ने मुझसे "शीघ्र जाओ, शीघ्र जाओ" कहा॥ ८॥

प्रचोद्यमानेन मया गच्छेति बहुशस्तया।
प्रत्युक्ता मैथिली वाक्यमिदं त्वत्प्रत्ययान्वितम्॥ ९॥

जब सीता ने कितनी ही बार मुझसे जाने को कहा, तब मैंने आपके सम्बन्ध में उनको विश्वास कराने के लिये यह कहा॥ ९॥

न तत्पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत्।
निर्वृता भव नास्त्येतत्केनाप्येवमुदाहृतम्॥ १०॥

मुझे कोई ऐसा राक्षस नहीं देख पड़ता जो श्रीरामचन्द्र जी को भयभीत कर सके। अतः तुम चिन्ता मत करो। यह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं बल्कि किसी दूसरे का बनावटी शब्द है॥ १०॥

विगर्हितं च नीचं च कथमार्योऽभिधास्यति।
त्राहीति वचनं सीते यस्त्रायेत्त्रिदशानपि॥ ११॥

हे सीते! जो श्रीरामचन्द्र जी देवताओं की रक्षा करने में समर्थ हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र—"मुझे बचाओ" ऐसा निन्द्य और तुच्छ वचन कैसे कह सकते हैं॥ ११॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य मे स्वरम्।
राक्षसेनेरितं वाक्यं त्राहि त्राहीति शोभने॥ १२॥

हे शोभने! किसी राक्षस ने किसी दुष्ट अभिप्राय से मेरे भाई के कण्ठस्वर का अनुकरण कर कहा होगा कि, "मुझे बचाओ मुझे बचाओ"॥ १२॥

[1]विस्वरं व्याहृतं वाक्यं लक्ष्मण त्राहि मामिति।
न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसेविता॥ १३॥

"हे लक्ष्मण! मुझे बचाओ।" इस वाक्य को कहने वाले के कण्ठस्वर की विशेष विवेचना करने पर यह श्रीरामचन्द्र का कहा हुआ वाक्य नहीं जान पड़ता। अतः निन्द्य स्त्रियों की तरह आपको इसके लिये दुःखी न होना चाहिये॥ १३॥

अलं वैक्लव्यमालम्ब्य स्वस्था भव निरुत्सुका।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु पुमान्वै राघवं रणे॥ १४॥

व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं। अतः तुम अब स्वस्थ हो जाओ। क्योंकि तीनों लोकों में ऐसा कोई पुरुष नहीं जो श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में खड़ा रह सके॥ १४॥

जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत्।
न जय्यो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः॥ १५॥

---

१ विस्वरमिति—स्वर प्रकार विशेष शोधनेऽपिनार्यं रागस्वर इति। (गो०)

जो युद्ध में, श्रीराम को पराजित करे—ऐसा न तो कोई उत्पन्न हुआ और न आगे ही कोई उत्पन्न होगा। इन्द्रादि देवताओं में भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र को युद्ध में जीत सकें ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही परिमोहितचेतना[1]।
उवाचाश्रूणि मुञ्चन्ती दारुणं मामिदं वचः ॥ १६ ॥

ऐसा कहने पर भी, कलुषित बुद्धि होने के कारण, आँसू बहाते हुए सीता जी ने मुझसे ये कठोर वचन कहे ॥ १६ ॥

भावो मयि तवात्यर्थं पाप एव निवेशितः।
विनष्टे भ्रातरि प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसि ॥ १७ ॥

मेरे ऊपर तुम्हारी नियत डिग गयी है, पर याद रखो, श्रीरामचन्द्र जी के मारे जाने पर भी तुम मुझे न पा सकोगे ॥ १७ ॥

सङ्केताद्भरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि।
क्रोशन्तं हि यथात्यर्थं नैवमभ्यवपद्यसे ॥ १८ ॥

तुम भरत के इशारे से श्रीरामचन्द्र के साथ आये हो। इसीसे तो श्रीरामचन्द्र जी के बुलाने पर भी तुम, सहायतार्थ उनके पास नहीं जाते ॥ १८ ॥

रिपुः प्रच्छन्नचारी त्वं मदर्थमनुगच्छसि।
राघवस्यान्तरप्रेप्सुस्तथैनं नाभिपद्यसे ॥ १९ ॥

---

1 परिमोहितचेतना—कलुषितबुद्धिः। (गो०)

तुम गुप्त शत्रु हो अथवा मित्ररूपी शत्रु हो और मेरे लिये ही श्रीराम के साथ आये हो। तुम सदा अवसर ढूढ़ते हो कि, कब श्रीरामचन्द्र जी कहीं जायँ और मैं सीता को हथियाऊँ। इसी से तो तुम श्रीराम की सहायता के लिये नहीं जाते ॥ १६ ॥

एवमुक्तो हि वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः ।
क्रोधात्प्रस्फुरमाणोष्ठ आश्रमादभिनिर्गतः ॥ २० ॥

जब जानकी जी ने मुझसे इस प्रकार कहा, तब मुझे क्रोध आ गया और मारे क्रोध के मेरे नेत्र लाल हो गये और ओंठ फड़कने लगे। मैं आश्रम के बाहिर चला आया ॥ २० ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं रामः सन्तापमोहितः ।
अब्रवीद्दुष्कृतं सौम्य तां विना यत्त्वमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण के ऐसा कहने पर, सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सौम्य ! तुम जो जानकी को छोड़, चल खड़े हुए, सो तुमने बहुत ही बुरा काम किया ॥ २१ ॥

जानन्नपि समर्थं मां राक्षसां विनिवारणे ।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निःसृतो भवान् ॥२२॥

आप तो यह जानते ही थे कि, राम राक्षसों को मारने में समर्थ हैं, फिर क्यों मैथिली के कठोर वचन सुन आप चल खड़े हुए ॥ २२ ॥

न हि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यद्यासि मैथिलीम् ।
*क्रुद्धायाः परुषं वाक्यं श्रुत्वा यत्त्वमिहागतः ॥ २३ ॥

* पाठान्तरे—"क्रुद्धायाः परुषं श्रुत्वा स्त्रियाश्चत्वमिहागतः ।"

हे लक्ष्मण ! तुम सीता को छोड़ कर चल खड़े हुए—इस बात से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं हूँ। क्योंकि तुम क्रुद्ध स्त्री का कठोर वचन सुन यहाँ चले आये ॥ २३ ॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत्प्रचोदितः ।
क्रोधस्य वशमापन्नो नाकरोः शासनं मम ॥ २४ ॥

तुमने यह काम सर्वथा अनुचित किया जो सीता के कहने पर क्रुद्ध हो, मेरी आज्ञा की अवज्ञा की ॥ २४ ॥

असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया ।
मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥ २५ ॥

देखो यह राक्षस मेरे बाण से घायल हो मरा पड़ा है। यह वही है जो मृग का रूप धारण कर मुझे आश्रम से दूर ले आया है ॥ २५ ॥

विकृष्य चापं परिधाय सायकं
सलीलबाणेन च ताडितो मया ।
मार्गीं तनुं त्यज्य स विक्लबस्वरो
बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥ २६ ॥

मैंने धनुष खींच और उस पर बाण रख साधारण रीति से उसे चला जब एक ही बाण उसके मारा, तब वह बनावटी हिरन का शरीर छोड़, आर्तस्वर करता हुआ केयूरधारी राक्षस हो गया ॥ २६ ॥

शराहतेनैव तदार्तया गिरा
स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसंश्रवम् ।

उदाहृतं तद्वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥ २७ ॥

इति एकोनषष्टितमः सर्गः

जब वह तीर से घायल हुआ, तब दूर तक सुनाई पड़े इतने उच्च कण्ठ से, आर्तनाद कर उसने मेरे कण्ठस्वर का अनुकरण कर वह अत्यन्त दारुण वाक्य कहा, जिसे सुन तुम वैदेही को छोड़ यहाँ चले आये ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का उनसठवां सर्ग पूरा हुआ !

—※—

षष्टितमः सर्गः

—※—

भृशमाव्रजमानस्य[1] तस्याधोवामलोचनम् ।
प्रास्फुरच्चास्खलद्रामो वेपथुश्चाप्यजायत ॥ १ ॥

मारीच का वध कर आश्रम को आते समय श्रीरामचन्द्र जी के वाम नेत्र का नीचे का भाग बार बार फड़का, और चलने में अकस्मात् पैर फिसल गया और शरीर कांपने लगा ॥ १ ॥

[नोट—प्रसिद्ध है कि—

"प्रयाणकालेस्खलनं करोतीष्टस्य भञ्जनं"

अर्थात् यात्रा के समय पैर का फिसलना (अथवा हाथ की छड़ी का गिर कर टूट जाना) अशकुन माना गया है और इसका फल यह है कि, जिस कार्य के लिये जाय वह कार्य सिद्ध न हो।]

---

१ आव्रजमानस्य—आगच्छतः। (गो०) २ वेपथुः—कम्पः। (गो०)

उपालक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः।
अपि क्षेमं नु सीताया इति वै व्याजहार च ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी इन अशकुनों को देख कहने लगे कि, जाने सीता सकुशल है कि, नहीं ॥ २ ॥

त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः।
शून्यमावसथं[1] दृष्ट्वा बभूवोद्विग्नमानसः ॥ ३ ॥

सीता को देखने की अभिलाषा से शीघ्र शीघ्र चल जब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण आश्रम में पहुँचे तब देखा कि भवन सूना पड़ा है। आश्रम को सूना देख वे बहुत घबड़ाये ॥ ३ ॥

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपन्रघुनन्दनः।
तत्र तत्रोटजस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ४ ॥

वे उद्भ्रान्त मनुष्य की तरह हाथों को झटकारते पर्णशाला के भीतर गये और वहां चारों ओर घूम फिर कर सीता को खोजा ॥४॥

ददर्श पर्णशालां च रहितां सीतया तदा।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनीमिव ॥ ५ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने पर्णशाला को सीता जी के वहां न होने से, उसी प्रकार शोभाहीन पाया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमलनी ध्वस्त होने के कारण शोभाहीन हो जाती है ॥ ५ ॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च म्लानपुष्पमृगद्विजम्।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं सन्त्यक्तवनदेवतम् ॥ ६ ॥

---

1 आवसथं—गृहं। (गो०)

उस समय उस आश्रम के वृक्ष मानों रो रहे थे, फूल कुम्हलाये हुए थे और मृग तथा पक्षी उदास हो रहे थे। वनदेवता उस आश्रम को ध्वस्त और शोभाहीन देख, उसे त्याग कर चल दिये थे ॥ ६ ॥

विप्रकीर्णाजिनकुशं विप्रविद्धबृसीकटम् ।
दृष्ट्वा शून्यं निजस्थानं विललाप पुनः पुनः ॥ ७ ॥

उस आश्रम में मृगचर्म और कुश इधर उधर पड़े हुए थे। आसन और चटाई इधर उधर फैंकी हुई पड़ी हुई थीं। अपने आश्रम को सूना देख, श्रीरामचन्द्र जी वार वार विलाप कर रहे थे ॥ ७ ॥

हृता मृता वा नष्टा[1] वा भक्षिता वा भविष्यति ।
निलीनाप्यथ वा भीरुरथवा वनमाश्रिता ॥ ८ ॥

वे कह रहे थे कि, क्या सीता को कोई हर ले गया या वह मर गई या अपने आप अन्तर्धान हो गयी अथवा किसी ने उसे मार कर खा डाला, अथवा विनोद के लिये वह यह कर रही है अथवा डरपोंक होने के कारण कहीं छिप रही है अथवा वन में चली गयी है ॥ ८ ॥

गता विचेतुं पुष्पाणि फलान्यपि च वा पुनः ।
अथवा पद्मिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता ॥ ९ ॥

अथवा कहीं फूल चुनने और फल लाने को वन में गयी है अथवा जल लाने के लिये किसी सरोवर या नदी पर गयी है ॥ ९ ॥

---

१ नष्टा—याद्दच्छिकमदर्शनं गता । (गो०) २ निलीना—विनोदाय व्यवहिता । (गो०)

यत्नान्मृगयमाणस्तु नाससाद वने प्रियाम् ।
शोकरक्तेक्षणः शोकादुन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ १० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यत्न पूर्वक ढूँढ़ने पर भी उस वन में अपनी प्यारी सीता को कहीं न पाया, तब शोक के मारे उनकी आँखें लाल हो गयीं और मारे शोक के वे उन्मत्त की तरह हो गये ॥ १० ॥

वृक्षाद्वृक्षं प्रधावन्स गिरेश्चाद्रिं नदान्नदीम् ।
बभूव विलपन्रामः शोकपङ्कार्णवाप्लुतः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी शोक रूपी कीचड़ के समुद्र में डूब कर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक, एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ तक और एक नदी से दूसरी नदी तक विलाप करते हुए दौड़ते फिरते थे ॥ ११ ॥

अपि कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥ १२ ॥

(वे विलाप करके कहते थे) हे कदंब वृक्ष ! तुम्हारे फूलों पर विशेष अनुराग रखने वाली मेरी प्रिया शुभानना सीता का पता यदि तुम्हें मालूम हो तो बतलाओ ॥ १२ ॥

स्निग्धपल्लवसङ्काशा पीतकौशेयवासिनी ।
शंसस्व यदि वा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी ॥१३॥

हे बिल्व वृक्ष ! उस बिल्व-फल-सदृश स्तन वाली, पल्लव समान कान्ति युक्त, पीली रेशमी साड़ी पहिने हुए सीता को, यदि तुमने देखा हो तो मुझे बतलाओ ॥ १३ ॥

अथवाऽर्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम् ।
जनकस्य सुता भीरुर्यदि जीवति वा न वा ॥ १४ ॥

अथवा हे अर्जुन वृक्ष ! मेरी प्यारी सीता तुमको बहुत चाहती थी, सो वह जनकदुलारी और डरपोंक जानकी जीवित है कि नहीं- सो बतलाओ ॥ १४ ॥

ककुभः ककुभोरूं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम् ।
यथा पल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः ॥ १५ ॥

यह ककुभ का पेड़, ककुभ के समान जाघों वाली सीता को निश्चय ही जानता होगा। क्योंकि यह वनस्पति, लता, पत्ते और पुष्पों से कैसा लदा हुआ है ? ॥ १५ ॥

भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्ययम् ।
एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥ १६ ॥

यह तिलक-वृक्ष तो तिलक-वृक्ष-प्रिय सीता का पता अवश्य जानता होगा; देखो इस वृक्ष श्रेष्ठ तिलक वृक्ष के ऊपर भौंरे कैसे गूंज रहे हैं ॥ १६ ॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसम् ।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासन्दर्शनेन माम् ॥ १७ ॥

हे अशोक वृक्ष ! तुम शोक के नाश करने वाले हो। अतः तुम शोक से हतचित्त मुझको शीघ्र मेरी प्रिया से मिला कर, मुझे अपने जैसे नाम वाला (अर्थात् अशोक—शोकरहित) कर दो ॥ १७ ॥ —

यदि ताल त्वया दृष्टा पक्वतालफलस्तनी ।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि ॥ १८ ॥

हे ताल वृक्ष ! यदि तुमने पके हुए ताल फल के आकार सदृश स्तनवाली सीता को देखा हो और मेरे ऊपर तुम ज़रा भी दया करते हो, तो मुझे बतलाओ कि, वह वरारोहा सीता कहाँ है ? ॥ १८ ॥

यदि दृष्टा त्वया सीता जम्बु जाम्बूनदप्रभा* ।
प्रियां यदि विजानीषे निःशङ्कं कथयस्व मे ॥ १९ ॥

हे जामुन वृक्ष ! यदि सुवर्ण समान प्रभावाली मेरी प्रिया को तुमने देखा हो तो निःसङ्कोच हो बतला दो ॥ १९ ॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य सुपुष्पैः शोभसे भृशम् ।
कर्णिकारप्रिया साध्वी शंस दृष्टा प्रिया यदि ॥ २० ॥

हे कर्णिकार ! आज तो तुम पुष्पों से पुष्पित हो अत्यन्त शोभित हो रहे हो। यदि तुमने मेरी पतिव्रता सीता को देखा हो तो, मुझे बतला दो ॥ २० ॥

चूतनीपमहासालान्पनसान्कुरवान्धवान् ।
दाडिमानसनान्गत्वा दृष्ट्वा रामो महायशाः ॥ २१ ॥
मल्लिका माधवीश्चैव चम्पकान्केतकीस्तथा ।
पृच्छन्रामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ २२ ॥

इसी प्रकार महायशस्वी श्रीरामचन्द्र, आम, कदंब बड़े बड़े साखू, कटहर, कुरट, अनार, मौलसिरी, नागकेसर, चंपा और

* पाठान्तरे—"जम्बुफलोपमाम्" ।

केतकी के वृक्षों के पास जा उनसे पूंछते हुए उन्मत्त की तरह वन में देख पड़ते थे ॥ २१ ॥ २२ ॥

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम् ।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत् ॥ २३ ॥

(केवल वृक्षों ही से नहीं श्रीरामचन्द्र जी ने सीता का हाल वन के पशुओं से भी पूंछा । वे मृगों से बोले)—हे मृगों ! क्या तुम उस मृगनयनी सीता का कुछ हाल जानते हो । अवश्य मृगों की तरह देखने वाली मेरी कान्ता हिरनियों के साथ होगी ॥ २३ ॥

गज सा गजनासोरुर्यदि दृष्टा त्वया भवेत् ।
तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण ॥ २४ ॥

हे गजेन्द्र ! तुम्हारी सूंड के समान आकार की जांघों वाली सीता को क्या तुमने कहीं देखा है ? मैं तो समझता हूं तुम उसका पता अवश्य जानते हो—सो तुम उसका पता मुझे बतलाओ ॥ २४ ॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना ।
मैथिली मम विस्रब्धं कथयस्व न ते भयम् ॥ २५ ॥

हे शार्दूल ! यदि चन्द्रानना मेरी प्यारी मैथिली तुम्हारी जान में कहीं हो, तो मुझ पर विश्वास कर और निर्भय हो मुझे बतला दो ॥ २५ ॥

किं धावसि प्रिये *दूरं दृष्टासि कमलेक्षणे ।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥ २६ ॥

* पाठान्तरे— 'नूनं', 'मैथ्य'

हे कमलेक्षणे! मैंने तुम्हें देख लिया। अब तुम क्यों दूर भागी जाती हो। वृक्षों की आड़ में क्यों छिपती हो। मुझसे बातचीत क्यों नहीं करती? ॥ २६ ॥

तिष्ठतिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि।
नात्यर्थं हास्यशीलाऽसि किमर्थं मामुपेक्षसे ॥ २७ ॥

हे वरारोहे! खड़ी रह, खड़ी रह। क्या तुझको मेरे ऊपर दया नहीं आती। तेरा तो स्वभाव इतना हास्यप्रिय नहीं था, फिर तू क्यों मेरी ऐसी उपेक्षा कर रही है ॥ २७ ॥

पीतकौशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम् ॥ २८ ॥

हे वरवर्णिनी (सुन्दर वर्ण धारिणी)! तेरी पीली साड़ी से मैंने तुझको पहिचान लिया और दौड़ती हुई तुझे देख लिया। यदि तू मेरी हितैषिणी हो तो अब खड़ी रह ॥ २८ ॥

नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति ॥ २९ ॥

अथवा हे चारुहासिनी! मैंने जिसको देखा है वह तुम नहीं हो। तुमको तो अवश्य ही किसी ने मार डाला। यदि ऐसा न होता, तो मुझे इस दारुण दुःख में पड़ा सीता मेरी उपेक्षा न करती ॥२९॥

व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ॥ ३० ॥

अवश्य ही मांस खाने वाले राक्षसों ने मेरी अनुपस्थिति में मेरी प्रिया के अंगों के टुकड़े टुकड़े करके उसे खा डाला ॥ ३० ॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं चारुकुण्डलम् ।
पूर्णचन्द्रमिव ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥ ३१ ॥

ओहो! उसका वह पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य मुख, जो सुन्दर दांतों और ओंठों से युक्त तथा सुन्दर नासिका से शोभित एवं कुण्डलों से भूषित था, राक्षसों द्वारा ग्रस्त होने पर निश्चय ही प्रभाहीन अर्थात् फीका पड़ गया होगा ॥ ३१ ॥

सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयशोभिता ।
कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥३२॥

हा! उस विलाप करती हुई चम्पकवर्णी की, हार पचलड़ी आदि आभूषणों से शोभित, कोमल एवं सुन्दरी ग्रीवा, राक्षसों ने काट कर खा डाली होगी ॥ ३२ ॥

नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ ।
भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ ॥ ३३ ॥

नवीन पत्तों की तरह कोमल और हाथों में पहनने योग्य आभूषणों से भूषित, उसकी छटपटाती हुई दोनों भुजाओं को राक्षसों ने खा डाला होगा ॥ ३३ ॥

मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै ।
[1]सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥ ३४ ॥

---

१ सार्थेन—पथिकसमुदायेन। (गो०)

राक्षसों द्वारा खाये जाने के लिये ही वह मुझसे अलहदा हुई, जैसे पथिकों के समूह से बिछुड़ी हुई स्त्री, अनेक भाई बंदों के रहने पर भी—नष्ट हो जाती है ॥ ३४ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसि त्वं प्रियां क्वचित् ।
हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
इत्येवं विलपन्रामः परिधावन्वनाद्वनम् ।
क्वचिदुद्भ्रमते वेगात्क्वचिद्विभ्रमते[1] बलात् ॥ ३६ ॥

हा महाबाहो ! हा लक्ष्मण ! क्या तुम्हें मेरी प्यारी कहीं देख पड़ती है ? हा भद्रे ! हा सीते ! तुम कहाँ चली गयीं ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्र बार बार विलाप करते हुए वन में इधर उधर दौड़ते फिरते थे। कभी दौड़ते दौड़ते वे गिर पड़ते और कभी हवा के बवंडर की तरह चक्कर काटने लगते थे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

क्वचिन्मत्त इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः ।
स वनानि नदीः शैलान्गिरिप्रस्रवणानि च ।
काननानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः ॥ ३७ ॥

कभी श्रीरामचन्द्र जी उन्मत्त की तरह देख पड़ते थे। कभी कभी वे सीता जी को ढूढ़ते हुए वेग सहित नदी, पहाड़, झरने, और वनों में घूम फिर रहे थे ॥ ३७ ॥

तथा स गत्वा विपुलं महद्वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति ।

---

१ विभ्रमते—चाल्येव भ्रमणं प्राप्नोति । (शि०)

¹अनिष्ठिताशः स चकार मार्गणे
पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम् ॥ ३८ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

सीता के मिलने की पूर्ण आशा रख, अथवा सीता के मिलने की आशा को परित्याग न कर, श्रीरामचन्द्र उस विशाल वन में बराबर भ्रमण करते हुए बार बार सीता को खोजने का श्रम उठाने लगे। अथवा आशा परित्याग न करके श्रीरामचन्द्र जो बार बार बड़े परिश्रम के साथ उस विशाल वन में घूम कर सीता को खोज रहे थे ॥ ३८ ॥

अरण्यकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकषष्टितमः सर्गः

—:*:—

दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं शून्यं रामो दशरथात्मजः।
रहितां पर्णशालां च विध्वस्तान्यासनानि च ॥ १ ॥

इस प्रकार सारा वन मथ श्रीरामचन्द्र जी फिर अपने आश्रम में आये। तब भी उन्होंने देखा कि, आश्रम सूना पड़ा है और आसन चटाई आदि भी इधर उधर पड़ी हैं ॥ १ ॥

अदृष्ट्वा तत्र वैदेहीं सन्निरीक्ष्य च सर्वशः।
उवाच रामः प्राक्रुश्य प्रगृह्य रुचिरौ भुजौ ॥ २ ॥

---

१ अनिष्ठिताशः—अनिष्पन्नाशः सन्। (गो०)

सर्वत्र खोजने पर भी सीता को न देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण की दोनों सुन्दर भुजाओं को पकड़ उच्चस्वर से बोले ॥ २ ॥

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता ।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता कहाँ है ? वह यहाँ से कहाँ गयी ? अथवा यहाँ से उसे कोई पकड़ कर ले गया ? अथवा किसी ने उसे खा डाला ? ॥ ३ ॥

वृक्षेणाच्छाद्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम् ॥ ४ ॥

हे सीते ! वृक्ष की ओट में छिप यदि तुम मुझसे हँसी करती हो, तो अब और अधिक हँसी कर मुझे दुःखी मत करो ॥ ४ ॥

यैः सह क्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः ।
एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यास्राविलेक्षणाः ॥ ५ ॥

हे सीते ! तुम जिन पालतू मृगछौनों के साथ खेला करती थीं, वे सब के सब तुम्हारे वियोग में आँसू बहाते, तुम्हें स्मरण कर रहे हैं ॥५॥

सीतया रहितोऽहं वै न हि जीवामि लक्ष्मण ।
*वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता के विना मैं जीता नहीं रह सकता । सीता के हर जाने से उत्पन्न हुए महाशोक ने मुझे घेर लिया है ॥ ६ ॥

परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता ।
कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः ॥ ७ ॥

---

* पाठान्तरे—"मृतं"

अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।
कामवृत्तमनार्यं मां मृषावादिनमेव च ॥ ८ ॥
धिक्त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता ।
विवशं शोकसन्तप्तं दीनं भग्नमनोरथम् ॥ ९ ॥
मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्त्तिर्नरमिवानृजुम्[1] ।
क्व गच्छसि वरारोहे मां नोत्सृज सुमध्यमे ॥ १० ॥

परलोक में मेरी भेंट पितृदेव महाराज दशरथ से अवश्य होगी और वे कहेंगे कि, प्रतिज्ञात वनवास की अवधि को पूरा किये बिना तुम मेरे पास क्यों चले आये? मुझको स्वेच्छाचारी, अनार्य, और मिथ्यावादी, कह कर परलोक में मेरे पिता मुझे अवश्य ही धिक्कारेंगे। हे सीते! विवश, शोकाकुल, दीन, भग्नमनोरथ और दयापात्र मुझको उसी प्रकार छोड़, तुम कहाँ जाती हो. जिस प्रकार कपटाचारी को कीर्ति त्याग कर चली जाती है। हे वरारोहे! हे सुमध्यमे! तुम कहाँ जाती हो? तुम मुझको मत त्यागो ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

त्वया विरहितश्चाहं मोक्ष्ये जीवितमात्मनः ।
इतीव विलपन्रामः सीतादर्शनलालसः ॥ ११ ॥

हे प्रिये! तेरे वियोग में मैं अपने प्राण गँवा दूँगा। श्रीरामचन्द्र जी सीता को देखने की आकांक्षा कर, इस प्रकार विलाप करने लगे ॥ ११ ॥

न ददर्श सुदुःखार्तो राघवो जनकात्मजाम् ।
अनासादयमानं तं सीतां दशरथात्मजम् ॥ १२ ॥

---

१ अनृजुं—कपटाचारं । (गो०)

इस प्रकार अत्यन्त दुःख से आर्त्त होने पर भी सीता जी को न पा कर दशरथनन्दन ॥ १२ ॥

पङ्कमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुञ्जरम् ।
लक्ष्मणो राममत्यर्थमुवाच हितकाम्यया ॥ १३ ॥

कीचड़ में फँसे हुए हाथी की तरह, शोक में मग्न हो गये। तब लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी को हितकामना के लिये उनसे बोले ॥ १३ ॥

मा विषादं महाबाहो कुरु यत्नं मया सह ।
इदं च हि वनं शूर बहुकंदरशोभितम् ॥ १४ ॥

हे बड़ी भुजाओं वाले! आप दुःखी न हूजिये। आइये मेरे साथ सीता को ढूढ़ने का प्रयत्न कीजिये। हे वीर! इस वन में बहुत सी कंदराएं (गुफाएं) हैं ॥ १४ ॥

प्रियकाननसञ्चारा वनोन्मत्ता च मैथिली ।
सा वनं वा प्रविष्टा स्यान्नलिनीं वा सुपुष्पिताम् ॥१५॥

जानकी जी को वन में घूमना प्रिय है। इसीसे वे वन को देख उन्मत्त सी हो जाती हैं। अतः या तो वे कहीं इस वन में घूम रही होंगी अथवा किसी पुष्पित कमलों से शोभित सरोवर पर होंगी ॥१५॥

सरितं वाऽपि सम्प्राप्ता मीनवञ्जुल[1]सेविताम् ।
स्नातुकामा निलीना स्याद्धासकामा वने क्वचित् ॥१६॥

हो सकता है वे मछलियों और वञ्जुल पक्षियों से सेवित नदी में स्नान करने गयी हों अथवा हम दोनों के साथ हँसी करने को कहीं छिपी बैठी हों ॥ १६ ॥

---

१ वञ्जुलो वेतसः। (गो०)

वित्रासयितुकामा वा लीना स्यात्कानने क्वचित् ।
जिज्ञासमाना[1] वैदेही त्वां मां च पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥

अथवा हमको तंग करने के लिये इस वन में कहीं छिप गयी हों, अथवा आपकी और मेरी, खोजने की शक्ति की परीक्षा ले रही हों ॥ १७ ॥

तस्या ह्यन्वेषणे श्रीमन्क्षिप्रमेव यतावहै ।
वनं सर्वं विचिनुवो यत्र सा जनकात्मजा ॥ १८ ॥

अतएव हे श्रीमन्! हम दोनों को उनके खोजने में शीघ्र यत्नवान् होना चाहिये। जहां हो वहां जानकी को पाने के लिये हमको यह सारा वन मझाना चाहिये ॥ १८ ॥

मन्यसे यदि काकुत्स्थ मा स्म शोके मनः कृथाः ।
एवमुक्तस्तु सौहार्दाल्लक्ष्मणेन समाहितः ॥ १९ ॥

हे काकुत्स्थ! यदि आप मेरा कहना मानें तो शोकाकुल मत हूजिये। इस प्रकार जब लक्ष्मण जी ने सौहार्द्र से समझाया तब श्रीरामचन्द्र जी का चित्त ठिकाने हुआ और ॥ १९ ॥

सह सौमित्रिणा रामो विचेतुमुपचक्रमे ।
तौ वनानि गिरींश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के साथ सीता को खोजने लगे। अब वे दोनों वनों पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को ढूंढने लगे ॥ २० ॥

---

1 जिज्ञासमाना —आवयोरन्वेषणादिसामर्थ्यं जिज्ञासमानेत्यर्थः । गो०

निखिलेन विचिन्वानौ सीतां दशरथात्मजौ ।
तस्य शैलस्य सानूनि[1] गुहाश्च शिखराणि च ॥ २१ ॥

दशरथनन्दन उन दोनों राजकुमारों ने रत्ती रत्ती कर सारे वनों, पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को ढूढा। उन्होंने वहाँ के पर्वत के शिला प्रदेशों, कंदराओं और शिखरों को भी देखा ॥ २१ ॥

निखिलेन विचिन्वानौ नैव तामभिजग्मतुः ।
विचित्य सर्वतः शैलं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २२ ॥

यद्यपि उन्होंने रत्ती रत्ती वन मझाया, किन्तु सीता का पता न लगा। सारा पहाड़ खोज कर श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा ॥२२॥

नेह पश्यामि सौमित्रे वैदेहीं पर्वते शुभाम् ।
ततो दुःखाभिसन्तप्तो लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥
विचरन्दण्डकारण्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।
प्राप्स्यसि त्वं महाप्राज्ञ मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ २४ ॥
यथा विष्णुर्महाबाहुर्बलिं बद्ध्वा महीमिमाम् ।
एवमुक्तस्तु सौहार्दाल्लक्ष्मणेन स राघवः ॥ २५ ॥

हे लक्ष्मण! इस पहाड़ पर तो सीता नहीं दिखलाई पड़ती। तब दुःख से सन्तप्त लक्ष्मण, दण्डकवन में विचरते हुए एवं तेजस्वी श्रीरामचन्द्र से बोले—हे महाप्राज्ञ! तुम्हें जानकी जी वैसे ही मिलेगी जैसे बलि को बाँध, विष्णु को यह पृथिवी मिली थी। इस प्रकार सौहार्द्र से लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥२३॥२४॥२५॥

---

[1] सानूनि—शिलाप्रदेशान । (शि०)

उवाच दीनया वाचा दुःखाभिहतचेतनः ।
वनं सर्वं सुविचितं पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ॥ २६ ॥
गिरिश्चायं महाप्राज्ञ बहुकंदरनिर्झरः ।
न हि पश्यामि वैदेहीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २७ ॥

तब दुःख से विकल हो श्रीरामचन्द्र जी दीन वाणी से लक्ष्मण से कहने लगे । हे महाप्राज्ञ ! मैंने समस्त वन और खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरें, यह पहाड़, बहुत सी कंदराएं और अनेक झरने भली भाँति खोजें, किन्तु प्राणों से भी बढ़ कर वैदेही न मिली ॥ २६ ॥ २७ ॥

एवं स विलपन्रामः सीताहरणकर्शितः ।
दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलोऽभवत्[1] ॥ २८ ॥

सीता-हरण से व्यथित श्रीरामचन्द्र इस प्रकार विलाप करते हुए उदास और शोकाकुल हो दो घड़ी के लिये परवश हो गये ॥ २८ ॥

सन्तप्तो ह्यवसन्नाङ्गो[2] गतबुद्धिर्[3]विचेतनः[4] ।
निषसादातुरो दीनो निःश्वस्यायतमायतम् ॥ २९ ॥

वे सन्तप्त होने के कारण कृशाङ्ग, निस्संज्ञ, निश्चेष्ट, आर्त्त और दीन हो कर गरम और लंबी साँसें लेने लगे ॥ २९ ॥

बहुलं स तु निःश्वस्य रामो राजीवलोचनः ।
हा प्रियेति विचुक्रोश बहुलो बाष्पगद्गदः ॥ ३० ॥

---

१ विह्वलः--परवशः (गो०) २ अवसन्नाङ्गः—कृशाङ्गः । (गो०) ३ गतबुद्धिः—निस्संज्ञः । (गो०) ४ विचेतनः—निश्चेष्टः । (गो०)

राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र बारंबार लंबी साँसें ले और "हा प्रिये" कह तथा गद्गद हो, उच्च स्वर से रोने लगे ॥ ३० ॥

तं ततः सान्त्वयामास लक्ष्मणः प्रियबान्धवः ।
बहुप्रकारं धर्मज्ञः प्रश्रितं प्रश्रिताञ्जलिः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी दशा देख, उनके प्यारे भाई धर्मज्ञ लक्ष्मण जी ने, विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर, उनको अनेक प्रकार से सान्त्वना प्रदान की ॥ ३१ ॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं लक्ष्मणोष्ठपुटाच्च्युतम् ।
अपश्यंस्तां प्रियां सीतां प्राक्रोशत्स पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

इतिः एकषष्टितमः सर्गः ॥

किन्तु श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण की कही बातों का तिरस्कार कर, और प्यारी सीता को न देख, बार बार उच्चस्वर से रोने लगे ॥ ३२ ॥

अरण्यकाण्ड का इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

द्विषष्टितमः सर्गः

सीतामपश्यन्धर्मात्मा कामोपहतचेतनः ।
विललाप महाबाहू रामः कमललोचनः ॥ १ ॥

महाबाहु, धर्मात्मा और कमललोचन श्रीरामचन्द्र, सीता जी को न देख, मारे शोक के चेतनाशून्य हो विलाप करने लगे ॥ १ ॥

पश्यन्निव स तां सीतामपश्यन्मदनार्दितः ।
उवाच राघवो वाक्यं विलापाश्रयदुर्वचम् ॥ २ ॥

सीता को न देख कर भी मानों देखते हुए श्रीरामचन्द्र काम से पीड़ित हो गद्गद कण्ठ से बोले ॥ २ ॥

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतया प्रिये ।
आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी ॥ ३ ॥
कदलीकाण्डसदृशौ कदल्या संवृतावुभौ ।
ऊरू पश्यामि ते देवि नासि शक्ता निगूहितुम् ॥ ४ ॥

हे पुष्पों की चाहने वाली और मेरे शोक को बढ़ाने वाली प्रिये ! तू अपने शरीर को अशोक की शाखाओं से छिपाती है और केले के वृक्ष के समान अपनी दोनों जाँघों को केले के वृक्ष से छिपा तो रही है; किन्तु छिपा नहीं सकती, मैं उनको देख रहा हूँ ॥ ३ ॥ ४ ॥

कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे ।
अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै ॥ ५ ॥

हे भद्रे ! हे देवि ! तू हसती हुई कर्णिकार के वन में विचर रही है, किन्तु मुझको पीड़ा दे कर; अतः अब मेरे साथ ठट्ठा मत कर ॥ ५ ॥

परिहासेन किं सीते परिश्रान्तस्य मे प्रिये ।
अयं स परिहासोऽपि साधु देवि न रोचते ॥ ६ ॥

हे प्रिये सीते ! मुझ परिश्रान्त के साथ ठठ्ठा करने से क्या लाभ ? यह तेरा परिहास करना ठीक न होने के कारण मुझे पसंद नहीं है ॥ ६ ॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते ।
अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये ॥ ७ ॥

हे प्रिये ! मुझे यह मालूम है कि, तू परिहास-प्रिय है, परन्तु विशेष कर इस आश्रम-स्थान में परिहास करना अच्छा नहीं ॥ ७ ॥

आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव ।
सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृताऽपि वा ॥ ८ ॥
न हि सा विलपन्तं मामुपसंप्रैति लक्ष्मण ।
एतानि मृगयूथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण ॥ ९ ॥

हे विशालाक्षी ! यह तेरी पर्णकुटी सूनी पड़ी है, सो यहाँ आ ! हे लक्ष्मण ! स्पष्ट जान पड़ता है कि, राक्षसों ने सीता को खा डाला या वे उसे हर ले गये । क्योंकि मुझे विलाप करते देख कर भी वह मेरे पास नहीं आती । हे लक्ष्मण ! देखो ये मृगों के झुंड आँखों में आँसू भर ॥ ८ ॥ ९ ॥

शंसन्तीव हि वैदेहीं भक्षितां रजनीचरैः ।
हा ममार्ये[1] क्व यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि ॥१०॥

मानों कह रहे हैं कि, राक्षसों ने सीता को खा डाला है । हे मेरी पूज्ये ! हे पतिव्रते ! हे वरवर्णिनि ! तू कहाँ गयी ? ॥ १० ॥

---

१ आर्ये—पूज्ये । (गो०)

हा सकामा त्वया देवी कैकेयी सा भविष्यति ।
सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥ ११ ॥

हे देवि! मेरे कारण कैकेयी सफलमनोरथ होगी। क्योंकि वह देखेगी कि, सीता सहित मैं घर से निकला था और जाऊँगा सीता रहित ॥ ११ ॥

कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तः पुरं पुनः ।
निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥ १२ ॥

मुझसे किस प्रकार सीता विना सूने अन्तःपुर में फिर जाया जायगा? सब लोग मुझको पराक्रमहीन और निठुर बतलावेंगे ॥१२॥

कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।
निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥ १३ ॥

सीता के हर जाने से मेरा कातरपन तो स्पष्ट ही है। मैं जब वनवास से लौट कर जाऊँगा तब मिथिलेश जनक ॥ १३ ॥

कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् ।
विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥ १४ ॥

मुझसे जानकी की कुशल पूछेंगे। उस समय मैं क्यों कर उनके सामने अपनी आँखें कर सकूँगा। विदेहराज सीता रहित मुझको देख निश्चय ॥ १४ ॥

दुहितृस्नेहसन्तप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।
अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥ १५ ॥

अपनी बेटी जानकी के नाश से सन्तप्त हो मूर्च्छित हो जायँगे। अथवा मैं भरत द्वारा पालित अयोध्या में जाऊँ ही नहीं ॥ १५ ॥

स्वर्गोऽपि सीतया हीनः शून्य एव मतो मम।

मामिहोत्सृज्य हि वने गच्छायोध्यां पुरीं शुभाम् ॥१६॥

अयोध्या की तो बात ही क्या है, मेरे मतानुसार तो सीता के बिना स्वर्ग भी सूना है। अतएव हे लक्ष्मण! तुम मुझको इस वन में छोड़ अयोध्या को चले जाओ ॥ १६ ॥

न त्वहं तां सीतां जीवेयं हि कथञ्चन।

गाढमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात्त्वया ॥ १७ ॥

क्योंकि मैं सीता बिना किसी प्रकार भी जीवित नहीं रह सकता। वहाँ जा और भरत को गाढ़ आलिंगन कर मेरी ओर से कहना ॥ १७ ॥

अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुन्धराम्।

अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो ॥ १८ ॥

कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाज्ञया।

रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तकारिणा ॥ १९ ॥

कि, श्रीरामचन्द्र जी ने यह आज्ञा दी है कि, तुमही पृथिवी का पालन करो। मेरी माता, कैकेयी और अपनी माता सुमित्रा और कौशल्या को यथाक्रम मेरी ओर से प्रणाम करना! हे लक्ष्मण! मेरे आज्ञानुवर्ती आपको उचित है कि, माताओं की यत्नपूर्वक रक्षा करते रहना ॥ १८ ॥ १९ ॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रकर्शन।

विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत् ॥ २० ॥

हे परन्तप! तुम सीता का तथा मेरे विनाश का वृत्तान्त भी मेरी जननी से विस्तार पूर्वक कह देना ॥ २० ॥

इति विलपति राघवे सुदीने
वनमुपगम्य तया विना सुकेश्या ।
भयविकलमुखस्तु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव ॥ २१ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्ग ॥

श्रीरामचन्द्र जी सुकेशी सीता के विरह में अत्यन्त विकल हो, इस प्रकार से विलाप करने लगे। भय और विकलता से लक्ष्मण जी भी व्यथित हो अत्यन्त आतुर हो गये ॥ २१ ॥

अरण्यकाण्ड का बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—※—

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
कायेन शोकेन च पीडयमानः ।
विषादयन्भ्रातरमार्तरूपो
भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम् ॥ १ ॥

राजपुत्र श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी सीता के विना काम और शोक से पीड़ित होने के कारण भाई लक्ष्मण को भी विषादयुक्त कर स्वयं भी फिर अत्यन्त विषादयुक्त हुए ॥ १ ॥

स लक्ष्मणं शोकवशाभिपन्नं
शोके निमग्नो विपुले तु रामः ।
उवाच वाक्यं व्यसनानुरूपम्
उष्णं विनिःश्वस्य रुदन्सशोकम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी विपुल शोक में निमग्न हो, गरम साँस ले, शोक व्याकुल लक्ष्मण से, शोक के कारण रो कर बोले ॥ २ ॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम् ।
शोकेन शोको हि परम्पराया
मामेति भिन्दन्हृदयं मनश्च ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि, मेरे समान दुष्कर्म करने वाला दूसरा पुरुष इस पृथिवी पर नहीं है। देखो न, एक के बाद एक, इस प्रकार लगातार शोक मेरे हृदय और मन को विदीर्ण किये डालता है ॥ ३ ॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ ४ ॥

पहले जन्म में निश्चय ही मैंने बद बद कर अनेक बार बहुत से पाप किये हैं, उन्हींका कर्मविपाक आज मुझे भोगना पड़ता है और इसीसे मेरे ऊपर दुःख के ऊपर दुःख पड़ रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः
पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगम्[1]
आपूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो न, राज्य का नाश, स्वजनों का वियोग, पिता का मरण, जननी से बिछोह, इन बातों का जब मैं स्मरण करता हूँ तब मेरा हृदय शोकों से परिपूर्ण हो जाता है ॥ ५ ॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं
शान्तं शरीरे वनमेत्य शून्यम् ।
सीतावियोगात्पुनरप्युदीर्णं
काष्ठैरिवाग्निः सहसा प्रदीप्तः ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! इस शून्य वन में आने पर, मैं इन सब दुःखों को भूल सा गया था। किन्तु सीता के वियोग से, काठ के संयोग से सहसा प्रज्वलित आग की तरह, वे भूले हुए दुःख फिर हरे हो गये हैं ॥ ६ ॥

सा नूनमार्या मम राक्षसेन
बलाद्धृता खं समुपेत्य भीरुः ।

---

१ शोकवेगं—शोकराशिं । (गो०) २ प्रविचिन्तितानि—स्मृतानि । (गो०)

अपस्वरं सस्वरविप्रलापा
भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम् ॥ ७ ॥

निस्सन्देह कोई राक्षस उसी भीरु स्वभाव वाली पूज्या सीता को, आकाशमार्ग से ले गया है और उस समय वह भयभीत हो, विकृत स्वर से बारंबार रोई और चिल्लाई होगी ॥ ७ ॥

तौ लोहितस्य[1] प्रियदर्शनस्य
सदोचितावुत्तमचन्दनस्य ।
वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ
नूनं प्रियाया मम नाभिभातः ॥ ८ ॥

गोल और लाल चन्दन जैसे लाल रंग वाले और देखने में प्रिय लगने वाले मेरी प्रिया जानकी जी के स्तन, जो सदा उत्तम चन्दन से चर्चित होने योग्य हैं, वे अवश्य ही गाढ़े गाढ़े लोहू से सन गये होंगे ॥ ८ ॥

तच्छ्लक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं
तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।
रक्षोवशं नूनमुपागतायाः
न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥ ९ ॥

मधुर, स्पष्ट और कोमल वचनों का बोलने वाला और सुन्दर घुंघराले बालों के बीच शोभित मेरी प्रिया का मुख, राक्षस के वश में होने से वैसे ही शोभायमान नहीं होता होगा जैसे राहु से ग्रस्त चन्द्रमा शोभायमान नहीं होता ॥ ९ ॥

---

1 लोहितस्य—लोहिताख्यस्य उत्तम चन्दनस्य । (गो०)

तां हारपाशस्य सदोचिताया
ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।
रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
विभिद्य शून्ये रुधिराशनानि ॥ १० ॥

मेरी पतिव्रता प्रिया की वह सुन्दर गरदन जो सदा हारों से भूषित रहती थी, निश्चय ही एकान्त पा, रुधिर पीने वाले राक्षसों ने उसे चीर कर उसका रुधिर पिया होगा ॥ १० ॥

मया विहीना विजने वने या
रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा ।
नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥ ११ ॥

मेरी अनुपस्थिति में जब निर्जन वन में राक्षसों ने चारों ओर से घेर कर सीता को खींचा होगा, तब उस बड़े नेत्र वाली ने अवश्य ही कुररी की तरह बड़ा आर्तनाद किया होगा ॥ ११ ॥

अस्मिन्मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! उदार स्वभाव वाली सीता, मेरे साथ इस शिला पर बैठ मनोहर हास्यपूर्वक तुमसे कितनी ही बातें कहा करती थी ॥ १२ ॥

गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा
प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! यह नदियों में श्रेष्ठ गोदावरी नदी मेरी प्रिया को सर्वदा अत्यन्त प्यारी थी सो मैं सोचता हूँ कि, कदाचित् नदी के तट पर गयी हो, किन्तु वह अकेली तो वहाँ कभी नहीं जाती ॥१३॥

पद्मानना पद्मविशालनेत्रा
पद्मानि वानेतुमभिप्रयाता ।
तदप्ययुक्तं न हि सा कदाचिन्
मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥ १४ ॥

फिर मैं यह भी सोचता हूँ कि, वह कमलमुखी और कमल के समान विशाल नेत्र वाली कहीं कमल के फूल लाने को न गयी हो ; किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि मेरे विना वह कमल लेने भी नहीं जाती ॥ १४ ॥

कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं
नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्तम्
एकाकिनी साऽतिबिभेति भीरुः ॥ १५ ॥

अथवा इस फूले हुए वृक्षों के समूह से शोभित तथा भाँति भाँति के पक्षियों से युक्त इस वन को देखने वह अपनी इच्छा से

गयी हो ! किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह डरपोंक स्वभाव की होने के कारण अकेली वन में जाते बहुत डरती थी ॥ १५ ॥

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा
शंसस्व मे शोकवशस्य सत्यम् ॥ १६ ॥

हे सूर्यदेव ! तुम लोगों के किये अनकिये तथा पाप पुण्य मय कर्मों के साक्षी हो। मुझे यह तो सत्य सत्य बतलाओ कि, मेरी प्रिया कहाँ गयी ; अथवा उसको कोई हर कर ले गया ? क्योंकि मैं इस समय शोक से विकल हो रहा हूँ ॥ १६ ॥

लोकेषु सर्वेषु च नास्ति किञ्चि-
द्यत्तेन नित्यं विदितं भवेत्तत् ।
शंसस्व वायो कुलशालिनीं तां
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ १७ ॥

हे पवनदेव ! समस्त लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो नित्य आपकी जानकारी में न आती हो। अतएव आप ही उस कुल-मर्यादा की रखने वाली सीता के विषय में यह बतलाओ कि, वह मर गई या किसी ने उसे हर लिया या वह इसी वन के किसी मार्ग में है ॥ १७ ॥

इतीव तं शोकविधेयदेहं
रामं विसंज्ञं विलपन्तमेवम् ।

* पाठान्तरे "नित्यम्" ।

उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो
न्याये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥१८॥

जब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को शोक से विह्वल हो इस प्रकार अव्यवस्थित चित्त वाले मनुष्य की तरह विलाप करते देखा, तब लक्ष्मण ने दीनता त्याग न्यायानुमोदित एवं कालोचित वचन श्रीरामचन्द्र जी से कहे ॥ १८ ॥

शोकं विमुञ्चार्य धृतिं भजस्व
सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः ।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥ १९ ॥

हे आर्य! शोक को त्यागिये और धैर्य को धारण कीजिये। तदनन्तर उत्साह पूर्वक जानकी जी को ढूंढ़िये। क्योंकि जो लोग उत्साही होते हैं वे दुष्कर कार्यों के करने में भी कभी दुःख नहीं पाते ॥ १९ ॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपौरुषं[1]
ब्रुवन्तमार्तो रघुवंशवर्धनः ।
न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्
पुनश्च दुःखं महदभ्युपागमत् ॥ २० ॥

इति त्रिषष्टितमः सर्गः ॥

---

१ उदग्रपौरुषं—श्रेष्ठपराक्रमं। (गो०)

श्रेष्ठ पराक्रमी लक्ष्मण के यह कहने पर भी श्रीरामचन्द्र ने आर्त होने के कारण लक्ष्मण जी के कथन को सुना अनसुना कर दिया। बल्कि वे धैर्य छोड़ पुनः अत्यन्त दुःखी हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ

—*—

चतुःषष्टितमः सर्ग

—*—

स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।
शीघ्रं लक्ष्मण जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम् ॥ १ ॥

दीनता को प्राप्त श्रीरामचन्द्र दीन वचन कह लक्ष्मण से बोले—हे लक्ष्मण! तुम शीघ्र गोदावरी के तट पर जाकर देख आओ कि ॥ १ ॥

अपि गोदावरीं सीता पद्मान्यानयितुं गता ।
एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः *पुनरेव हि ॥ २ ॥
नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः[1] ।
तां लक्ष्मणस्तीर्थवतीं विचित्वा राममब्रवीत् ॥ ३ ॥
नैनां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे ।
कं नु सा देशमापन्ना वैदेही क्लेशनाशिनी ॥ ४ ॥

जानकी कहीं कमल के फूल लेने तो वहाँ नहीं गयी। श्रीरामचन्द्र जी के पुनः वही बात कहने पर शीघ्रगामी लक्ष्मण तुरन्त

---

१ लघुविक्रमः—अतिशीघ्रपादप्रक्षेपवान् लक्ष्मणः। (शि०)

पाठान्तरे—" परवीरहा।"

गोदावरी के तट पर पहुँचे और उस सुन्दर घाटों वाली गोदावरी के चारों ओर देख भाल कर श्रीरामचन्द्र के पास लौट आये और बोले—मैंने सभी घाटों पर उन्हें ढूंढा, किन्तु कहीं भी वे मुझे न मिलीं। मैंने उन्हें पुकारा भी किन्तु मुझे कुछ उत्तर न मिला। नहीं मालूम क्लेशनाशिनी सीता, कहाँ चली गयीं॥ २॥ ३॥ ४॥

न ह्यहं वेद तं देशं यत्र सा जनकात्मजा।
लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दीनः सन्तापमोहितः॥ ५॥

मैं नहीं कह सकता कि, जानकी जी कहाँ हैं? लक्ष्मण जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी उदास और सन्तप्त हो॥ ५॥

रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम्।
स तामुपस्थितो रामः क सीतेत्येवमब्रवीत्॥ ६॥

तथा स्वयं गोदावरी नदी के तट पर जा, कहने लगे—हे सीते! तुम कहाँ हो?॥ ६॥

भूतानि राक्षसेन्द्रेण वधार्हेण हृतामपि।
न तां शशंसू रामाय तथा गोदावरी नदी॥ ७॥

सब प्राणियों ने तथा गोदावरी नदी ने श्रीरामचन्द्र जी से यह न कहा कि, वध करने योग्य रावण सीता को हर कर ले गया है॥ ७॥

ततः प्रचोदिता भूतैः[1] शंसास्मत्तां प्रियामिति।
न तु साऽभ्यवदत्सीतां पृष्टा रामेण शोचता॥ ८॥

तदनन्तर उस वन के प्राणियों ने गोदावरी से अनुरोध किया कि, श्रीरामचन्द्र को बतला दें कि, रावण सीता को हर कर ले गया है।

---

[1] भूतानि—वन्यानि सत्त्वानि। (गो०)

चिन्ताग्रस्त श्रीरामचन्द्र जी ने पूंछा ; किन्तु गोदावरी ने न बतलाया ॥ ८ ॥

रावणस्य च तद्रूपं कर्माणि च दुरात्मनः ।
ध्यात्वा भयात्तु वैदेहीं सा नदी न शशंस ताम् ॥ ९ ॥

क्योंकि रावण की शक्ल और उस दुष्ट के कार्यों का स्मरण कर मारे डर के गोदावरी को साहस न हुआ कि, वह सीता का हाल श्रीराम से कहे ॥ ९ ॥

निराशस्तु तया नद्या सीताया दर्शने कृतः ।
उवाच रामः सौमित्रिं सीताऽदर्शनकर्शितः ॥ १० ॥

सीता जी के दर्शन से इस प्रकार नदी से निराश हो श्रीरामचन्द्र जी ने जो सीता के विरह से पीडित थे, लक्ष्मण जी से कहा ॥१०॥

एषा गोदावरी सौम्य किञ्चिन्न प्रतिभाषते ।
किन्तु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥ ११ ॥
मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम् ।
या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥ १२ ॥
सर्वं व्यपनयेच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता ।
ज्ञातिपक्षविहीनस्य राजपुत्रीमपश्यतः ॥ १३ ॥

हे सौम्य ! देखो यह गोदावरी तो कुछ जवाब ही नहीं देती। अब लौट कर महाराज जनक से तथा सीता की माता से मैं कैसे अप्रिय वचन कहूँगा। जो जानकी वन में उत्पन्न कन्द मूलादि से सन्तुष्ट हो, मुझ राज्य विहीन के सब शोक दूर किया करती थी, वह सीता कहाँ गयी ? एक तो पहले ही मैं कुटुम्बियों से रहित था, अब राजपुत्री जानकी भी नहीं रही ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

मन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः ।
मन्दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्रवणं गिरिम् ॥ १४ ॥
सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि दृश्यते ।
एते मृगा महावीरा मामीक्षन्ते मुहुर्मुहुः ॥ १५ ॥

सो अब ऐसा मुझे जान पड़ता है कि, ये रातें भी जागने के कारण मेरे लिये बहुत बड़ी हो जांयगी। मन्दाकिनी नदी, जनस्थान और इस समस्त प्रस्रवण पहाड़ को चल फिर कर ढूं ढूंगा। कदाचित् सीता से भेंट हो जाय। हे वीर! देखो ये बड़े बड़े मृग मेरी ओर देखते हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

वक्तुकामा इव हि मे इङ्गितान्युपलक्षये ।
तांस्तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥ १६ ॥

इनके सङ्केतों से ऐसा जान पड़ता है मानों ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं। उनकी (मृगों की) ओर देख पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र ने उनसे कहा ॥ १६ ॥

क्व सीतेति निरीक्षन्वै बाष्पसंरुद्धया दृशा ।
एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः ॥ १७ ॥
दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।
मैथिली ह्रियमाणा सा दिशं यामन्वपद्यत ॥ १८ ॥

हे मृगों! सीता कहां है? यह कहते ही श्रीरामचन्द्र जी की आंखों में आंसू भर आये और कण्ठ गद्गद हो गया। श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार पूंछने पर वे मृग शीघ्र उठ कर दक्षिणाभिमुख हो आकाश मार्ग को दिखलाते हुए चले और जिस रास्ते से रावण सीता को हर कर ले गया था, उसी मार्ग से वे आगे बढ़े ॥१७॥१८॥

तेन मार्गेण धावन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम् ।
येन मार्गं च भूमिं च निरीक्षन्ते स्म ते मृगाः ॥ १९ ॥
पुनश्च मार्गमिच्छन्ति लक्ष्मणेनोपलक्षिताः ।
तेषां वचनसर्वस्वं लक्षयामास चेङ्गितम् ॥ २० ॥

उसी मार्ग पर मृग दौड़ते चले जाते थे और मुड़ मुड़ कर पीछे श्रीरामचन्द्र जी को देखते जाते थे। जिस ओर के रास्ते की ओर ज़मीन को वे मृग देखते तथा जाते जाते शब्द करते जाते थे ; उस ओर लक्ष्मण ने देखा और उन मृगों की बोली के अभिप्राय को समझ तथा उनकी चेष्टा पर ध्यान दे ॥ १९ ॥ २० ॥

उवाच लक्ष्मणो ज्येष्ठं धीमान्भ्रातरमार्तवत् ।
क्व सीतेति त्वया पृष्टा यथेमे सहसोत्थिताः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण ने आर्त्त की तरह अपने ज्येष्ठ बुद्धिमान भाई से कहा—आपने इनसे पूछा कि, सीता कहाँ है ? सो ये मृग एक साथ उठ कर, ॥ २१ ॥

दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः ।
साधु गच्छावहे देव दिशमेतां हि नैर्ऋतिम् ॥ २२ ॥

हमें आकाश और दक्षिण दिशा दिखला रहे हैं। अतः जैसा कि, ये बतला रहे हैं, वैसे ही हमें नैर्ऋत्य दिशा की ओर चलना चाहिये ॥ २२ ॥

यदि स्यादागमः कश्चिदार्या वा साऽथ लक्ष्यते ।
बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥

सम्भव है उस ओर जाने से सीता का पता चल जाय या वही मिल जाय। लक्ष्मण के ये वचन सुन और "बहुत अच्छा" कह, श्रीरामचन्द्र दक्षिण दिशा की ओर चल दिये॥ २३॥

लक्ष्मणानुगतः श्रीमान्वीक्षमाणो वसुन्धराम्।
एवं सम्भाषमाणौ तावन्योन्यं भ्रातरावुभौ॥ २४॥

लक्ष्मण जी श्रीराम के पीछे हो लिये। श्रीरामचन्द्र ज़मीन की ओर दृष्टि लगाये हुए चले। इस प्रकार वे दोनो भाई आपस में वार्त्तालाप करते चले जाते थे॥ २४॥

वसुन्धरायां पतितं पुष्पमार्गमपश्यताम्।
तां पुष्पवृष्टिं पतितां दृष्ट्वा रामो महीतले॥ २५॥

उन्होंने कुछ दूर आगे जा कर देखा कि, पृथवी में आकाश से गिरे हुए फूल मार्ग पर पड़े हैं। उस पुष्पवृष्टि के पुष्पों को धरातल पर पड़े हुए देख,॥ २५॥

उवाच लक्ष्मणं वीरो दुःखितो दुःखितं वचः।
अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण॥ २६॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दुःखी हो दुःखित लक्ष्मण से कहा, हे लक्ष्मण! मैं जानता हूँ ये वे ही फूल हैं॥ २६॥

पिनद्धानीह वैदेह्या मया दत्तानि कानने।
मन्ये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी॥ २७॥
अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम्।
एवमुक्त्वा महाबाहुं लक्ष्मणं पुरुषर्षभः॥ २८॥

जो मैंने ला कर वन में सीता को दिये थे और जिन्हें उसने अपने अंगों पर धारण किया था। ऐसा जान पड़ता है कि, मेरी प्रसन्नता के लिये सूर्य ने इन्हें कुम्हलाने नहीं दिया, पवन ने इनको उड़ा कर तितर बितर नहीं किया और यशस्विनी पृथिवी ने इन्हें जहाँ के तहाँ बनाये रखा है। पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम ने इस प्रकार महाबाहु लक्ष्मण से कहा ॥ २७ ॥ २८ ॥

उवाच रामो धर्मात्मा गिरिं प्रस्रवणाकुलम् ।
कच्चित्क्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने प्रस्रवण पर्वत से कहा, हे पर्वतनाथ! क्या तुमने उस सर्वाङ्गसुन्दरी सीता को देखा है? ॥ २९ ॥

रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ।
क्रुद्धोऽब्रवीद्गिरिं तत्र सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३० ॥

मेरी प्रिया मेरे बिना क्या इस वन में तुमने कहीं देखी है। जब उस पर्वत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब श्रीरामचन्द्र कड़क कर क्रुद्ध हो वैसे ही उस पर्वत से बोले, जैसे सिंह गुर्रा कर मृगों से बोलता है ॥ ३० ॥

तां हेमवर्णां हेमाभां सीतां दर्शय पर्वत ।
यावत्सानूनि सर्वाणि न ते विध्वंसयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

हे पर्वत! तुम मुझे उस सुवर्णवर्णा सीता को दिखला दो। नहीं तो मैं तुम्हारे इन शृङ्गों को नष्ट कर डालूँगा ॥ ३१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण पर्वतो मैथिलीं प्रति ।
शंसन्निव ततः सीतां नादर्शयत राघवे ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र द्वारा सीता के विषय में इस प्रकार पूछे जाने पर वह पर्वत बतलाने की इच्छा रखता हुआ भी, (रावण के भय से) बतलाने को तैयार न हुआ ॥ ३२ ॥

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम् ।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥ ३३ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत से कहा कि, तू मेरे बाणों की आग से जल कर भस्म हो जायगा (अर्थात् मैं तुझे अपने बाणों से भस्म कर डालूँगा) ॥ ३३ ॥

असेव्यः सन्ततं चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।
इमां वा सरितां चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ।
यदि नाख्याति मे सीतामार्यां चन्द्रनिभाननाम् ॥ ३४ ॥

फिर तृण वृक्ष, पल्लवादि के भस्म होने से कोई तेरा आश्रय ग्रहण न करेगा । हे लक्ष्मण ! यदि यह पर्वत और नदी गोदावरी मेरी पतिव्रता एवं चन्द्रवदनी सीता का पता नहीं बतलावेगी तो आज मैं इस गोदावरी नदी को भी सुखा डालूँगा और पर्वत को नष्ट कर डालूँगा ॥ ३४ ॥

एवं स रुपितो रामो दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार से श्रीरामचन्द्र जी कह, अत्यन्त कुपित हुए और क्रुद्ध हो, वे मानों नेत्रों से उस पर्वत को भस्म करना चाहते थे ॥ ३५ ॥

ददर्श भूमौ निष्क्रान्तं राक्षसस्य पदं महत् ।
त्रस्ताया रामकाङ्क्षिण्याः प्रधावन्त्या इतस्ततः ॥ ३६ ॥

इतने में वहाँ भूमि पर राक्षस का विशाल पद-चिन्ह देख पड़ा। साथ ही उन जानकी जी के पदों के चिन्ह भी दिखलाई पड़े, जो

श्रीरामचन्द्र के दर्शनों की इच्छा किये हुए, राक्षस से त्रस्त हो, इधर उधर दौड़ी थीं। ॥ ३६ ॥

राक्षसेनानुवृत्ताया मैथिल्याश्च पदान्यथ ।
स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥ ३७ ॥

राक्षस का पीछा करने से जानकी के भी पैरों के चिन्ह राक्षस के पैरों के चिन्हों के भीतर बने देख पड़े। श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी व राक्षस के पदचिन्हों को एक में मिला देखा ॥ ३७ ॥

भग्नं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम् ।
सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशंस भ्रातरं प्रियम् ॥ ३८ ॥

फिर धनुष व तरकस को भी टूटा हुआ वहाँ पड़ा देख, तथा रथ को भी चूर चूर हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी ने उद्विग्न हो, अपने प्यारे भाई लक्ष्मण से कहा ॥ ३८ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः शीर्णाः कनकबिन्दवः ।
भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥ ३९ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो जानकी जी के गहनों के सोने के रौने (दाने) तथा विविध प्रकार की मालाएं यहाँ बिखरी हुई पड़ी हैं ॥ ३९ ॥

तप्तबिन्दुनिकाशैश्च चित्रैः क्षतजबिन्दुभिः ।
आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम् ॥ ४० ॥

और देखो ये लोहू की सुवर्णबिन्दु सम विचित्र बूंदे, पृथिवी के चारों ओर टपकायी हुई सी देख पड़ती हैं ॥ ४० ॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामरूपिभिः ।
भित्त्वा भित्त्वा विभक्ता वा भक्षिता वा भविष्यति ॥४१॥

हे लक्ष्मण ! इससे जान पड़ता है कि, कामरूपी राक्षसों ने सीता के शरीर को टुकड़े टुकड़े कर और आपस में हिस्सा बांट कर खा डाला है ॥ ४१ ॥

तस्या निमित्तं वैदेह्या द्वयोर्विवदमानयोः ।
बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह ॥ ४२ ॥

ऐसा मालूम देता है कि, सीता के लिये दो राक्षसों का यहां परस्पर झगड़ा हुआ है और आपस में घोर लड़ाई हुई है ॥ ४२ ॥

मुक्तामणिमयं चेदं तपनीयविभूषितम् ।
धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद्धनुः ॥ ४३ ॥

हे सौम्य ! मोती और मोतियों से जड़ा हुआ यह विशाल धनुष टूटा हुआ ज़मीन पर किसका पड़ा हुआ है ? ॥ ४३ ॥

[राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवाऽपि वा ।]
तरुणादित्यसङ्काशं वैडूर्यगुलिकाचितम् ॥ ४४ ॥

हे वत्स ! या तो यह धनुष किसी राक्षस का है अथवा किसी देवता का । क्योंकि यह मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह कैसा चमक रहा है और स्थान स्थान पर पन्नों की गोलियां कैसी जड़ी हैं ।४४॥

विशीर्णं पतितं भूमौ कवचं कस्य काञ्चनम् ।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ ४५ ॥

यह सोने का कवच किसका टूटा फूटा पड़ा है और सौ कीलियों का यह छत्र जो दिव्य मालाओं से भूषित है, किसका है ? ॥ ४५ ॥

भग्नदण्डमिदं कस्य भूमौ सम्यनिपातितम् ।
काञ्चनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः ॥ ४६ ॥
भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे ।
दीप्तपावकसङ्काशो द्युतिमान्समरध्वजः ॥ ४७ ॥
अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य सांग्रामिको रथः ।
रथाक्षमात्रा विशिखास्तपनीयविभूषणाः ॥ ४८ ॥

और यह टूटा हुआ दण्ड किसका ज़मीन पर पड़ा हुआ है ? देखो ये सुवर्णकवच से सजे हुए, पिशाचमुख, भयङ्कर और बड़े डील डौल के खच्चर युद्ध में किसके मारे गये हैं। यह प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकता और समरध्वज युक्त संग्राम-रथ चूर हो कर किसका पड़ा है ? या सौ अंगुल लंबे और फलहीन एवं सुवर्ण-भूषित ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

कस्येमेऽभिहता बाणाः प्रकीर्णा घोरकर्मणः ।
शरावरौ शरैः पूर्णौ विध्वस्तौ पश्य लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

भयङ्कर बाण किसके छितराये हुए पड़े हैं। हे लक्ष्मण ! बाणों से भरे ये दोनों तरकस किसके पड़े हुए हैं ? ॥ ४९ ॥

प्रतोदाभीषुहस्तो वै कस्यायं सारथिर्हतः ।
कस्येमौ पुरुषव्याघ्र शयाते निहतो युधि ॥ ५० ॥
चामरग्राहिणौ सौम्य सोष्णीषमणिकुण्डलौ ।
पदवी पुरुषस्यैषा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः ॥ ५१ ॥

देखो, चाबुक और रास हाथ में लिये किसी का सारथी भी मरा हुआ पड़ा है। हे पुरुषसिंह ! चँवर लेने वाले ये दोनों जन जो सिर

पर पगड़ी और कानों में जड़ाऊ कुण्डल धारण किये हुए हैं, युद्ध में मरे हुए किसके पड़े हैं, जान पड़ता है कि, अवश्य यह किसी राक्षस के आने जाने का मार्ग है ॥ ५० ॥ ५१ ॥

वैरं शतगुणं पश्य ममेदं जीवितान्तकम् ।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥ ५२ ॥

हे सौम्य ! देखो अत्यन्त कठोर हृदय, और काम रूपी राक्षसों के साथ अब तो सौगुना अधिक ऐसा वैर हो गया, जिसका परिणाम उनका प्राणनाश होगा ॥ ५२ ॥

हृता मृता वा सीता सा भक्षिता वा तपस्विनी ।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने ॥ ५३ ॥

या तो राक्षसों ने सीता को हर लिया, अथवा उस तपस्विनी ने सङ्कट में पड़, स्वयं प्राण त्याग दिये अथवा किसी वन्य पशु ने उसे खा डाला। देखो हरे जाने के समय इस महावन में धर्म ने भी सीता की रक्षा न की ॥ ५३ ॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण ।
के हि लोकेऽप्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥ ५४ ॥

हे सौम्य ! जब जानकी जी मार कर खायी गयी अथवा हरी ही गयी, तब यदि धर्म ने उसकी रक्षा न की, तब इस संसार में और कौन ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न पुरुष मेरा हित कर सकता है ॥ ५४ ॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं[1] करुणवेदिनम्[2] ।
अज्ञानादवमन्येरन्सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ५५ ॥

---

१ शूरमपि संहारकरणसमर्थं मपि ।(गो०) २ करुणवेदिनं—कारुण्य परं मपुरुषं। (गो०)

इसीसे हे लक्ष्मण ! प्राणिमात्र अज्ञान के वशवर्ती हो, उन परमेश्वर का, जो लोकों के रचने, पालने और संहार करने की शक्ति रखते हैं, नहीं मानते अर्थात् उनका अनादर करते हैं। लोगों का यह स्वभाव ही है ॥ ५५ ॥

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं[1]करुणवेदिनम् ।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥ ५६ ॥

हे सौम्य ! देवता लोग तो मेरे कोमल-हृदय, लोकहित में तत्पर, जितेन्द्रिय और दयालु होने के कारण मुझको पराक्रमहीन मानते हैं ॥ ५६ ॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण ।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥ ५७ ॥

हे लक्ष्मण ! इन गुणों का समावेश मुझमें होने के कारण, गुण दूषित हो गये हैं। देखो, अब सब प्राणियों और विशेष कर राक्षसों के अभाव के लिये ॥ ५७ ॥

संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान्सूर्य इवोदितः ।
संहृत्यैव गुणान्सर्वान्मम तेजः प्रकाशते ॥ ५८ ॥

चन्द्रमा की चाँदनी को हटा, उदय हुए सूर्य की तरह, इन गुणों को नाश कर, मेरा तेज कैसा प्रकट होता है ॥ ५८ ॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
किन्नरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥ ५९ ॥

---

[1] करुणवेदिनं दान्तं—विषयचापलरहितं मां। (गो०)

हे लक्ष्मण ! इस तेज के प्रकट होने पर न तो यक्ष, न गन्धर्व, न पिशाच, न राक्षस, न किन्नर और न मनुष्य ही सुखी रहने पावेंगे ॥ ५९ ॥

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण ।
निःसम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणाम् ॥ ६० ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, मैं अपने अस्त्र रूपी बाणों से आकाश को ढके देता हूँ, जिससे तीनों लोकों में आने जाने वाले विमानों का रास्ता ही बंद हो जायगा ॥ ६० ॥

सन्निरुद्धग्रहगणमावारितनिशाकरम् ।
विप्रनष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृतम् ॥ ६१ ॥

ग्रहों की गति रुक जायगी, चद्रमा जहाँ का तहाँ स्थिर हो जायगा। वायु, अग्नि और सूर्य की द्युति के ढक जाने से सर्वत्र अन्धकार छा जायगा ॥ ६१ ॥

विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम् ।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥ ६२ ॥

पर्वतों के शृङ्ग काट कर मैं गिरा दूँगा, जलाशयों को सुखा दूँगा और वनों को वृक्ष, लता तथा झाड़ों से शून्य कर दूँगा। समुद्रों को उजाड़ दूँगा ॥ ६२ ॥

त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालधर्मणा ।
न तां कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति यदीश्वराः* ॥ ६३ ॥

यदि देवतागण सीता को कुशल पूर्वक मुझे न दे देंगे, तो मैं तीनों लोकों में प्रलयकाल उपस्थित कर दूँगा ॥ ६३ ॥

* पाठान्तरे—ममेश्वराः ।

अस्मिन्मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम् ।
नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ६४ ॥

हे लक्ष्मण! मैं उनको (देवताओं को) अभी अपना पराक्रम दिखला दूँगा। आकाश में जाकर भी कोई न बच सकेगा ॥ ६४ ॥

मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम् ।
अर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥ ६५ ॥

हे लक्ष्मण! आज मेरे धनुष से छूटे हुए तीरों से समस्त प्राणी निरन्तर आहत होंगे। मृग व पक्षी सब के सब तीरों से घायल हो कर तथा घबड़ा कर नष्ट हो जांयगे ॥ ६५ ॥

समाकुलममर्यादं जगत्पश्याद्य* लक्ष्मण ।
आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकं दुरासदैः† ॥ ६६ ॥

करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम् ।
मम रोषप्रयुक्तानां सायकानां बलं सुराः ॥ ६७ ॥

द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानामतिदूरातिगामिनाम् ।
नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः ॥ ६८ ॥

हे लक्ष्मण! देखना, सारा जगत् घबड़ा कर मर्यादा त्याग देगा। सीता के लिये मैं कमान का रोदा कान तक खींच कर, ऐसे बाण छोड़ूँगा, जिन्हें कोई न सह सकेगा और मैं इस जगत को पिशाचों और राक्षसों से शून्य कर दूँगा। आज मेरे उन बाणों की महिमा को, जिन्हें मैं क्रोध में भर चलाऊँगा और जो बहुत दूर तक चले जायँगे, देवता लोग देखेंगे। न तो देवता, न दैत्य न पिशाच और न राक्षस ही ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

---

* पाठान्तरे—" जगत्पश्यार्य।" †पाठान्तरे...दुरावरैः।"

भविष्यन्ति मम क्रोधात्त्रैलोक्ये विप्रणाशिते ।
देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि ॥ ६९ ॥

क्रोध में भर इस त्रैलोक्य का नाश करते समय मेरे सामने टिक सकेंगे। देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसों के भी जो लोक हैं ॥ ६९॥

बहुधा न भविष्यन्ति बाणौघैः शकलीकृताः ।
निर्मर्यादानिमाँल्लोकान्करिष्याम्यद्य सायकैः ॥ ७० ॥

वे मेरे तीरों की मार से खण्ड खण्ड हो कर नीचे गिर पड़ेंगे। मैं अपने बाणों की मार से आज लोकों की मर्यादा भङ्ग कर दूँगा ॥ ७० ॥

हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः ।
तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥ ७१ ॥

यदि देवता लोग मेरी सीता को जो भले ही हर ली गयी हो या मर ही क्यों न गयी हो, सकुशल मुझे न देवेंगे ॥ ७१ ॥

नाशयामि जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
इत्युक्त्वा रोषाताम्राक्षो रामो निष्पीड्य कार्मुकम् ॥७२॥

तो मैं चराचर सहित सारे जगत ही को नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों को नष्ट कर डालूँगा। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध के मारे नेत्रों को लाल लाल कर, हाथ में धनुष लिया ॥ ७२ ॥

शरमादाय सन्दीप्तं घोरमाशीविषोपमम् ।
सन्धाय धनुषि श्रीमान्रामः परपुरञ्जयः ॥ ७३ ॥

फिर चमचमाता और सर्प के विष के समान भयङ्कर बाण ले, शत्रुनाशकारी श्रीमान रामचन्द्र ने धनुष पर रखा ॥ ७३ ॥

युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ।
यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः[1] ॥ ७४ ॥
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण ।
तथाऽहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्मि सर्वथा ॥ ७५ ॥

और प्रलय कालीन अग्नि की तरह क्रुद्ध हो यह वचन बोले—हे लक्ष्मण! जिस प्रकार से बुढ़ापा, मृत्यु और भाग्य प्राणी मात्र के रोके नहीं रोके जा सकते, उसी प्रकार क्रोध से युक्त मुझको भी कोई किसी प्रकार भी नहीं रोक सकता ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां
दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम् ।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं
जगत्सशैलं [2]परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७६ ॥

इति चतुःषष्टितमः सर्गः ॥

सुन्दर दाँत वाली, निन्दा रहित मैथिली सीता यदि मुझे न मिली तो मैं देव, गन्धर्व, मनुष्य, पन्नग और पहाड़ों सहित सारे जगत को नष्ट कर डालूँगा ॥ ७६ ॥

अरण्यकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

---

१ विधिः—अदृष्टं । (गो०) २ परिवर्तयामि—नाशयामि । (गो०)

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:*:—

तप्यमानं तथा रामं सीताहरणकर्शितम् ।
लोकानामभवे युक्तं संवर्तकमिवानलम् ॥ १ ॥
वीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
दग्धुकामं जगत्सर्वं युगान्ते तु यथा हरम् ॥ २ ॥
अदृष्टपूर्वं संक्रुद्धं दृष्ट्वा रामं तु लक्ष्मणः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ ३ ॥

सीता जी के हरण से क्लेशित और सन्तप्त और प्रलय कालीन अग्नि की तरह लोकों का नाश करने में तत्पर, बार बार रोदा युक्त धनुष को देखते हुए, बार बार लंबी सांसें लेते हुए, तथा युग के अन्त में सम्पूर्ण जगत् को रुद्र की तरह भस्म करने को तत्पर, अपूर्व विलक्षण क्रोध से युक्त, श्रीरामचन्द्र जी को देख, लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर उनसे बोले। (उस समय) मारे डर के लक्ष्मण जी का मुख सूख गया था ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुमर्हसि ॥ ४ ॥

आप दयालु स्वभाव, जितेन्द्रिय और प्राणिमात्र के हित में रत होकर, इस समय क्रोध के वशवर्ती हो, अपने स्वभाव को न त्यागिये ॥ ४ ॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ।
एतच्च नियतं सर्वं त्वयि चानुत्तमं यशः ॥ ५ ॥

जैसे चन्द्रमा में श्री, सूर्य में प्रभा, वायु में गति और पृथ्वी में क्षमा नियमित रूप से रहती है, वैसे ही आपमें इन चारों गुणों के सहित उत्तम यश स्थित है ॥ ५ ॥

एकस्य नापराधेन लोकान्हन्तुं त्वमर्हसि ।
न तु जानामि कस्यायं भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ ६ ॥
केन वा कस्य वा हेतोः सायुधः सपरिच्छदः ।
खुरनेमिक्षतश्चायं सिक्तो रुधिरबिन्दुभिः ॥ ७ ॥

आपको यह उचित नहीं कि, एक के अपराध से सम्पूर्ण जगत का नाश करें। अभी तो यह भी नहीं मालूम कि, यह किसका अस्त्रशस्त्रों सहित तथा सपरिकर संग्राम रथ टूट पड़ा है और किसने और क्यों इसको तोड़ा है। यह स्थान खुर और रथ के पहियों से खुदा हुआ तथा लोहू की बूंदों से छिड़काया हुआ देख पड़ता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

देशो निर्वृत्तसंग्रामः सुघोरः पार्थिवात्मज ।
एकस्य तु विमर्दोऽयं न द्वयोर्वदतां वर ॥ ८ ॥

हे राजकुमार! अतः अवश्य ही यहां घोर संग्राम हुआ है। साथ ही यह भी जान पड़ता है कि, एक रथी के साथ किसी पशु का युद्ध हुआ है; दो जनों का युद्ध नहीं हुआ ॥ ८ ॥

न हि वृत्तं हि पश्यामि बलस्य महतः पदम् ।
नैकस्य तु कृते लोकान्विनाशयितुमर्हसि ॥ ९ ॥

बड़ी सेना के चरणचिन्ह भी यहां पर नहीं देख पड़ते। इस लिये आपको एक के पीछे समस्त लोकों का नाश करना ठीक नहीं ॥ ९ ॥

युक्तादण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः ।
सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः ॥ १० ॥

राजा लोग अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले होने पर भी दयालु और शान्त स्वभाव हुआ करते हैं और आप तो सदा सब प्राणियों को शरण देने वाले और उनकी परमगति हैं ॥ १० ॥

को नुदारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव ।
सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः ॥ ११ ॥

हे राघव ! आपकी स्त्री का नष्ट होना कौन अच्छा मानता है। नदी, समुद्र, पर्वत, देव, गन्धर्व और दानव ॥ ११ ॥

नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितस्येव साधवः[1] ।
येन राजन्हृता सीता तमन्वेषितु मर्हसि ॥ १२ ॥

इनमें से कोई भी आपका बिगाड़ नहीं कर सकता, जैसे ऋत्विज यज्ञदीक्षा प्राप्त पुरुष का अप्रिय नहीं कर सकते। हे राजन् ! जिसने सीता चुराई है, उसको तलाश करना चाहिये ॥ १२ ॥

मद्द्वितीयो धनुष्पाणिः सहायैः परमर्षिभिः ।
समुद्रं च विचेष्यामः पर्वतांश्च वनानि च ॥ १३ ॥
गुहाश्च विविधा घोरा नदीः पद्मवनानि च ।
देवगन्धर्वलोकांश्च विचेष्यामः समाहिताः ॥
यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम् ॥ १४ ॥

---

१ साधवः—ऋत्विजः । (गो०)

इस काल में भी, मैं धनुष को ले आपका सहायक होऊँगा। महर्षि भी आपको इस कार्य में सहायता देंगे। हम लोग जब तक सीता का हरण करने वाले का पता न लगा लेंगे, तब तक समुद्र, पर्वत, वन, भयानक गुफाएँ, कमलों सहित अनेक ताल तलैयाँ, देव और गन्धर्वों के लोकों में चल, सावधानी से ढूंढ़ते ही रहेंगे ॥१३॥१४॥

न चेत्साम्ना प्रदास्यन्ति पत्नीं ते त्रिदशेश्वराः ।
कोसलेन्द्र ततः पश्चात्प्राप्तकालं करिष्यसि ॥ १५ ॥

इस पर भी यदि देवतागण सीधी तरह आपकी पत्नी को ला कर, उपस्थित न करेंगे, तो हे कौशलेन्द्र ! उनको दण्ड दीजियेगा ॥ १५ ॥

शीलेन साम्ना विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ततः समुत्पादय हेमपुङ्खै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः शरौघैः ॥ १६ ॥

इति पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥

हे नरेन्द्र ! शील, साम, विनय और नीति से यदि सीता आपको न मिले, तो आप इन्द्र के वज्र के समान सोने के पुंखों वाले तीरों से लोकों को नष्ट कर डालियेगा ॥ १६ ॥

अरण्यकाण्ड का पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—※—

षट्षष्टितमः सर्गः

—*—

तं तथा शोकसन्तप्तं विलपन्तमनाथवत् ।
मोहेन महताऽऽविष्टं परिद्यूनमचेतनम् ॥ १ ॥

लक्ष्मण के इस प्रकार समझाने पर भी शोकसन्तप्त, अनाथ की तरह विलाप करते, महामोह से युक्त, मारे चिन्ता के चेतना रहित ॥ १ ॥

ततः सौमित्रिराश्वास्य मुहूर्तादिव लक्ष्मणः ।
रामं संबोधयामास चरणौ चाभिपीडयन् ॥ २ ॥

श्रीराम को लक्ष्मण जी उनके चरण पकड़ कर, एक मुहूर्त तक समझाते हुए, कहने लगे ॥ २ ॥

महता तपसा राम महता चापि कर्मणा ।
राज्ञा दशरथेनासि लब्धोऽमृतमिवामरैः ॥ ३ ॥

हे राम! महाराज दशरथ ने बड़े जप, तप और कर्मानुष्ठान कर के आपको उसी प्रकार प्राप्त किया था, जिस प्रकार बड़े बड़े प्रयत्न कर, देवताओं ने अमृत प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

तव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महीपतिः ।
राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम् ॥ ४ ॥

महाराज, तुम्हारे गुणों पर मुग्ध हो, तुम्हारे वियोग में, देवलोक को प्राप्त हुए हैं। यह बात हम लोगों को भरत जी से अवगत हो चुकी है ॥ ४ ॥

यदि दुःखमिदं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे ।
प्राकृतश्चाल्पसत्त्वश्च इतरः कः सहिष्यति ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! यदि आप ही इस प्राप्त हुए दुःख को न सहेंगे, तो अज्ञानी और अल्पबुद्धि वाले दूसरे लोगों में कौन सह सकेगा ॥५॥

[आश्वासिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्यनापदः ।
संस्पृश त्यग्निवद्राजन् क्षणेन व्यपयान्तिच ॥ ६ ॥]

हे नरश्रेष्ठ ! आप अपने चित्त को सँभालिये । क्योंकि कौन ऐसा प्राणी है, जिस पर विपत्ति नहीं पड़ती और अग्नि की तरह स्पर्श कर, क्षण भर ही में निकल नहीं जाती ॥ ६ ॥

लोकस्वभाव एवैष ययातिर्नहुषात्मजः ।
गतः शक्रेण सालोक्यमनयस्तं तमः स्पृशत् ॥ ७ ॥

लोक का स्वभाव ही यह है । देखिये राजा नहुष के पुत्र ययाति स्वर्ग में जा कर भी अपनी उद्दण्डता से च्युत हुए ॥ ७ ॥

महर्षियों वसिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः ।
अह्ना पुत्रशतं जज्ञे तथैवास्य पुनर्हतम् ॥ ८ ॥

फिर हमारे पिता के पुरोहित महर्षि वशिष्ठ जी के सौ पुत्रों को एक ही दिन में विश्वामित्र ने मार डाला ॥ ८ ॥

या चेयं जगतां माता देवी लोकनमस्कृता ।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दृश्यते सत्यसंश्रव ॥ ९ ॥

हे सत्यप्रतिज्ञ ! जगन्माता, सर्वपूज्या यह पृथ्वी भी स्थिर नहीं है । भूकम्पादि दुःख इस पर भी पड़ा करते हैं ॥ ६ ॥

यौ धर्मौ जगतां नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।
आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ ॥ १० ॥

जो सूर्य चन्द्र जगत् के नेत्र और साक्षात् धर्म स्वरूप हैं और जिनमें समस्त संसार टिका हुआ है, सो इन दोनों महाबलियों को भी राहु केतु ग्रस लेते हैं॥ १०॥

[1]सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषर्षभ।
न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतादिदेहिनः[2] ॥ ११ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! राजा मान्धाता, नल आदि जैसे बड़े बड़े लोग और देवता भी तो सर्वान्तर्यामी दैव से छुटकारा नहीं पा सकते॥ ११॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयौ।
श्रूयेते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२॥

इन्द्रादि देवता भी नीति अनीति से उत्पन्न सुख और दुःख भोगते हुए सुने जाते हैं। अतः आप दुःखी न हों॥ १२॥

नष्टायामपि वैदेह्यां हृतायामपि चानघ।
शोचितुं नार्हसे वीर यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥ १३ ॥

हे अनघ! हे वीर! चाहे जानकी मार डाली गयी हो अथवा हर ही क्यों न ली गयी हो। तो भी आपको साधारण लोगों की तरह शोक करना उचित नहीं॥ १३॥

त्वद्विधा न हि शोचन्ति सततं सत्यदर्शिनः।
सुमहत्स्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विण्णदर्शनाः ॥ १४ ॥

---

१ सुमहान्त्यपि भूतानि—मान्धातृनलप्रभृति महाजना अपि। (गो०)
२ सर्वभूतादिदेहिनः—सर्वभूतान्तर्यामिणइत्यर्थः। (गो०)

क्योंकि आप जैसे निरन्तर यथार्थदर्शी महात्मा शोक से विकल नहीं होते। प्रत्युत बड़े बड़े क्लेशकारी स्थानों अथवा अवसरों में भी ऐसे लोग विगत शोक देख पड़ते हैं॥ १४॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्धया समनुचिन्तय।
बुद्धया युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे॥ १५॥

हे नरश्रेष्ठ! आप अपनी बुद्धि से इसका ठीक ठीक विचार कीजिये। क्योंकि जो बुद्धिमान् होते हैं, वे अपनी बुद्धि ही से शुभ और अशुभ जान लेते हैं॥ १५॥

अदृष्टगुणदोषाणामध्रुवाणां तु कर्मणाम्।
नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं प्रवर्तते॥ १६॥

जिन कर्मों के गुण दोष प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते, ऐसे अस्थिर कर्मों के अनुष्ठान से, इष्टफल की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है॥ १६॥

त्वमेव हि पुरा राम मामेवं बहुशोऽन्वशाः[1]।
अनुशिष्याद्धि को नु त्वामपि साक्षाद्बृहस्पतिः॥ १७॥

हे वीर! आप ही ने मुझे पहले कितना न्याय और अन्याय सम्बन्धी उपदेश दिया था, सो भला आपको उपदेश देने में तो साक्षात् बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं॥ १७॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वया[2]।
शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम्॥ १८॥

---

१ अन्वशाः—अनुशासितवानसि। (गो०) २ दुरन्वया—दुर्लभा। (गो०)

हे महाप्राज्ञ! आपकी बुद्धि को देवता लोग भी नहीं पा सकते। किन्तु इस समय शोक के कारण आपका ज्ञान जो सो रहा है, उसे मैं जगाता हूँ ॥ १८ ॥

दिव्यं च मानुषं च त्वमात्मनश्च पराक्रमम्।
इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे ॥ १९ ॥

हे इक्ष्वाकुश्रेष्ठ! आप अपने दिव्य और मानवी पराक्रम की ओर देख कर, शत्रुवध का प्रयत्न कीजिये ॥ १९ ॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ।
तमेव त्वं रिपुं पापं विज्ञायोद्धर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

इति षट्षष्टितमः सर्गः ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! सब का नाश कर आप क्या कीजियेगा। आप उसी अपने शत्रु को खोजिये, जिसने सीता हरी है और उसीका आप नाश भी कीजिये ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का छयासठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

सप्तषष्टितमः सर्गः

—:*:—

पूर्वजोऽप्युक्तमात्रस्तु लक्ष्मणेन सुभाषितम्।
सारग्राही महासारं प्रतिजग्राह राघवः ॥ १ ॥

जब लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र को इस प्रकार समझाया, तब सारग्राही श्रीरामचन्द्र शान्त हुए ॥ १ ॥

सन्निगृह्य महाबाहुः प्रवृत्तं कोपमात्मनः ।
अवष्टभ्य धनुश्चित्रं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

और महाबाहु श्रीरामचन्द्र ने क्रोध का त्याग और अपने विचित्र धनुष की प्रत्यञ्चा उतार लक्ष्मण से कहा ॥ २ ॥

किं करिष्यावहे वत्स क्व वा गच्छाव लक्ष्मण ।
केनोपायेन पश्येयं सीतामिति विचिन्तय ॥ ३ ॥

हे वत्स लक्ष्मण! अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ? अब यह सोचो कि, सीता के पाने के लिये क्या उपाय किया जाय? ॥ ३ ॥

तं तथा परितापार्तं लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।
इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ४ ॥

तब अत्यन्त सन्तप्त श्रीरामचन्द्र जी से लक्ष्मण ने कहा—आप इसी जनस्थान में सीता को खोजिये ॥ ४ ॥

राक्षसैर्बहुभिः कीर्णं नानाद्रुमलतायुतम् ।
सन्तीह गिरिदुर्गाणि [1]निर्दराः कन्दराणि च ॥ ५ ॥

क्योंकि यहाँ बहुत से राक्षस रहा करते हैं और यहाँ अनेक वृक्ष, लता, दुर्गम पर्वत घाटियाँ और कन्दराएँ हैं ॥ ५ ॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः ।
आवासाः किन्नराणां च गन्धर्वभवनानि च ॥ ६ ॥

वे कन्दराएँ विविध प्रकार के भयङ्कर जीव जन्तुओं से भरी हैं। यहाँ अनेक किन्नरों के निवासस्थान और गन्धर्वों के भवन भी हैं ॥ ६ ॥

---

१ निर्दराः—विदीर्णपाषाणाः। (रा०)

तानि युक्तो मया सार्धं त्वमन्वेषितुमर्हसि ।
त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभ ॥ ७ ॥

उन सब को आप मेरे साथ चल कर भली भाँति ढूढ़िये। आप जैसे महात्मा, बुद्धिमान् और नृपतिश्रेष्ठ ॥ ७ ॥

आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायुवेगैरिवाचलाः ।
इत्युक्तस्तद्वनं सर्वं विचचार सलक्ष्मणः ॥ ८ ॥

सङ्कट के समय वैसे ही कभी विचलित नहीं होते, जैसे वायु के झोकों से पर्वत नहीं हिलाया जा सकता। लक्ष्मण जी के कहने को मान, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण सहित उस समस्त वन में विचरने लगे ॥ ८ ॥

क्रुद्धो रामः शरं घोरं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।
ततः पर्वतकूटाभं महाभागं द्विजोत्तमम् ॥ ९ ॥

क्रुद्ध हो कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर बड़ा पैना और महाभयङ्कर क्षुरा के नाम से प्रसिद्ध बाण चढ़ा लिया ॥ ९ ॥

ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्रं जटायुषम् ।
तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १० ॥

कुछ दूर आगे जाने पर श्रीरामचन्द्र ने पर्वत के शिखर की तरह विशालकाय और रुधिर से तर उस महाभाग पक्षिराज जटायु को भूमि पर पड़ा देखा। उसे देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ १० ॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः ।
गृध्ररूपमिदं रक्षो व्यक्तं भवति कानने ॥ ११ ॥

देखो, निस्सन्देह इसीने सीता को खाया है। अवश्य ही यह गृद्ध का रूप धारण किये कोई राक्षस है और इसी वन में घूमता फिरता है ॥ ११ ॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीमास्ते सीतां यथासुखम् ।
एनं वधिष्ये दीप्तास्यैर्घोरैर्बाणैरजिह्मगैः ॥ १२ ॥

देखो यह राक्षस विशालनेत्रों वाली सीता को खा कैसे सुख से बैठा हुआ है। अतः मैं सीधे जाने वाले और अग्नि की तरह चम चमाते भयङ्कर बाणों से इसका वध करूँगा ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वाऽभ्यपतद्गृध्रं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।
क्रुद्धो रामः समुद्रान्तां कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ १३ ॥

यह कह कर और क्रोध कर, आसमुद्र पृथ्वी को कंपाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष पर क्षुर नामक बाण रखा और तदनन्तर वे उसे देखने के लिये उसके समीप गये ॥ १३ ॥

तं दीनं दीनया वाचा सफेनं रुधिरं वमन् ।
अभ्यभाषत पक्षी तु रामं दशरथात्मजम् ॥ १४ ॥

इनको आते देख, बेचारे जटायु ने, फेनयुक्त रुधिर को वमन कर और अत्यन्त दुःखी हो दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र से कहा ॥१४॥

यामोषधिमिवायुष्मन्नन्वेषसि महावने ।
सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम् ॥ १५ ॥

हे आयुष्मन् ! औषधि की तरह तुम जिसे इस महावन में ढूढ़ते फिरते हो, उस देवी सीता को और मेरे प्राणों को रावण ने निर्भय हो हर लिया है ॥ १५ ॥

त्वया विरहिता देवी लक्ष्मणेन च राघव ।
ह्रियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा ॥ १६ ॥

हे राघव ! महाबली रावण को, आपकी और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सूने आश्रम से सीता को हर कर ले जाते हुए मैंने देखा है ॥ १६ ॥

सीतामभ्यवपन्नोऽहं रावणश्च रणे मया ।
विध्वंसितरथश्चात्र पातितो धरणीतले ॥ १७ ॥

सीता को ले जाते देख, मैंने रावण का सामना किया और उससे युद्ध कर उसके रथ को तोड़ कर, यहाँ गिरा दिया ॥ १७ ॥

एतदस्य धनुर्भग्नमेतदस्य शरावरम् ।
अयमस्य रथो राम भग्नः सांग्रामिको मया ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! देखिये, यह तो उसका टूटा हुआ धनुष पड़ा है और यह उसका बढ़िया बाण टूटा पड़ा है । मेरा तोड़ा हुआ यह उसका संग्राम-रथ पड़ा है ॥ १८ ॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षो निहतो युधि ।
परिश्रान्तस्य मे पक्षौ च्छित्त्वा खड्गेन रावणः ॥ १९ ॥

यह सारथी भी उसीका है, जिसे युद्ध में मैंने अपने पंखों के प्रहार से मार कर पृथिवी पर पटक दिया था । मुझे थका हुआ देख, रावण ने तलवार से मेरे पंख काट डाले ॥ १९ ॥

सीतामादाय वैदेहीमुत्पपात विहायसम् ।
रक्षसा निहतं पूर्वं न मां हन्तुं त्वमर्हसि ॥ २० ॥

और सीता को ले वह आकाशमार्ग से चला गया। राक्षस ने तो पहिले ही मुझे मार डालने में कुछ उठा नहीं रखा, अतः आपको मेरा वध करना उचित नहीं ॥ २० ॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखस्तदा ।
द्विगुणीकृततापार्तः सीतासक्तां प्रियां कथाम् ॥ २१ ॥

गृध्रराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद्धनुः ।
निपपातावशो भूमौ रुरोद सहलक्ष्मणः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र इस प्रकार उसकी दशा देख और उसके मुख से प्यारी सीता का वृत्तान्त सुन, दूने दुःखी हुए। तदनन्तर जटायु को छाती से लगा और धनुष को फेंक, पृथिवी पर गिर, लक्ष्मण सहित रोने लगे ॥ २१ ॥ २२ ॥

[1]एकमेकायने दुर्गे निःश्वसन्तं कथञ्चन ।
समीक्ष्य दुःखिततरो रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ २३ ॥

अकेले मनुष्य के जाने योग्य मार्ग वाले विकट स्थान में पड़े और कभी कभी सांस लेते हुए जटायु को देख; शोक से विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ २३ ॥

राज्याद्भ्रंशो वने वासः सीता नष्टा द्विजो हतः ।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्निर्दहेदपि पावकम् ॥ २४ ॥

राज्य से भ्रष्ट, वन में वास, सीताहरण और इस पक्षी का मरण, ये सब मेरे खोटे भाग्य के ही परिणाम हैं। इस प्रकार का मेरा खोटा भाग्य यदि चाहे तो अग्नि को भी भस्म कर सकता है ॥ २४ ॥

---

१ एकमेकायने—एकमात्रजनगम्येअतएव कृछ्रे देशेपतित मितिशेषः। (शि०)

सम्पूर्णमपि चेदद्य प्रतरेयं[1] महोदधिम् ।
सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत्सरितां पतिः ॥ २५ ॥

मैं अपने भाग्य का क्या बखान करूँ। यदि मैं अपने सन्ताप की शान्ति के लिये समुद्र में कूदूँ, तो वह भी मेरे खोटे भाग्य से सूख जाय ॥ २५ ॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन्सचराचरे ।
येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा ॥ २६ ॥

हे भाई! इस चराचर जगत में, मेरे तुल्य अभागा कोई न होगा। क्योंकि इसीके कारण, मुझे महादुःख रूपी जाल में फँसना पड़ा है ॥ २६ ॥

अयं पितृवयस्यो[2] मे गृध्रराजो जरान्वितः ।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥ २७ ॥

देखो यह वृद्ध गृद्धराज जटायु मेरे पिता का मित्र है। मेरा भाग्य लौट जाने से यह भी मृत हो पृथिवी पर पड़ा है ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः ।
जटायुषं च पस्पर्श पितृस्नेहं विदर्शयन् ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से अनेक बातें कहीं। तदनन्तर लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र ने पिता समान स्नेह दिखलाते हुए जटायु को स्पर्श किया ॥ २८ ॥

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं
स गृध्रराजं परिरभ्य रामः ।

---

१ प्रतरेयं—तापशान्तयेऽवगाहेयं चेत्। (गो०) २ पितृवयस्यः—सखा। (गो०)

क्व मैथिली प्राणसमा ममेति
विमुच्य वाचं निपपात भूमौ ॥ २९ ॥

इति सप्तषष्टितमः सर्गः ॥

पंख कटे हुए और रुधिर में सने गीधों के राजा जटायु के शरीर पर हाथ फेर, श्रीरामचन्द्र ने उससे यह बात पूछी कि, "मेरी वह प्राण समान सीता कहां है ?" यह कह श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर गिर पड़े ॥ २९ ॥

अरण्यकाण्ड का सरसठवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

अष्टषष्टितमः सर्गः

—:*:—

रामः संप्रेक्ष्य तं गृध्रं भुवि रौद्रेणपातितम् ।
सौमित्रिं मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

जटायु को, उस भयङ्कर राक्षस के प्रहार से पृथिवी पर पड़ा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से यह बोले ॥ १ ॥

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहङ्गमः ।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणांस्त्यक्ष्यति दुस्त्यजान् ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही यह पक्षी मेरा काम करता हुआ, मेरे लिये ही राक्षस द्वारा लड़ाई में मारा जा कर अब दुस्त्यज प्राणों को त्याग रहा है ॥ २ ॥

अयमस्य[1] शरीरेऽस्मिन्प्राणो लक्ष्मण विद्यते ।
तथाहि स्वरहीनोऽयं विक्लवः समुदीक्षते ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण! अभी इसके शरीर में थोड़ी थोड़ी जान बाकी है किन्तु इसका स्वर धीमा पड़ गया है और विकल हो, यह हम लोगों को देख रहा है ॥ ३ ॥

जटायो यदि शक्नोषि वाक्यं व्याहरितुं पुनः ।
सीतामाख्याहि भद्रं ते वधमाख्याहि चात्मनः ॥ ४ ॥

हे जटायु! यदि तुममें बोलने की शक्ति हो, तो तुम सीता का वृत्तान्त और अपने वध का हाल मुझसे पुनः कहो। तुम्हारा कल्याण हो ॥ ४ ॥

किन्निमित्तोऽहरत्सीतां रावणस्तस्य किं मया ।
अपराधंतु यं दृष्ट्वा रावणेन हृता प्रिया ॥ ५ ॥

किस लिये रावण ने सीता को हरा। मैंने उसका क्या बिगाड़ा था जिससे वह मेरी प्यारी को हर ले गया ॥ ५ ॥

कथं तच्चन्द्रसङ्काशं मुखमासीन्मनोहरम् ।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन्काले द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

हे पक्षिश्रेष्ठ! उस समय सीता का वह चन्द्रसम सुन्दर मुखमण्डल कैसा देख पड़ता था और उस समय सीता ने क्या क्या कहा था ॥ ६ ॥

कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः ।
क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपृच्छतः ॥ ७ ॥

---

[1] अयंप्राणः—सूक्ष्मप्राणः । (गो०)

उस राक्षस का पराक्रम और रूप कैसा है? वह राक्षस काम क्या करता है और वह रहने वाला कहाँ का है। मैं जो पूछता हूँ सो सब आप बतला दें ॥ ७ ॥

तमुद्वीक्ष्याथ दीनात्मा विलपन्तमनन्तरम् ।
वाचाऽतिसन्नया[1] रामं जटायुरिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

तब जटायु ने श्रीरामचन्द्र का विलाप सुन, विकल हो बड़ी कठिनता से अर्थात् लड़खड़ाती वाणी से उनसे यह कहा ॥ ८ ॥

हृता सा राक्षसेन्द्रेण रावणेन विहायसा ।
मायामास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसङ्कुलाम् ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र! वह दुरात्मा राक्षसेन्द्र रावण, वायु और मेघों की घटा से युक्त बड़ी माया रच कर, सीता को हर कर ले गया है ॥ ९ ॥

परिश्रान्तस्य मे तात पक्षौ च्छित्त्वा स राक्षसः ।
सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणां दिशम् ॥ १० ॥

मुझ थके हुए के दोनों पंख काट, वह राक्षस सीता को दक्षिण दिशा को चला गया है ॥ १० ॥

उपरुध्यन्ति मे प्राणा दृष्टिर्भ्रमति राघव ।
पश्यामि वृक्षान्सौवर्णानुशीरकृतमूर्धजान् ॥ ११ ॥

हे राघव! मरण की पीड़ा से मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। मेरी आँखों के सामने चक्कर आ रहे हैं। मुझे अपने सामने सोने के वृक्ष, जिनकी चोटियों पर खस जमा है, देख पड़ते हैं ॥ ११ ॥

---

[1] अतिसन्नया—अतिकार्श्यं प्राप्तया। (गो०)

येन याते। मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः।
विप्रनष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

हे राम ! जिस घड़ी रावण ने सीता को हरा वह घड़ी ऐसी है कि, उस घड़ी में खोया हुआ धन उसके मालिक को पुनः प्राप्त हो। अथवा नष्ट हुआ धन उसीके स्वामी को मिले ॥ १२ ॥

विन्दो नाम मुहूर्तोऽयं स च काकुत्स्थ नाबुधत्।
त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १३ ॥

हे काकुत्स्थ ! उसके हरणकाल के मुहूर्त्त का नाम वृन्द था। किन्तु रावण को यह बात मालूम न थी। आपकी प्रिया सीता को हर कर राक्षसेश्वर रावण ॥ १३ ॥

झषवद्बडिशं गृहय क्षिप्रमेव विनश्यति।
न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति ॥ १४ ॥

बंसी के काँटे को निगलने वाली मछली की तरह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा। तुमको जानकी के लिये दुःखी न होना चाहिये ॥१४॥

वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हत्वा ते राक्षसं रणे।
असंमूढस्य गृध्रस्य रामं प्रत्यनुभाषतः ॥ १५ ॥

क्योंकि तुम शीघ्र युद्ध में उस राक्षस को मार, फिर सीता के साथ विहार करोगे। अतः सावधानता पूर्वक वार्तालाप करते करते ॥ १५ ॥

आस्यात्सुस्राव रुधिरं म्रियमाणस्य सामिषम्।
पुत्रो विश्रवसः साक्षाद्भ्राता वैश्रवणस्य च ॥ १६ ॥

मांस और रुधिर की उसे वमन हुई। तिस पर भी उसने इतना और बतलाया कि, वह राक्षस विश्रवा का पुत्र और कुबेर का भाई है ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा दुर्लभान्प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः ।
ब्रूहि ब्रूहीति रामस्य ब्रुवाणस्य कृताञ्जलेः ॥ १७ ॥

यह कह पक्षिराज जटायु ने अपने दुर्लभ प्राणों को त्याग दिया। उधर श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े कह रहे थे कि, आगे कहो; आगे कहो ॥ १७ ॥

त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य जग्मुः प्राणा विहायसम् ।
स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तदा ॥ १८ ॥

गीध के शरीर को छोड़ जटायु का आत्मा आकाश में पहुँचा। तब उस पक्षी का सिर पृथिवी पर लटक पड़ा और उसके दोनों पैर फैल गये ॥ १८ ॥

विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले ।
तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमचलोपमम् ॥ १९ ॥

शरीर को फैला कर वह पृथिवी पर गिर पड़ा। श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत के समान बड़े भारी डीलडौल के, ताम्रवत् लाल नेत्र वाले गीध को मरा हुआ देखा ॥ १६ ॥

रामः सुबहुभिर्दुःखैर्दीनः सौमित्रिमब्रवीत् ।
बहूनि रक्षसां वासे वर्षाणि वसता सुखम् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत दुःखी और उदास हो लक्ष्मण से कहा—बहुत काल तक जन-स्थान में सुख पूर्वक रह कर ॥ २० ॥

अनेन दण्डकारण्ये विशीर्णमिह पक्षिणा ।
अनेकवार्षिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः ॥ २१ ॥

इस पक्षी ने इसी दण्डकारण्य में प्राण त्यागे हैं (अर्थात् यहीं रहा और यहीं प्राण भी त्यागे) यह बहुत काल का पुराना बूढ़ा है ॥ २१ ॥

सोऽयमद्य हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः ।
पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे ॥ २२ ॥
सीतामभ्यवपन्नो वै रावणेन बलीयसा ।
गृध्रराज्यं परित्यज्य पैतृपैतामहं महत् ॥ २३ ॥

सो वह आज यहाँ मरा हुआ पड़ा है । इसीसे कहा जाता है कि, काल का उलङ्घन कोई नहीं कर सकता। देखो लक्ष्मण ! यह गीध मेरा कैसा उपकारी था। यह सीता को बचाते समय बलवान् रावण के हाथ से मारा गया है । देखो वंशपरम्परागत गृद्धराज्य को परित्याग कर ॥ २२ ॥ २३ ॥

मम हेतोरयं प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः ।
सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः ॥ २४ ॥

इस पक्षिराज ने मेरे पीछे अपने प्राण गँवाये हैं। हे लक्ष्मण ! निश्चय ही साधु-स्वभाव और धर्मात्मा सर्वत्र ही पाये जाते हैं ॥ २४ ॥

शूराः शरण्यः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ॥ २५ ॥

सो केवल मनुष्यों ही में नहीं, किन्तु पशुपक्षियों में भी वीर और शरण आये हुए की रक्षा करने वाले पाये जाते हैं। हे सौम्य !

सीता जी के हरे जाने का मुझे उतना अब क्लेश नहीं है, जितना कि, ॥ २५ ॥

यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप ।
राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः ॥ २६ ॥
पूजनीयश्च मान्यश्च तथाऽयं पतगेश्वरः ।
सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम् ॥ २७ ॥

मुझे मेरे लिये प्राण गंवाने वाले इस गृद्ध के मरने का है। जिस प्रकार महायशस्वी महाराज दशरथ मेरे पूज्य और मान्य थे, उसी प्रकार पूज्य और मान्य यह पक्षिराज है। हे लक्ष्मण! तुम जा कर लकड़ियाँ ले आओ। मैं लकड़ियाँ रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करूँगा ॥ २६ ॥ २७ ॥

गृध्रराजं दिधक्षामि मत्कृते निधनं गतम् ।
देहं पतगराजस्य* चितामारोप्य राघव ॥ २८ ॥

जो गृद्धराज मेरे पीछे मारा गया है, उसका दाह मैं करूँगा। यह कह श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु के मृत शरीर को चिता पर रखा ॥ २८ ॥

इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ।
या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ॥ २९ ॥

फिर लक्ष्मण से कहा कि, मैं इस गीधराज का, जिसे भयङ्कर कर्म करने वाले रावण ने मार डाला है, दाहकर्म करता हूँ। (फिर जटायु के आत्मा को संबोधन कर श्रीरामचन्द्र जी बोले) जो गति अश्वमेधादि यज्ञ करनेवालों को, जो गति अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों को मरने के बाद प्राप्त होती है, वह तुझे प्राप्त हो ॥ २९ ॥

---

* पाठान्तरे—" नाथं पतगलोकस्य "।

अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ।
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ॥ ३० ॥

जो गति (या लोक) मुमुक्षुओं को, जो गति (या लोक) भूमिदान करने वालों को प्राप्त होती हैं उन उत्तम गतियों (लोकों) को तुम मेरी आज्ञा से प्राप्त हो ॥ ३० ॥

[नोट—इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पन्न होती है कि, कर्मज्ञानादि से भी कहीं बढ़ कर भगवत्कैङ्कर्य की महिमा है ।]

गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ।
एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ॥ ३१ ॥

हे महाबली गृद्धराज ! मैंने तुम्हारा अन्तिम संस्कार किया है । अब तुम जाओ । यह कह कर और गीध के मृत शरीर को चिता पर रख उसमें श्रीरामचन्द्र ने आग लगा दी ॥ ३१ ॥

ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ।
रामोऽथ सहसौमित्रिर्वनं गत्वा स वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

धर्मात्मा अर्थात् कृतज्ञ श्रीरामचन्द्र अपने भाई बन्द की तरह जटायु का दाहकर्म कर, दुःखी हुए । तदनन्तर पराक्रमी श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के साथ वन में जा, ॥ ३२ ॥

स्थूलान्हत्वा महारोहीननु तस्तार तं द्विजम् ।
रोहिमांसानि चोत्कृत्य पेशीकृत्य महायशाः ॥ ३३ ॥

शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ।
यत्तत्प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः ॥ ३४ ॥

तत्स्वर्गगमनं तस्य पित्र्यं[1] रामो जजाप ह ।
ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ॥
उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ३५ ॥

मोटी रोहू मछलियों को मार कर, उस पक्षी के लिये महायशस्वी श्रीराम ने भूमि पर कुश बिछाये। फिर मछलियों के मांस के टुकड़े कर और मांस को साफ कर तथा उसे पीस कर, उसके पिण्ड बना सुन्दर हरे कुशों के ऊपर पक्षी को पिण्डदान किया। ब्राह्मणगण मृतकर्म में मृतपुरुष की सद्गति के लिये जिन मंत्रों का प्रयोग करते हैं, उन मंत्रों का प्रयोग श्रीरामचन्द्र जी ने गृद्धराज की स्वर्गगमन कामना के लिये, उसको अपना पितर मान, किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित गोदावरी नदी के तट पर पहुँच कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जले गृध्राय राघवौ ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने शास्त्र की निर्दिष्ट की हुई विधि से जल में स्नान कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥ ३६ ॥

स गृध्रराजः कृतवान्यशस्करं
सुदुष्करं कर्म रणे निपातितः ।
महर्षिकल्पेन च संस्कृतस्तदा
जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वह जटायु, जिसने अत्यन्त दुष्कर और यश देने वाला कर्म कर युद्ध में प्राण गँवाये थे, महर्षियों की तरह श्रीराम-

---

1 पित्र्यं—पितृदेवताकं। (गो०)

चन्द्र जी के हाथ से अन्तिम संस्कार पाकर परमपवित्र पुण्यगति अर्थात् परमपद (त्रिपाद विभूति-वैकुण्ठ) को प्राप्त हुआ ॥३७॥

कृतोदकौ तावपि पक्षिसत्तमे
स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मतुः ।
प्रवेश्य सीताधिगमे ततो मनो
वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवासवौ ॥ ३८ ॥

इति अष्टषष्ठितमः सर्गः ॥

पक्षियों में उत्तम जटायु का श्राद्धादि कर्म कर और पक्षिराज के इस कथन में कि, तुमको सीता मिलेगी, विश्वास कर, दोनों भाई सीता को खोजने के लिये इन्द्र और उपेन्द्र की तरह वन में आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

[नोट—इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पन्न होती है कि, श्राद्धादि मृतक कर्म करने की पद्धति अनादि काल से चला आ रहा है। दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि श्रीरामचन्द्र जी ने वैदिक मन्त्रों से गीध का पिण्ड दानादि क्यों किया? इस शङ्का का समाधान करते हुए भूषणटीकाकार ने कहा है कि, गीध भगवद्भक्त था, अतः उसके लिये वर्ण का बंधन नहीं रहा। क्योंकि महाभारत का यह वचन है कि—

"नशूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥]"

अरण्यकाण्ड का अड़सठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ ।

—:※:—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:※:—

कृत्वैवमुदकं तस्मै प्रस्थितौ रामलक्ष्मणौ ।
अवेक्षन्तौ वने सीतां पश्चिमां जग्मतुर्दिशम् ॥ १ ॥

पक्षिराज की जलक्रियादि पूर्ण कर, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से रवाने हो, वन में सीता को ढूंढते हुए पश्चिम दिशा की ओर चले ॥ १ ॥

तौ दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ ।
अविप्रहतमैक्ष्वाकौ पन्थानं प्रतिजग्मतुः* ॥ २ ॥

फिर धनुष बाण खड्ग हाथों में ले दोनों भाई उस मार्ग से जिस पर पहले कोई नहीं चला था, चल कर, पश्चिम दक्षिण के कोण की ओर चले ॥ २ ॥

गुल्मैर्वृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम् ।
आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ३ ॥

अनेक प्रकार के घने झाड़, वृक्षवल्ली, लता आदि होने के कारण वह रास्ता केवल दुर्गम ही नहीं था, बल्कि भयङ्कर भी था ॥ ३ ॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन व्यालसिंहनिषेवितम् ।
सुभीमं तन्महारण्यं व्यतियातौ महाबलौ ॥ ४ ॥

इस मार्ग को तै कर, वे अत्यन्त बलवान दोनों राजकुमार, ऐसे स्थान में पहुँचे, जहाँ पर अजगर सर्प और सिंह रहते थे। इस महाभयङ्कर महारण्य को भी उन दोनों ने पार किया ॥ ४ ॥

ततः परं जनस्थानात्त्रिक्रोशं गम्य राघवौ ।
क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर चलते चलते वे दोनों बड़े पराक्रमी राजकुमार जनस्थान से तीन कोस दूर, क्रौञ्च नामक एक घने जङ्गल में पहुँचे ॥५॥

---

* पाठान्तरे— "पन्थानं प्रतिपेदतुः" ।
अथवा "पन्थानमभिजग्मतुः" ।

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टमिव सर्वतः ।
नानापक्षिगणैर्जुष्टं नानाव्यालमृगैर्युतम् ॥ ६ ॥

यह वन मेघों की घटा की तरह गंभीर था। उसमें जिधर देखो उधर फूल खिले हुए होने के कारण तथा भाँति भाँति के पक्षियों से भरा पूरा और तरह तरह के अजगरों और अन्य वन जन्तुओं से परिपूर्ण होने के कारण वह हँसता हुआ सा जान पड़ता था ॥६॥

दिदृक्षमाणौ वैदेहीं तद्वनं तौ विचिक्यतुः ।
तत्र तत्रावतिष्ठन्तौ सीताहरणकर्शितौ ॥ ७ ॥

दोनों राजकुमार सीता जी के हरण से दुःखित हो, उस वन में इधर उधर सीता जी को खोजने लगे। बीच बीच में वे ठहर भी जाते थे ॥ ७ ॥

ततः पूर्वेण तौ गत्वा त्रिक्रोशं भ्रातरौ तदा ।
क्रौञ्चारण्यमतिक्रम्य मतङ्गाश्रममन्तरे ॥ ८ ॥

तदनन्तर वे दोनों राजकुमार तीन कोस पूर्व की ओर जा, क्रौञ्चारण्य को पार कर, मतङ्गाश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा तु तद्वनं घोरं बहुभीममृगद्विजम् ।
नानासत्त्वसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम् ॥ ९ ॥

वह वन बहुत से भयङ्कर बनैले जीव जन्तुओं से भरा हुआ होने के कारण बड़ा भयङ्कर था। उसमें तरह तरह के जीव जन्तु रहते थे और वह सघन वृक्षों से भरा हुआ था ॥ ९ ॥

ददृशाते तु तौ तत्र दरीं दशरथात्मजौ ।
पातालसमगम्भीरां तमसा नित्यसंवृताम् ॥ १० ॥

दोनों दशरथनन्दनों ने वहाँ पर एक पर्वत-कन्दरा देखी। वह पाताल की तरह गहरी थी और उसमें सदा अंधकार छाया रहता था॥ १०॥

आसाद्य तौ नरव्याघ्रौ दर्यास्तस्या विदूरतः।
ददृशाते महारूपां राक्षसीं विकृताननाम्॥ ११॥

उन दोनों पुरुषसिंहों ने, उस गुफा के समीप जा कर एक भयङ्कर रूप वाली विकरालमुखी राक्षसी को देखा॥ ११॥

भवदामल्पसत्त्वानां बीभत्सां रौद्रदर्शनाम्।
लम्बोदरीं तीक्ष्णदंष्ट्रां करालां परुषत्वचम्॥ १२॥

वह छोटे जीव जन्तुओं के लिये बड़ी डरावनी थी। उसका रूप बड़ा घिनौना था। वह देखने में बड़ी भयङ्कर थी। क्योंकि उसकी डाढ़ें बड़ी पैनी थीं और पेट बड़ा लंबा था। उसकी खाल बड़ी कड़ी थी॥ १२॥

भक्षयन्तीं मृगान्भीमान्विकटां मुक्तमूर्धजाम्।
प्रैक्षेतां तौ ततस्तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १३॥

वह बड़े बड़े मृगों को खाया करती थी, वह विकट रूप वाली और सिर के बालों को खोले हुए थी। ऐसी उस राक्षसी को उन दोनों भाइयों ने देखा॥ १३॥

सा समासाद्य तौ वीरौ व्रजन्तं भ्रातुरग्रतः।
एहि रंस्यावहेत्युक्त्वा समालम्बत[1] लक्ष्मणम्॥ १४॥

---

[1] समालम्बत—हस्ते गृहीतवती। (गो०)

वह राक्षसी इन दोनों भाइयों को देख और आगे चलते हुए लक्ष्मण को देख, बोली—"आओ हम दोनों विहार करें", तदनन्तर उसने लक्ष्मण का हाथ पकड़ लिया ॥ १४ ॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रिमुपगूह्य[1] सा ।
अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः ॥ १५ ॥

वह लक्ष्मण जी को चिपटा कर कहने लगी—मेरा अयोमुखी नाम है। तुम मुझे बड़े प्रिय हो। बड़े भाग्य से तुम मुझे मिले हो ॥ १५ ॥

नाथ पर्वतकूटेषु नदीनां पुलिनेषु च ।
आयुःशेषमिमं वीर त्वं मया सह रंस्यसे ॥ १६ ॥

हे नाथ ! दुर्गम पर्वतों में और नदियों के तटों पर जीवन के शेष दिनों तक मेरे साथ तुम विहार करना ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खड्गमुद्धृत्य लक्ष्मणः ।
कर्णनासौ स्तनौ चास्या निचकर्तारिसूदनः ॥ १७ ॥

उसके ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी ने कुपित हो और म्यान से तलवार निकाल उसके नाक, कान और स्तनों को काट डाला ॥ १७ ॥

कर्णनासे निकृत्ते तु विस्वरं सा विनद्य च ।
यथागतं प्रदुद्राव राक्षसी भीमदर्शना ॥ १८ ॥

जब उसके कान और नाक काट डाले गये, तब वह भयङ्कर राक्षसी भयङ्कर नाद करती जिधर से आयी थी उधर ही को भाग खड़ी हुई ॥ १८ ॥

---

[1] उपगुह्य—आलिङ्गय । (गो०)

तस्यां गतायां गहनं विशन्तौ वनमोजसा ।
आसेदतुरमित्रघ्नौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

जब वह वहाँ से चली गयी तब शत्रुओं का नाश करने वाले और महातेजस्वी दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से शीघ्रता पूर्वक चल एक गहन वन में पहुँचे ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्तु महातेजाः [1]सत्त्ववाञ्शी[2]लवाञ्शुचिः[3] ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं भ्रातरं भीमतेजसम्* ॥ २० ॥

महातेजस्वी, निर्मल मन वाले, सदाचारी एवं पवित्र शरीर वाले लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर प्रकाशमान श्रीरामचन्द्रजी से बोले ॥२०॥

स्पन्दते मे दृढं बाहुरुद्विग्नमिव मे मनः ।
प्रायशश्चाप्यनिष्टानि निमित्तान्युपलक्षये ॥ २१ ॥

हे भाई ! मेरी वाम भुजा बहुत फड़क रही है और मन ऊब सा रहा है । इनके अतिरिक्त और भी अपशकुन मुझे देख पड़ते हैं ॥२१॥

तस्मात्सज्जीभवार्य त्वं कुरुष्व वचनं हितम् ।
ममैव हि निमित्तानि सद्यः शंसन्ति सम्भ्रमम् ॥ २२ ॥

सो आप मेरे कहने से तैयार रहिये । ये सारे के सारे अपशकुन मुझे निकटवर्ती भय की स्पष्ट सूचना दे रहे हैं ॥ २२ ॥

एष वञ्जुलको नाम पक्षी परमदारुणः ।
आवयोर्विजयं युद्धे शंसन्निव विनर्दति ॥ २३ ॥

---

१ सत्त्ववान—निर्मलमनस्कः । (गो०) २ शीलवान्—सद्वृत्तान् (गो०) ५ शुचि—कायशुद्धियुक्तः । (गो०) * पाठान्तरे—"दीप्ततेजसम्"

परन्तु विजय हमारी अवश्य होगी। क्योंकि यह अत्यन्त भयानक वञ्चुलक पक्षी मानों हमारी विजयसूचना का बखान करता हुआ बोल रहा है ॥ २३ ॥

तयोरन्वेषतोरेवं सर्वं तद्वनमोजसा ।

संजज्ञे विपुलः शब्दः प्रभञ्जन्निव तद्वनम् ॥ २४ ॥

जिस समय तेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मण उस वन को ढूँढ रहे थे; उस समय एक ऐसा भयानक शब्द सुन पड़ा, जिससे ऐसा जान पड़ा कि, मानों वन टुकड़े टुकड़े हुआ जाता हो ॥ २४ ॥

संवेष्टितमिवात्यर्थं गगनं मातरिश्वना[१] ।

वनस्य तस्य शब्दोऽभूद्दिवमापूरयन्निव ॥ २५ ॥

इतने में बड़ी ज़ोर से आंधी चली। पवन चलने के शब्द से समस्त वन शब्दायमान हो गया और वह शब्द आकाश में छा सा गया ॥ २५ ॥

तं शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः कक्षे[२] सहानुजः ।

ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥ २६ ॥

वे दोनों भाई उस शब्द होने का कारण जानना ही चाहते थे कि, एक बड़े डीलडौल का और चौड़ी छाती वाला राक्षस समीप ही देख पड़ा ॥ २६ ॥

आसेदतुस्ततस्तत्र तावुभौ प्रमुखे स्थितम् ।

विवृद्धमशिरोग्रीवं कबन्धमुदरेमुखम् ॥ २७ ॥

वह राक्षस आकर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सामने खड़ा हो गया। वह बहुत लंबा चौड़ा, बिना सिर और गरदन का कबन्ध था और उसका मुख पेट में था ॥ २७ ॥

---

१ मातरिश्वना—वायुना। (गो०) २ कक्षे—गुल्मे। (गो०)

रोमभिर्निचितैस्तीक्ष्णैर्महागिरिमिवोच्छ्रितम् ।
नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ २८ ॥

उसके शरीर के रोंगटे काँटों की तरह नुकीले थे और वह पहाड़ की तरह ऊँचा था। बड़ा भयङ्कर और मेघ की गरज की तरह उसका स्वर था ॥ २८ ॥

अग्निज्वालानिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता ।
महापक्ष्मेण पिङ्गेन विपुलेनायतेन च ॥ २९ ॥

अग्नि की शिखा की तरह प्रदीप्त उसका एक नेत्र ललाट में था, जिस पर घुमैले पलक थे। वह नेत्र बड़ा भी बहुत था ॥ २९ ॥

एकेनोरसि घोरेण नयनेनाशुदर्शिना ।
महादंष्ट्रोपपन्नं तं लेलिहानं महामुखम् ॥ ३० ॥

एक नेत्र उसका उसकी छाती पर था। यह नेत्र अत्यन्त भयङ्कर देख पड़ता था। उसका मुख भी बहुत बड़ा था, जिसमें बड़े बड़े दाँत थे और वह अपने ओठों को चाटता था ॥ ३० ॥

भक्षयन्तं महाघोरानृक्षसिंहमृगाद्विपान् ।
घोरौ भुजौ विकुर्वाणमुभौ योजनमायतौ ॥ ३१ ॥
कराभ्यां विविधान्गृह्य ऋक्षान्पक्षिगणान्मृगान् ।
आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान्मृगयूथपान् ॥ ३२ ॥

बड़े बड़े भयङ्कर भालुओं, सिंहों, मृगों, और पक्षियों को वह खाया करता था और बड़ी बड़ी तथा भयङ्कर एवं एक योजन भर लंबी दोनों भुजाओं को फैला, हाथों से अनेक रीछों, पक्षियों, और मृगों को पकड़ कर, अपने मुख में डाल लिया करता था ॥३१॥३२॥

स्थितमावृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रोः प्रपन्नयोः[1] ।
अथ तौ समभिक्रम्य क्रोशमात्रे ददर्शतुः ॥ ३३ ॥
महान्तं दारुणं भीमं कबन्धं भुजसंवृतम् ।
कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥ ३४ ॥
स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ ।
जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन्बलात् ॥ ३५ ॥

वह रास्ता रोंके हुए था । एक कोस की दूरी से ही राक्षस दोनों भाइयों को देख पड़ा और जब वे उसके पास पहुँचे, तब उस अत्यन्त भयङ्कर एवं निष्ठुर कबन्ध ने अपनी लंबी भुजाएँ फैला कर उन दोनों को कसकर पकड़ लिया ॥ ३३ ॥ ३४ ३५ ॥

खड्गिनौ दृढधन्वानौ तिग्मतेजोवपुर्धरौ ।
भ्रातरौ विवशं प्राप्तौ कृष्यमाणौ महाबलौ ॥ ३६ ॥

तलवार और मज़बूत धनुष लिये हुए, अत्यन्त तेजस्वी शरीरधारी और महाबलवान् होने पर भी, वे दोनों भाई कबन्ध द्वारा खींच लिये गये ॥ ३६ ॥

तत्र धैर्येण शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे ।
बाल्यादनाश्रयत्वाच्च लक्ष्मणस्त्वतिविव्यथे ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र तो अपनी धीरता और वीरता से दुःखी न हुए, परन्तु लक्ष्मण बालक होने के कारण पकड़े जाने पर घबड़ा गये ॥ ३७ ॥

उवाच च विषण्णः सन्राघवं राघवानुजः ।
पश्य मां वीर विवशं राक्षसस्य वशं गतम् ॥ ३८ ॥

---

[1] प्रपन्नयोः—समीपं प्राप्तयोः । (गो०)

और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले, हे वीर ! देखो मैं तो इस राक्षस के फंदे में फँस गया ॥ ३८ ॥

मयैकेन विनियुक्तः परिमुञ्चस्व राघव ।

मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम् ॥ ३९ ॥

अतः अब आप मेरा इस राक्षस को बलि दे और अपने को छुड़ा, आप सुखपूर्वक चले जाइये ॥ ३९ ॥

अधिगन्तासि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः ।

प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम् ॥ ४० ॥

हे काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र ! मुझे निश्चय है कि, आपको सीता मिलेगी। और पुरखों का राज्य पा कर ॥ ४० ॥

तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा ।

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

और राजसिंहासन पर बैठ मुझे सदा स्मरण करते रहियेगा अथवा मुझे भूल मत जाइयेगा। जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा तब श्रीरामचन्द्र जी उनसे बोले ॥ ४१ ॥

मा स्म त्रासं कृथा वीर न हि त्वादृग्विषीदति ।

एतस्मिन्नन्तरे क्रूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥

हे वीर ! भयभीत मत हो। क्योंकि तुम्हारे ऐसे पराक्रमी पुरुषों को इस प्रकार घबड़ाना उचित नहीं। इतने में उस निर्दयी राक्षस ने दोनों भाई श्रीराम लक्ष्मण से कहा ॥ ४२ ॥

पप्रच्छ घननिर्घोषः कबन्धो दानवोत्तमः ।

कौ युवां वृषभस्कन्धौ महाखड्गधनुर्धरौ ॥ ४३ ॥

दानवोत्तम कबन्ध ने मेघ की तरह गरज कर पूछा कि, तुम दोनों युवक जो वृषभ जैसे ऊँचे कंधों वाले और बड़े बड़े खड्गों को धारण किये हुए हो, कौन हो? ॥ ४३ ॥

घोरं देशमिमं प्राप्तौ मम भक्षावुपस्थितौ ।
वदतं कार्यमिह वां किमर्थं चागतौ युवाम् ॥ ४४ ॥

इस भयङ्कर वन में आकर तुम मेरे भक्ष्य बने हो। अब तुम अपना प्रयोजन बतलाओ कि, तुम दोनों यहाँ क्यों आये हो ॥ ४४ ॥

इमं देशमनुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः ।
सबाणचापखड्गौ च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ ॥ ४५ ॥

मैं इस समय भूख से दुःखी हो रहा हूँ। सो तुम्हारा यहाँ धनुष बाण और खड्ग धारण कर, पैने सींगों के बैल की तरह आना ॥ ४५ ॥

ममास्यमनुसम्प्राप्तौ दुर्लभं जीवितं पुनः ।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः ॥ ४६ ॥

मानों मेरे मुख में पड़ना है। अतः तुम्हारा अब जीवित बचना दुर्लभ है। उस दुष्ट कबन्ध के ये वचन सुन ॥ ४६ ॥

उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ।
कृच्छ्रात्कृच्छ्रतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम ॥ ४७ ॥

सूखे मुख से श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण से बोले। हे सत्यपराक्रमी! देखो, ऐसे ऐसे दारुण कष्ट सह कर, ॥ ४७ ॥

व्यसनं जीवितान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम् ।
कालस्य सुमहद्वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४८ ॥

और प्राणों को जोखों में डाल कर कर भी प्यारी सीता को हम न पा सके। हे लक्ष्मण! मुझे तो काल ही सब से बढ़ कर बली जान पड़ता है ॥ ४८ ॥

त्वां च मां च नरव्याघ्र व्यसनैः पश्यमोहितौ।
नातिभारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

हे लक्ष्मण! देखो, तुम और मैं दोनों ही काल के प्रभाव से इस विपत्ति में आ फंसे हैं। प्राणिमात्र को दुःख देने में काल को तनिक भी श्रम नहीं होता ॥ ४९ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च रणाजिरे।
कालाभिपन्नाः सीदन्ति तथा वालुकसेतवः ॥ ५० ॥

देखो, शूर, बलवान् एवं अस्त्रविद्या में पटु लोग भी युद्ध में काल के वश होकर बालू के बांध की तरह खसक पड़ते हैं ॥ ५० ॥

इति ब्रुवाणो दृढसत्यविक्रमो
महायशा दाशरथिः प्रतापवान्।
अवेक्ष्य सौमित्रिमुदग्रपौरुषं
स्थिरां तदा स्वां मतिमात्मनाऽकरोत् ॥ ५१ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

दृढ़, सत्यपराक्रमी, प्रतापी और महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने बड़े पुरुषार्थी लक्ष्मण को देख कर और मन में सोच समझ कर, धैर्य धारण किया ॥ ५१ ॥

अरण्यकाण्ड का उनहत्तरवां सर्ग पूरा हुआ।

—※—

सप्ततितमः सर्गः

—※—

तौ तु तत्र स्थितौ दृष्ट्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ।
बाहुपाशपरिक्षिप्तौ कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को अपनी बाहों में जकड़े हुए खड़े देख, कबन्ध ने उनसे कहा ॥ १ ॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्ट्वा क्षुधार्तं क्षत्रियर्षभौ।
आहारार्थं तु सन्दिष्टौ दैवेन गतचेतसौ ॥ २ ॥

अरे क्षत्रियश्रेष्ठ! मुझे देख तुम दोनों जन डरे हुए से क्यों खड़े हो! मुझ भूखे के आहार के लिये विधाता ने तुमको मेरे पास भेज दिया है ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो वाक्यं प्राप्तकालं हितं तदा।
उवाचार्तिं समापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः* ॥ ३ ॥

कबन्ध के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी दुःखित हो और अपना बल अज़माने का निश्चय कर, समयानुकूल श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३ ॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः।
तस्मादसिभ्यामस्याशु बाहू च्छिन्दावहै गुरू ॥ ४ ॥

देखो, यह राक्षसाधम हम दोनों को पकड़े हुए है। अतः हम दोनों इसकी ये दोनों बड़ी भारी भुजाएं काट डालें ॥ ४ ॥

---

* पाठान्तरे—"कृतलक्षणः"।

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः।
लोकं ह्यतिजितं कृत्वा ह्यावां हन्तुमिहेच्छति ॥ ५ ॥

यह बड़े डीलडौल का भयङ्कर राक्षस केवल अपनी भुजाओं के बलबूते पर सब लोकों को जीत कर, अब हम दोनों को मार डालना चाहता है ॥ ५ ॥

निश्चेष्टानां वधो राजन्कुत्सितो जगतीपतेः।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥ ६ ॥

हे राघव! यज्ञ में बलि देने के लिये लाये गये बकरों की तरह चेष्टा रहित मरना क्षत्रियों के लिये बड़ी निन्दा की बात है ॥ ६ ॥

एतत्सञ्जल्पितं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः।
विदार्यास्यं तदा रौद्रस्तौ भक्षयितुमारभत् ॥ ७ ॥

उन दोनों की इस प्रकार की बातचीत सुन, राक्षस क्रुद्ध हो अपना भयङ्कर मुँह फैला, उन दोनों को खाने के लिये तैयार हुआ ॥ ७ ॥

ततस्तौ देशकालज्ञौ खड्गाभ्यामेव राघवौ।
अच्छिन्दतां सुसंहृष्टौ[1] बाहू तस्यांसदेशतः ॥ ८ ॥

तब देश और काल के जानने वाले श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने अपनी अपनी तलवारों से उसकी बाहें सहज में कन्धे से काट डालीं ॥ ८ ॥

दक्षिणो[2] दक्षिणं बाहुमसक्त[3]मसिना ततः।
चिच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरस्तु लक्ष्मणः ॥ ९ ॥

---

१ सुसंहृष्टौ—कदलीकाण्ड वत्सुखच्छेदनादिति। (गो०) २ दक्षिणः—समर्थः। (गो०) ३ असक्तं—अप्रतिबंधं यथाभवति तथा। (गो०)

तलवार चलाने में समर्थ अथवा दक्ष श्रीरामचन्द्र ने उसकी दहिनी भुजा और शूरवीर लक्ष्मण ने उसकी बाईं भुजा बड़ी फुरती से काटी ॥ ९ ॥

स पपात महाबाहुश्छिन्नबाहुर्महास्वनः ।
खं च गां च दिशश्चैव नादयञ्जलदो यथा ॥ १० ॥

भुजाओं के कटते ही महाबाहु कबन्ध, मेघ की तरह भयङ्कर शब्द कर और अपने उस भयङ्कर शब्द से आकाश, पृथिवी तथा समस्त दिशाओं को पूरित करता हुआ, भूमि पर गिर पड़ा ॥१०॥

स निकृत्तौ भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः ।
दीनः पप्रच्छ तौ वीरौ कौ युवामिति दानवः ॥ ११ ॥

दोनों भुजाओं के कटने से अपने शरीर को रुधिर से लस्त-पस्त देख और दीन हो, दानव कबन्ध ने पूछा, तुम दोनों युवक कौन हो ? ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
शशंस राघवं तस्य कबन्धस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

इस प्रश्न के उत्तर में शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण, कबन्ध को, श्रीरामचन्द्र का परिचय देते हुए, कहने लगे ॥ १२ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
अस्यैवावरजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

यह इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न हैं और श्रीराम के नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं। मैं इनका छोटा भाई हूँ और मेरा नाम लक्ष्मण है ॥१३॥

[मात्रा प्रतिहृते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम् ।
मया सह चरत्येष भार्यया च महद्वनम्] ॥ १४ ॥

इनकी सौतेली माता ने इनकी राज्य की प्राप्ति में बाधा डाली और उसके कहने से ये, वन में चले आये। सो मेरे तथा अपनी भार्या के सहित ये महावन में विचरण करते थे ॥ १४ ॥

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने ।
राक्षसाऽपहृता पत्नी यामिच्छन्ताविहागतौ ॥ १५ ॥

इन देवतुल्य प्रभावशाली श्रीरामचन्द्र की पत्नी को, इस विजन वन में रहने के समय, एक राक्षस हर कर ले गया है। उसीको खोजते खोजते हम लोग यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

त्वं तु को वा किमर्थं वा कबन्धसदृशो वने ।
आस्येनोरसि दीप्तेन भग्नजङ्घो [1]विचेष्टसे ॥ १६ ॥

यह तो बतलाओ कि, तुम कौन हो और किस लिये कबन्ध की तरह और अपनी छाती में चमचमाता मुख लगाये, जंघारहित हो, इस निर्जन वन में लोट रहे हो ॥ १६ ॥

एवमुक्तः कबन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः ।
उवाच परमप्रीतस्तदिन्द्रवचनं स्मरन् ॥ १७ ॥

लक्ष्मण जी का वचन सुन, वह राक्षस हर्षित हो और इन्द्र की कही बात को स्मरण कर, कहने लगा ॥ १७ ॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्ट्या पश्यामि चाप्यहम् ।
दिष्ट्या चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ ॥१८॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं तुम दोनों का स्वागत करता हूँ। आज भाग्य ही से मैंने तुम दोनों के दर्शन पाये हैं। यह भी मेरे लिये सौभाग्य

---

1 विचेष्टसे—लुठसीतियावत्। गो०।

की बात है कि, मेरे इन दोनों बाहुरूपी बन्धनों को तुमने काट डाला ॥ १८ ॥

विरूपं यच्च मे रूपं प्राप्तं ह्यविनयाद्यथा ।
तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव ॥ १९ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

मैंने अपनी अनम्रता से जिस प्रकार यह बेढंगा रूप पाया है, उसका यथार्थ वर्णन मैं करता हूँ। हे नरव्याघ्र ! उसे तुम सुनो॥१६॥

अरण्यकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

एकसप्ततितमः सर्गः

—*—

पुरा राम महाबाहो महाबलपराक्रम ।
रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १ ॥

हे महाबाहु श्रीरामचन्द्र ! प्राचीन काल में मैं महाबलवान् और बड़ा पराक्रमी था, मैं अपने अचिन्त्य रूप की सुन्दरता के लिये तीनों लोकों में वैसे ही प्रसिद्ध था ॥ १ ॥

यथा सोमस्य शक्रस्य सूर्यस्य च यथा वपुः ।
सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकवित्रासनं महत् ॥ २ ॥

जैसे सूर्य, इन्द्र और चन्द्रमा प्रसिद्ध हैं। मैं लोगों को डराने के लिये बड़ा भयानक रूप बना कर ॥ २ ॥

ऋषीन्वनगतान्राम त्रासयामि ततस्ततः ।
ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥ ३ ॥

हे राम! वन में बसने वाले ऋषियों को त्रस्त करने लगा। कुछ काल बीतने पर स्थूलशिरा नाम के एक महर्षि को मैंने कुपित किया ॥ ३ ॥

संचिन्वन्विविधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः ।
तेनाहमुक्तः प्रेक्ष्यैवं घोरशापाभिधायिना ॥ ४ ॥

एक दिन स्थूलशिरा वन में विविध भाँति के फूलफलादि इकट्ठे कर रहे थे। मैंने इस रूप से उनको बहुत दुःख दिया। तब उन्होंने मेरी ओर देख कर, मुझे घोर शाप दिया ॥ ४ ॥

एतदेवनृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम् ।
स मया याचितः क्रुद्धः शापस्यान्तो भवेदिति ॥ ५ ॥

वे बोले—तेरा इसी प्रकार का क्रूर और गर्हित रूप सदा के लिये हो जाय। क्रुद्ध हो उनको शाप देते देख, मैंने शाप के अन्त के लिये उनसे प्रार्थना की ॥ ५ ॥

अभिशापकृतस्येति तेनेदं भाषितं वचः ।
यदा च्छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद्विजने वने ॥ ६ ॥

तब शाप का अन्त होने के लिये उन्होंने कहा कि, जब श्रीरामचन्द्र तेरी दोनों भुजाएं काट विजन वन में तुझे फूंक देंगे ॥ ६ ॥

तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम् ।
श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥ ७ ॥
इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे ।
अहं हि तपसोग्रेण पितामह[1]मतोषयम् ॥ ८ ॥

---

१ रणाजिरे—रणाङ्गणे। (गो०)

तब तू पूर्ववत् अपना अत्यन्त सुन्दर और शुभ रूप पावेगा। हे लक्ष्मण! तुम मुझे दनु का पुत्र जानो। तब तक मेरा रूप सुन्दर था। किन्तु मेरा यह विकराल रूप तो रणाङ्गण में इन्द्र के कुपित होने से हुआ है। वह वृत्तान्त इस प्रकार है—मैंने उग्रतप द्वारा ब्रह्मा जी को सन्तुष्ट किया॥ ७॥ ८॥

दीर्घमायुः स मे प्रादात्ततो मां [1]विभ्रमोऽस्पृशत्।
दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं मे शक्रः करिष्यति॥ ९॥

सन्तुष्ट हो जब मुझे ब्रह्मा जी ने दीर्घायु होने का वरदान दिया; तब मुझे बड़ा गर्व हो गया। मैंने सोचा कि, जब मुझे दीर्घायु होने का वरदान मिल चुका है; तब इन्द्र मेरा क्या कर सकता है॥ ९॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमधर्षयम्।
तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा॥ १०॥

यह सोच मैंने युद्धक्षेत्र में इन्द्र को ललकारा। तब इन्द्र ने अपना सौ धार का वज्र मेरे ऊपर छोड़ा॥ १०॥

सक्थिनी चैव मूर्धा च शरीरे संप्रवेशितम्।
स मया याच्यमानः सन्नानयद्यमसादनम्॥ ११॥

जिसके लगने से मेरी दोनों जंघाएँ और मस्तक शरीर में घुस गये, किन्तु मेरे प्रार्थना करने पर मुझे मार नहीं डाला अथवा मैंने अपनी मौत चाही भी परन्तु उन्होंने मुझे यमपुर को नहीं भेजा॥११॥

पितामहवचः सत्यं तदस्त्विति ममाब्रवीत्।
अनाहारः कथं शक्तो भग्नसक्थिशिरोमुखः॥ १२॥

---

[1] विभ्रमोगर्वः (रा०)।

प्रत्युत इन्द्र ने इतना ही कहा कि, जाओ पितामह ब्रह्मा जी का वचन सत्य हो। इस पर मैंने इन्द्र से कहा कि—जंघा, सिर और मुख तो आपने वज्र के आघात से मेरे शरीर में घुसा दिये। अब मैं भोजन बिना बहुत दिनों तक कैसे जीता रहूँगा॥ १२॥

वज्रेणाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम्।
एवमुक्तस्तु मे शक्रो बाहू योजनमायतौ॥ १३॥

इस बात को सुन इन्द्र ने कहा कि, अच्छा, अब तेरी बाँहें, एक योजन लंबी हो जांयगी और तू बहुत दिनों तक जीवित भी रहेगा॥१३॥

प्रादादास्यं च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत्।
सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संकृष्यास्मिन्वनेचरान्॥१४॥
सिंहद्विपमृगव्याघ्रान्भक्षयामि समन्ततः।
स तु मामब्रवीदिन्द्रो यदा रामः सलक्ष्मणः॥ १५॥
छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गं गमिष्यसि।
अनेन वपुषा राम वनेऽस्मिन्राजसत्तम॥ १६॥

इन्द्र ने मेरे मुख में पैने पैने दांत लगा मुख मेरे पेट में लगा दिया। तब से मैं अपने दोनों लंबे हाथ फैला कर, वन में विचरने वाले सिंह, चीते, हिरन, तेंदुए को पकड़ पकड़ कर मुख में डाल लिया करता हूँ। इन्द्र ने मुझसे यह भी कहा कि, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जब तुम्हारी भुजाओं को काटेंगे, तब तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। तब से हे राजसत्तम! मैं इसी शरीर से इस वन में॥ १४॥ १५॥ १६॥

यद्यत्पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये।
अवश्यं ग्रहणं रामो मन्येऽहं समुपैष्यति॥ १७॥

मैं जिस जीवजन्तु को पाता, उसे पकड़ना अच्छा समझता था। साथ ही यह भी विचारता था कि, किसी दिन श्रीरामचन्द्र भी मेरी भुजाओं से अवश्य पकड़े जायँगे ॥ १७ ॥

इमां बुद्धिं पुरस्कृत्य देहन्यासकृतश्रमः ।
स त्वं रामोऽसि भद्रं ते नाहमन्येन राघव ॥ १८ ॥

इस प्रकार मैं इस शरीर को त्यागने के लिये प्रयत्न कर रहा था। सो आप वही राम हैं। क्योंकि और किसी का सामर्थ्य नहीं, जो मुझे मार सके ॥ १८ ॥

शक्यो हन्तुं यथातत्त्वमेवमुक्तं महर्षिणा ।
अहं हि [1]मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥ १९ ॥

क्योंकि महर्षि जी ही ने ऐसा कहा था सो सत्य ही हुआ। अतः हे पुरुषश्रेष्ठ! और तो मुझसे कुछ नहीं हो सकता, परन्तु मैं अपने बुद्धिबल से आपकी सहायता करूँगा ॥ १९ ॥

मित्रं चैवोपदेक्ष्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना ।
एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥ २० ॥

आप द्वारा मेरा अग्निसंस्कार होने पर, मैं आपको एक मित्र बताऊँगा। जब इस प्रकार से उस दनु के पुत्र ने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २० ॥

इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्योपशृण्वतः ।
रावणेन हृता भार्या मम सीता यशस्विनी ॥ २१ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को सुनाते हुए उससे कहा—रावण ने मेरी यशस्विनी भार्या सीता हर ली है ॥ २१ ॥

---

1 मतिसाचिव्यं—बुद्धिसाहाय्यं। (गो०)

निष्क्रान्तस्य जनस्थानात्सह भ्रात्रा यथासुखम् ।
नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥ २२ ॥

रावण ने जब सीता हरी, तब मैं लक्ष्मण सहित जनस्थान से बाहिर गया हुआ था। मैं उस राक्षस का नाम मात्र जानता हूँ, उसे पहचानता नहीं ॥ २२ ॥

निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विद्महे ।
शोकार्तानामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥ २३ ॥

हमें यह भी नहीं मालूम कि, वह कहाँ का रहने वाला है और उसका प्रभाव कैसा है। देखो, हम शोकाकुल और सहायहीन हो इधर उधर मारे मारे फिर रहे हैं ॥ २३ ॥

कारुण्यं सदृशं कर्तुमुपकारे च वर्तताम् ।
काष्ठान्यादाय शुष्काणि काले भग्नानि कुञ्जरैः ॥ २४ ॥

इसलिये तुम हम पर दया कर, हमारी उपयुक्त सहायता करो। हम हाथियों के, समय पर अर्थात् खाने के लिये तोड़े हुए लक्कड़ इकट्ठे कर, ॥ २४ ॥

धक्ष्यामस्त्वां वयं वीर श्वभ्रे महति कल्पिते ।
स त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हृता ॥ २५ ॥

और बड़ा गढ़ा खोद, हे वीर ! हम तुम्हें अभी भस्म किये देते हैं। किन्तु तुम यह तो बताओ कि, सीता को कौन हर कर ले गया है और कहाँ ले गया है ॥ २५ ॥

कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः ।
एवमुक्तस्तु रामेण वाक्यं दनुरनुत्तमम् ॥ २६ ॥

प्रोवाच कुशलो वक्तुं वक्तारमपि राघवम् ।
दिव्यमस्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥ २७ ॥

यदि तुम्हें ठीक ठीक हाल मालूम हो और यदि उसे तुम हमें बतला दोगे, तो इससे हमारा बड़ा काम निकलेगा। जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब वह दानवश्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी से बड़ी कुशलता के साथ कहने लगा। वह बोला—हे राम! न तो मुझे दिव्य ज्ञान है और न मैं सीता को पहिचानता ही हूँ ॥ २६ ॥ २७ ॥

यस्तां ज्ञास्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्वं रूपमास्थितः ।
अदग्धस्य तु विज्ञातुं शक्तिरस्ति न मे प्रभो ॥ २८ ॥

परन्तु मैं जल कर जब अपना असली रूप पाऊँगा, तब मैं उस बतलाने वाले का नाम ठिकाना बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है। हे प्रभो! विना दग्ध हुए बतलाने की मुझमें शक्ति नहीं है ॥ २८ ॥

राक्षसं तं महावीर्यं सीता येन हृता तव ।
विज्ञानं हि मम भ्रष्टं शापदोषेण राघव ॥ २९ ॥

जिस राक्षस ने तुम्हारी सीता हरी है वह बड़ा पराक्रमी है। हे राघव! शाप-दोष से मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है ॥ २९ ॥

स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ।
किंतु यावन्न यात्यस्तं सविता श्रान्तवाहनः ॥ ३० ॥

अपने पाप के बल से मुझे यह लोकनिन्दित रूप प्राप्त हुआ है। हे श्रीरामचन्द्र! सूर्यास्त होने के पूर्व ही ॥ ३० ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, मुर्दे को सूर्यास्त के बाद दग्ध न करना चाहिये।]

तावन्मामवटे क्षिप्त्वा दह राम यथाविधि ।
दग्धस्त्वयाऽहमवटे न्यायेन रघुनन्दन ॥ ३१ ॥
वक्ष्यामि तमहं वीर यस्तं ज्ञास्यति राक्षसम् ।
तेन सख्यं च कर्तव्यं न्यायवृत्तेन राघव ।
कल्पयिष्यति ते प्रीतः साहाय्यं लघुविक्रमः ॥ ३२ ॥

मुझे गढ़े में रख, यथाविधि भस्म कर दो। हे राम ! जब तुम मुझे विधिपूर्वक गढ़े में डाल भस्म कर दोगे, तब मैं उसका नाम तुमको बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है। तुम उससे न्यायपूर्वक मित्रता करना। वह प्रसन्न हो कर बहुत शीघ्र तुम्हारा काम कर देगा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

न हि तस्यास्त्वविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव ।
सर्वान्परिसृतो लोकान्पुराऽसौ कारणान्तरे ॥ ३३ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

क्योंकि तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वह न जानता हो। क्योंकि वह कारणान्तर से, सब लोकों में पहिले घूम चुका है ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

द्विसप्ततितमः सर्गः

—*—

एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कबन्धेन नरेश्वरौ ।
गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥ १ ॥

उन राजकुमारों से कबन्ध ने जब इस प्रकार कहा, तब उन दोनों भाइयों ने एक पहाड़ी गढ़े में उसके शरीर को डाल, आग लगा दी ॥ १ ॥

लक्ष्मणस्तु महोल्काभिर्ज्वलिताभिः समन्ततः ।
चितामादीपयामास सा प्रजज्वाल सर्वतः ॥ २ ॥

फिर लक्ष्मण ने बड़े बड़े लक्कड़ जला चारों ओर से चिता में आग लगा, चिता प्रदीप्त कर दी। चिता चारों ओर से जलने लगी ॥ २ ॥

तच्छरीरं कबन्धस्य घृतपिण्डोपमं महत् ।
मेदसा पच्यमानस्य मन्दं दहति पावकः ॥ ३ ॥

तब कबन्ध का घी के पिंड के समान चरबी से पूर्ण बड़ा शरीर, अग्नि में धीरे धीरे जलने लगा ॥ ३ ॥

स विधूय चितामाशु विधूमोऽग्निरिवोत्थितः ।
अरजे वाससी बिभ्रन्मालां दिव्यां महाबलः ॥ ४ ॥

तदनन्तर महाबली कबंध शीघ्र चिता को छोड़, दो स्वच्छ वस्त्र और दिव्य माला धारण कर, धूमरहित अग्नि की तरह उसमें से निकला ॥ ४ ॥

ततश्चिताया वेगेन भास्वरो विमलाम्बरः ।
उत्पपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥ ५ ॥

वह कान्तियुक्त शरीर धारण कर, प्रसन्न होता हुआ, बड़े वेग से आकाश में गया। उसके शरीर के समस्त अंग प्रत्यंग गहनों से भूषित थे ॥ ५ ॥

विमाने भास्वरे तिष्ठन्हंसयुक्ते यशस्करे ।
प्रभया च महातेजा दिशो दश विराजन् ॥ ६ ॥

तदनन्तर वह चमचमाते हंसयुक्त यश देने वाले विमान में बैठकर अपने शरीर की प्रभा से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने लगा ॥६॥

सोऽन्तरिक्षगतो रामं कबन्धो वाक्यमब्रवीत् ।
शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतामवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

आकाश में पहुँच कबन्ध ने श्रीराम को सम्बोधन कर कहा—हे श्रीरामचन्द्र ! सुनो मैं बतलाता हूँ जिस प्रकार तुमको सीता मिलेगी ॥ ७ ॥

राम षड्युक्तयो लोके याभिः सर्वं विमृश्यते ।
परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन सेव्यते ॥ ८ ॥

काम करने को संसार में छः युक्तियाँ हैं-(यथा १ सन्धि, २ विग्रह, ३ यान, ४ आसन, ५ द्वैधीभाव और ६ समाश्रय) श्रेष्ठजन इन्हींकी सहायता से सब बातों का विचार करते हैं। इनको काम में लाये बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता। जो मनुष्य दुर्दशाग्रस्त होता है अथवा जिसे दुर्दशा घेर लेती है उसकी दुर्दशा ही होती चली जाती है ॥ ८ ॥

दशाभागगतो हीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः ।
यत्कृते व्यसनं प्राप्तं त्वया दारप्रधर्षणम् ॥ ९ ॥

तुम दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण दुर्दशाग्रस्त हो रहे हो। इसीसे स्त्रीहरण का यह दुःख तुम पर पड़ा है ॥ ९ ॥

तदवश्यं त्वया कार्यः स सुहृत्सुहृदां वर ।
अकृत्वा हि न ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

अतः हे सुहृदों में श्रेष्ठ ! तुम अवश्य उससे मैत्री करो। क्योंकि मैंने बहुत सोचा, मुझे तो तुम्हारे कार्य की सिद्धि, बिना उससे मैत्री किये. अन्य किसी उपाय से नहीं दीख पड़ती ॥ १० ॥

श्रूयतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः ।
भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन वालिना शक्रसूनुना ॥ ११ ॥

हे श्रीराम ! सुनो, मैं कहता हूँ ! सुग्रीव नाम का एक वानर है। इन्द्रपुत्र वालि ने उस अपने भाई को क्रुद्ध हो, निकाल दिया है ॥ ११ ॥

ऋश्यमूके गिरिवरे पम्पापर्यन्तशोभिते ।
निवसत्यात्मवान्वीरश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥ १२ ॥

वह ज्ञानवान सुग्रीव अपने चार साथी वानरों के सहित ऋष्यमूक पर्वत पर जो पम्पा सरोवर तक फैला हुआ शोभायमान है, सदा वास करता है ॥ १२ ॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजोवानमितप्रभः ।
सत्यसन्धो विनीतश्च धृतिमान्मतिमान्महान् ॥ १३ ॥

वह वानरों का राजा सुग्रीव बड़ा बलवान, तेजस्वी, अमित प्रभा वाला, सत्यप्रतिज्ञ, विनीत, धैर्यवान् और बड़ा बुद्धिमान है ॥ १३ ॥

दक्षः प्रगल्भो द्युतिमान्महाबलपराक्रमः ।
भ्रात्रा विवासितो राम राज्यहेतोर्महाबलः ॥ १४ ॥

वह सुग्रीव चतुर, साहसी, कान्तिमान् महाबली और महा पराक्रमी है। हे श्रीराम ! उस महाबली को उसके ज्येष्ठ भाई वाली ने राज्य के हेतु निकाल दिया है ॥ १४ ॥

स ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे ।
भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः ॥ १५ ॥

निश्चय ही वह तुमसे मैत्री करेगा और सीता के ढूढ़ने में तुम्हें सहायता भी देगा। हे राम ! तुम दुःखी मत हो ॥ १५ ॥

भवितव्यं हि यच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा ।
कर्तुमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥

हे इक्ष्वाकु-कुलशार्दूल ! होनहार को मेंटने की शक्ति किसी में नहीं है। क्योंकि काल की गति को कोई रोक नहीं सकता ॥ १६ ॥

गच्छ शीघ्रमितो राम सुग्रीवं तं महाबलम् ।
वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ॥ १७ ॥

अतः हे राम ! अब तुम शीघ्र यहाँ से महाबली सुग्रीव के पास जाओ। हे राघव ! यहाँ से शीघ्र जाकर तुम उससे मैत्री कर लो ॥१७॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ ।
स च ते नावमन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः ॥ १८ ॥

जिससे पीछे आपस में मनमुटाव न हो, इस लिये प्रज्वलित अग्नि को साक्षी कर मैत्री करना। साथ ही यह भी याद रखना कि, वानरराज सुग्रीव का आपके द्वारा कभी अपमान न होने पावे ॥ १८ ॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान् ।
शक्तौ ह्यद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

क्योंकि वह वानरराज कृतज्ञ है, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला है, बड़ा बलवान है और इस समय उसे भी सहायता

की आवश्यकता है (तुम दोनों उसके कार्य को करने में समर्थ भी हो) ॥ १९ ॥

कृतार्थो वाऽकृतार्थो वा कृत्यं तव करिष्यति ।
स ऋक्षरजसः पुत्रः पम्पामटति शङ्कितः ॥ २० ॥

चाहे उसका काम पूरा हो जाय या अधूरा ही रहै, किन्तु वह तुम्हारा काम कर देगा । वह ऋक्षराज नामक वानर का पुत्र, भाई के डर के मारे पम्पा के किनारे किनारे घूमा करता है ॥ २० ॥

भास्करस्यौरसः पुत्रो वालिना कृतकिल्बिषः[1] ।
सन्निधायायुधं क्षिप्रमृश्यमूकालयं कपिम् ॥ २१ ॥

वह सूर्य का औरस पुत्र, वालि से शत्रुता होने के कारण बहुत दुःखी रहता है । तुम सब आयुधों को रख कर, उस ऋष्यमूक पर्वतवासी वानर से ॥ २१ ॥

कुरु राघव सत्येन[2] वयस्यं वनचारिणम् ।
स हि स्थानानि सर्वाणि कार्त्स्न्येन कपिकुञ्जरः ॥ २२ ॥
नरमांसाशिनां लोके नैपुण्यादधिगच्छति ।
न तस्याविदितं लोके किञ्चिदस्ति हि राघव ॥ २३ ॥

शपथपूर्वक मैत्री करना । क्योंकि वह कपिकुञ्जर सुग्रीव मनुष्याहारी राक्षसों के समस्त स्थानों को भली भाँति जानता है । हे राघव ! लोक में कोई भी जगह ऐसी नहीं, जिसे वह न जानता हो ॥ २२ ॥ २३ ॥

---

१ कृतकिल्बिषः—कृतवैरः । (गो०) २ सत्येन—शपथेन । (गो०)

यावत्सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुररिन्दम ।
स नदीर्विपुलाञ्छैलान्गिरिदुर्गाणि कन्दरान् ॥ २४ ॥

हे अरिन्दम ! जहाँ तक सूर्य की किरणें जा सकती हैं उतने बीच की समस्त नदियों, पर्वतों, दुर्गम स्थानों और कन्दराओं को ॥ २४ ॥

अन्वीक्ष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति ।
वानरांश्च महाकायान्प्रेषयिष्यति राघव ॥ २५ ॥

वानरों के साथ ढूंढ कर वह तुम्हारी पत्नी तुमको प्राप्त करवा देगा । अथवा (स्वयं न जाकर) अपने अधीनस्थ बड़े डीलडौल के बन्दरों को सीता को ढूँढ़ने के लिये भेज सकेगा ॥ २५ ॥

दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम् ।
स यास्यति वरारोहां निर्मलां रावणालये ॥ २६ ॥

तुम्हारे वियोग में चिन्तित निष्कलङ्क सुन्दरी सीता का पता लगा—यदि वह रावण के घर में हुई तो भी—वहाँ से ला कर उन्हें तुमसे मिला देगा ॥ २६ ॥

स मेरुशृङ्गाग्रगतामनिन्दितां
प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम् ।
प्लवङ्गमानां प्रवरस्तव प्रियां
निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति ॥ २७ ॥

इति द्विसप्ततितमः सर्गः ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह वानरश्रेष्ठ ऐसा प्रतापी है कि, चाहे सीता मेरुपर्वत के शिखर पर गयी हो अथवा पाताल में हो, वह वहाँ जा और राक्षसों को मार कर, तुम्हें लाकर दे देगा ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

—:*:—

निदर्शयित्वा रामाय सीतायाः प्रतिपादने ।
वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कबन्धः पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

कबन्ध सीता जी के मिलने का इस प्रकार उपाय बतला, फिर भी श्रीरामचन्द्र जी से अर्थयुक्त वचन कहने लगा ॥ १ ॥

एष राम शिवः पन्था यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः ।
प्रतीचीं दिशमाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! वहाँ जाने के लिये आपको यह रास्ता सुखदायी होगा, क्योंकि ये जहाँ फूले हुए मनोहर वृक्ष लग रहे हैं। वे वृक्ष पश्चिम की ओर देखने से देख पड़ेंगे ॥ २ ॥

जम्बूप्रियालपनसप्लक्षन्यग्रोधतिन्दुकाः ।
अश्वत्थाः कर्णिकाराश्च चूताश्चान्ये च पादपाः ॥ ३ ॥

देखो, जामुन, चिरोंजी, कटहर, बड़, पाकर, तेंदू, पीपल, कठ, चम्पा और आम के अनेक वृक्ष हैं ॥ ३ ॥

धन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः ।
नीलाशोकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ४ ॥

धव, नागकेसर, तिलक, करञ्ज, नील, अशोक, कदंब और पुष्पित कनैर ॥ ४ ॥

अग्निमुख्या अशोकश्च सुरक्ताः पारिभद्रकाः ।
तानारुह्याथवा भूमौ पातयित्वा च तान्बलात् ॥ ५ ॥

अरूस, अशोक, रक्तचन्दन और मन्दार-नामक वृक्ष लगे हैं। या तो इन पर चढ़ कर अथवा बलपूर्वक उनकी डालें झुका कर ॥ ५ ॥

फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन्तौ गमिष्यथः ।
तदतिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥

अमृत की तरह मीठे फलों को तोड़ और उनको खाते हुए तुम दोनों जन चले जाना। हे काकुत्स्थ ! उस पुष्पित वृक्षों से युक्त वन को नांघने पर ॥ ६ ॥

नन्दनप्रतिमं चान्यत्कुरवो ह्युत्तरा इव ।
सर्वकामफला वृक्षाः पादपास्तु मधुस्रवाः ॥ ७ ॥

तुमको नन्दन और उत्तर कुरु की तरह रक्तवन मिलेगा। इस वन के वृक्षों में सदा फल फूला करते हैं और बड़े मीठे और रसदार होते हैं ॥ ७ ॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा ।
फलभारानतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥ ८ ॥

उस वन में, चैत्ररथ वन की तरह वृक्षों में सब ऋतुओं के फल लगा करते हैं। फलों के बोझ से वहां के वृक्ष झुके रहते हैं ॥ ८ ॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसन्निभाः ।
तानारुह्यथ वा भूमौ पातयित्वा यथासुखम् ॥ ९ ॥

बड़ी बड़ी शाखाओं के कारण वहां के वृक्ष पर्वताकार मेघों की तरह सुशोभित देख पड़ते हैं। हे राम! इन वृक्षों पर चढ़ कर अथवा ज़मीन पर गिरा कर—जैसे सुविधा हो वैसे ॥ ९ ॥

फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्मणस्ते प्रदास्यति ॥
चङ्क्रमन्तौ वारान्देशाञ्शैलाञ्छैलं वनाद्वनम् ॥ १० ॥

लक्ष्मण जी उन अमृत की तरह स्वादिष्ट फलों को लाकर तुमको दे दिया करेंगे! इस प्रकार कितने ही सुन्दर देशों, पर्वतों और वनों में घूमते फिरते ॥ १० ॥

ततः पुष्करिणीं वीरौ पम्पां नाम गमिष्यथः ।
अशर्करामविभ्रंशां समतीर्थामशैवलाम् ॥ ११ ॥

तुम दोनों पम्पा नामक सरोवर पर पहुँचोगे। इस सरोवर के भीतर न तो सिवार (एक प्रकार की पानी में जमने वाली घास) है और न कंकड़ियां हैं। इसके तट की भूमि पर चिकलाहट भी नहीं है। इसके सब घाट भी एक से बने हैं ॥ ११ ॥

राम सञ्जातवालूकां कमलोत्पलशालिनीम् ।
तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरराश्चैव राघव ॥ १२ ॥

हे राम! उसमें अच्छी रेती है। उसमें कमल फूला करते हैं हे राघव! वहां हंस, राजहंस, क्रौंच और कुरर रहते हैं ॥ १२ ॥

[1]वल्गुस्वना निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः[2] ।
नोद्विजन्ते नरान्दृष्ट्वा [3]वधस्याकोविदाः शुभाः ॥ १३ ॥

सरोवर में तैरते हुए बड़ी प्यारी बोलियाँ बोला करते हैं। वे मनुष्यों को देख डरते नहीं; क्योंकि वध क्या होता है सो वे जानते ही नहीं (अर्थात् वहाँ कोई पक्षी नहीं मारने पाता) ॥ १३ ॥

घृतपिण्डोपमान्स्थूलांस्तान्द्विजान्भक्षयिष्यथः ।
रोहितान्वक्रतुण्डांश्च नडमीनांश्च राघव ॥ १४ ॥

हे राघव ! उन घृतपिण्ड की तरह मोटे मोटे पक्षियों को और रोहू, वक्रतुण्ड, नड नामक मछलियों को मार कर तुम खाना ॥१४॥

पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान्हतान् ।
निस्त्वक्पक्षानयस्तप्तान[4]कृशानेककण्टकान् ॥ १५ ॥

हे रामचन्द्र ! जिनके पंख नहीं होते और जो बड़ी मोटी होती हैं एवं त्वचा और बहुत काँटों वाली बढ़िया मछलियों को काँटे में छेद कर और आग पर भूंज कर (कबाब बना कर) ॥ १५ ॥

तव भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्प्रदास्यति ।
भृशं ते खादतो मत्स्यान्पम्पायाः पुष्पसञ्चये ॥ १६ ॥

बड़े चाव से लक्ष्मण तुमको देंगे। कमल पुष्पों में विचरती हुई बहुत सी मछलियों को तुम खाना ॥ १६ ॥

पद्मगन्धि शिवं[5]वारि सुखशीतमनामयम् ।
उद्धृत्य सतताक्लिष्टं रौप्यस्फाटिकसन्निभम् ॥ १७ ॥

---

१ वल्गुस्वनाः—रम्यस्वनाः । (गो०) २ सलिलगोचराः—सलिलचारिणः (गो०) ३ वधस्याकोविदाः—वधमजानानाः । (गो०) ४ अयस्तप्तान्—अयः-शूलाग्रप्रोततया पक्वान् । (गो०) ५ शिवं—पापापहं । (गो०)

असौ पुष्करपर्णेन लक्ष्मणः पाययिष्यति ।
स्थूलान्गिरिगुहाशय्यान्वराहान्वनचारिणः ॥ १८ ॥
अपां लोभादुपावृत्तान्वृषभानिव नर्दतः ।
[1]रूपान्वितांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ॥ १९ ॥

पम्पा सरोवर का कमल पुष्प की सुगन्धि से युक्त, रोगहर, पापनाशक, आनन्ददायक, सुशीतल, चांदी और स्फटिक पत्थर की तरह स्वच्छ जल, लक्ष्मण कमल के पत्तों में लाकर तुमको पिलावेंगे। पर्वत कंदरों में सोने वाले तथा वन में विचरने वाले बड़े मोटे मोटे सुन्दर सुअर जो पम्पा सरोवर के तट पर बैल की तरह बोलते हुए जल पीने आया करते हैं, तुमको देख पड़ेंगे ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

सायाह्ने विचरन्राम विटपीन्माल्यधारिणः ।
शीतोदकं च पम्पाया दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ॥ २० ॥

हे श्रीराम ! सन्ध्या के समय जब तुम वहां घूमा करोगे तब तुम को बड़ी बड़ी शाखाएं वाले और फूले हुए वृक्षों तथा पम्पा सरोवर के शीतल जल को देख कर तुम्हारा शोक दूर हो जायगा ॥ २० ॥

सुमनोभिश्चितांस्तत्र तिलकान्नक्तमालकान् ।
उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ॥ २१ ॥

हे राघव ! वहां पर तिलक और करंज के वृक्ष फूलों से लदे हैं। कुई और कमल के फूल वहां फूले हुए हैं ॥ २१ ॥

न तानि कश्चिन्माल्यानि तत्रारोपयिता[2] नरः ।
न च वै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ॥ २२ ॥

---

१ रूपान्वितान्—सौन्दर्यवतः। (गो०) २ आरोपयिता—गृहीत्वाग्रथिता। (गो०)

हे राघव ! किन्तु इन फूलों की माला बनाने वाला कोई आदमी वहाँ नहीं रहता। वहाँ के पुष्प न कभी मुरझाते हैं, न अपने आप गिरते हैं॥ २२॥

मतङ्गशिष्यास्तत्रासन्नृषयः सुसमाहिताः।
तेषां भाराभितप्तनां वन्यमाहरतां गुरोः॥ २३॥

वहाँ पर मतङ्ग ऋषि के शिष्य ऋषि लोग एकाग्रचित्त होकर रहते थे। जब वे गुरु के लिये वन के फल फूल कंद लेने जाते और बोझ से पीड़ित होते॥ २३॥

ये प्रपेतुर्महीं तूर्णं शरीरात्स्वेदबिन्दवः।
तानि जातानि माल्यानि मुनीनां तपसा तदा॥ २४॥

तब उनकी देह से पसीने की जो बूंदें टपकतीं, वे उनकी तपस्या के प्रभाव से फूल हो जाती थीं॥ २४॥

स्वेदबिन्दुसमुत्थानि न विनश्यन्ति राघव।
तेषामद्यापि तत्रैव दृश्यते परिचारिणी॥ २५॥

हे राघव! पसीने की बूंदों से उत्पन्न होने के कारण वे फूल कभी नष्ट नहीं होते। (वे ऋषि लोग तो उस स्थान को त्याग कर चले गये हैं) परन्तु उनकी परिचारिका अब तक वहाँ देख पड़ती है॥ २५॥

[1]श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी।
त्वां तु धर्मे[2] स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्कृतम्॥ २६॥

---

१ श्रमणी—संन्यासिनी। (गो०) २ धर्मे—गुरु परिचरणधर्मे। (गो०

दृष्ट्वा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति ।
ततस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम् ॥ २७ ॥

हे काकुत्स्थ ! उसका नाम शबरी है । वह संन्यासिनी है और वह बहुत बूढ़ी है । परन्तु वह गुरुपरिचर्या में सदा निरत रहने वाली शबरी देवोपम और सब लोगों से नमस्कार किये जाने योग्य, आपके दर्शन कर, स्वर्ग को चल देगी । पम्पा के पश्चिम तीर पर ॥ २६ ॥ २७ ॥

आश्रमस्थानमतुलं[1] गुह्यं[2] काकुत्स्थ पश्यसि ।
न तत्राक्रमितुं नागाः शक्नुवन्ति तमाश्रमम् ॥ २८ ॥

तुमको अनुपम एक ऐसा आश्रम देख पड़ेगा, जिसे दुर्गम होने के कारण, अन्य लोग नहीं देख सकते । हाथी उस आश्रम को नहीं नष्ट कर सकते ॥ २८ ॥

विविधास्तत्र वै नागा वने तस्मिंश्च पर्वते ।
ऋषेस्तत्र मतङ्गस्य विधानात्तच्च काननम् ॥ २९ ॥

यद्यपि वहाँ के वन और वहाँ के पर्वत पर बहुत से हाथी रहा करते हैं, तथापि मतङ्ग ऋषि के प्रभाव से उस आश्रम के वन को नष्ट भ्रष्ट नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

[मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ।]
तस्मिन्नन्दनसङ्काशे देवारण्योपमे वने ॥ ३० ॥

हे रघुनन्दन ! वह वन मतङ्गवन के नाम से प्रसिद्ध है । हे श्रीराम ! वह वन देवताओं के नन्दन वन की तरह रमणीक है ॥ ३० ॥

---

१ अतुलं—अनुपमम् । (गो०) २ गुह्यं—इतरैरदर्शनीयं । (गो०)

नानाविहगसङ्कीर्णे रंस्यसे राम निर्वृतः[1] ।
ऋश्यमूकश्च पम्पायाः पुरस्तात्पुष्पितद्रुमः ॥ ३१ ॥

उसमें भाँति भाँति के दुःख त्याग कर पक्षी रहते हैं । हे श्रीराम ! उस वन में तुम विहार करना । पम्पा सरोवर के सामने ही पुष्पित वृक्षों से शोभित ऋष्यमूक नामक पर्वत है ॥ ३१ ॥

सुदुःखारोहणो नाम शिशुनागाभिरक्षितः ।
उदारो ब्रह्मणा चैव पूर्वकाले विनिर्मितः ॥ ३२ ॥
शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि ।
यत्स्वप्ने लभते वित्तं तत्प्रबुद्धोऽधिगच्छति ॥ ३३ ॥

उस दुरारोह पर्वत की रखवाली छोटे छोटे हाथी के बच्चे किया करते हैं । इस पर्वत को उदारमना ब्रह्मा जी ने पूर्वकाल में स्वयं बनाया था। उस पर्वत के शिखर पर यदि कोई पुरुष सोवे और स्वप्न में उसे धन का मिलना देख पड़े तो, जागने पर भी उसे धन मिलता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

न त्वेनं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ।
यस्तु तं विषमाचारः पापकर्माधिरोहति ॥ ३४ ॥
तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसाः ।
तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः श्रूयते महान् ॥ ३५ ॥

पापाचारी और पापी पुरुष उस पर्वत पर नहीं चढ़ सकता । यदि कोपाचारी और पापी पुरुष उस पर चढ़ भी जाय तो जब

---

[1] निर्वृतः—निवृत्तदुःख । (गो०)

वह सोता है तब राक्षस लोग उसे मार डालते हैं। वहाँ पर छोटे हाथियों का चिंघारना बहुत सुन पड़ता है॥ ३४॥ ३५॥

क्रीडतां राम पम्पायां मतङ्गारण्यवासिनाम्।
सिक्ता रुधिरधाराभिः संहृत्य परमद्विपाः॥ ३६॥
प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेघवर्णास्तरस्विनः।
ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं शीतमव्ययम्॥ ३७॥

हे श्रीराम! ये महागज मतङ्ग ऋषि के वन में क्रीड़ा करते और वहीं रहते हैं। वे सब लाल मद की धारों से तर, कभी तो गिरोह बांध घूमते हैं, कभी अलग अलग चरते हैं। उनके शरीर का रंग काले मेघ जैसा है और वे बड़े बलवान हैं। वे वहां पर पम्पा सरोवर का कभी न विघटने वाला, निर्मल और शीतल जल पीकर ॥ ३६॥ ३७॥

निर्वृताः संविगाहन्ते[1] वनानि वनगोचराः।
ऋक्षांश्च द्वीपिनश्चैव नीलका[2]मलकप्रभान्॥ ३८॥
रुरूनपेतापजयान्दृष्ट्वा शोकं जहिष्यसि।
राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा॥ ३९॥
शिलापिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्याः प्रवेशनम्।
तस्या गुहायाः प्राग्द्वारे महाञ्शीतोदको ह्रदः॥ ४०॥

और अपनी प्यास मिटा, वन में प्रवेश कर, वन में विचरा करते हैं। हे राम! रीछ, बाघ और नीलम मणि की तरह प्रभा

---

१ संविगाहन्ते—प्रविशन्ति। (गो०) २ नीलकोमलकप्रभान्—नील रत्नवन्मनोज्ञ प्रभान्। (गो०)

वाले रुरु मृगों को देखने से तुम्हारा दुःख दूर ही जायगा। वहाँ पर एक पहाड़ी बड़ी गुफा है। उसका द्वार एक शिला से बंद रहता है। उसके भीतर जाना बड़ा कष्टदायक है। उस गुफा के मुहारे के सामने ही शीतल जल का एक बड़ा सरोवर है॥ ३८॥ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

फलमूलान्वितो रम्यो नानामृगसमावृतः।
तस्यां वसति सुग्रीवश्चतुर्भिः सह वानरैः॥ ४१॥

वहाँ अनेक फल और मूल हैं। भाँति भाँति के बनैले जीव जन्तु उसके इर्दगिर्द घूमा फिरा करते हैं। उसीमें अपने साथी चार वानरों के सहित सुग्रीव रहा करता है॥ ४१॥

कदाचिच्छिखरे तस्य पर्वतस्यावतिष्ठते।
कबन्धस्त्वनुशास्यैवं तावुभौ रामलक्ष्मणौ॥ ४२॥

कभी कभी वह पर्वतशिखर पर भी जा बैठा करता है। इस प्रकार श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जी को सब बातें बतला कर वह कबंध राक्षस॥ ४२॥

स्रग्वी भास्करवर्णाभः खे व्यरोचत वीर्यवान्।
तं तु खस्थं महाभागं कबन्धं रामलक्ष्मणौ॥
प्रस्थितौ त्वं व्रजस्वेति वाक्यमूचतुरन्तिके॥ ४३॥

माला धारण किये सूर्य की तरह चमचमाता हुआ वीर्यवान वह राक्षस आकाश में जा शोभायमान हुआ। उस बड़े भाग्यवान को देख, श्रीराम और लक्ष्मण ने उससे कहा कि, अच्छा अब हम तो सुग्रीव के पास जाते हैं, तुम भी स्वर्ग को जाओ॥ ४३॥

गम्यतां कार्यसिद्ध्यर्थमिति तावब्रवीत्स च ।
सुप्रीतौ तावनुज्ञाप्य कबन्धः प्रस्थितस्तदा ॥ ४४ ॥

इस पर कबंध ने कहा कि, आप भी अपना काम सिद्ध करने के लिये जाइये। तब कबंध हर्षित श्रीराम लक्ष्मण से बिदा हो, वहाँ से प्रस्थानित हुआ ॥ ४४ ॥

स तत्कबन्धः प्रतिपद्य रूपं
वृतः श्रिया भास्करतुल्यदेहः ।
निदर्शयन्राममवेक्ष्य खस्थः
सख्यं कुरुष्वेति तदाऽभ्युवाच ॥ ४५ ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार कबन्ध अपना पूर्वरूप प्राप्त कर शोभायुक्त, देदीप्यमान अपनी देह को दिखला और आकाश में स्थित हो श्रीराम को देख कर उनसे बोला कि, आप जाकर सुग्रीव से मैत्री कीजिये ॥ ४५ ॥

अरण्यकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—*—

तौ कबन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने ।
प्रतस्थतुर्दिशं गृह्य प्रतीचीं नृवरात्मजौ ॥ १ ॥

वे दोनों राजकुमार कबन्ध के बतलाये मार्ग को धर पश्चिम की ओर उस वन में हो कर चले ॥ १ ॥

तौ शैलेष्वाचितानेकान्क्षौद्रकल्पफलान्द्रुमान् ।
वीक्षन्तौ जग्मतुर्द्रष्टुं सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण पहाड़ों पर तरह तरह के शहद की तरह मीठे फलों से फले हुए वृक्षों को देखते हुए, सुग्रीव से मिलने के लिये चले जाते थे ॥ २ ॥

कृत्वा च शैलपृष्ठे तु तौ वासं रामलक्ष्मणौ ।
पम्पायाः पश्चिमं तीरं राघवावुपतस्थतुः ॥ ३ ॥

श्रीराम लक्ष्मण रास्ते में एक पर्वत के ऊपर टिक कर पम्पा सरोवर के और पश्चिम तट पर जा पहुँचे ॥ ३ ॥

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम् ।
अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥ ४ ॥

पम्पा सरोवर के पश्चिमी तट पर पहुँच वहाँ उन्होंने शबरी का रमणीक आश्रम देखा ॥ ४ ॥

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्बहुभिरावृतम् ।
सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतुः ॥ ५ ॥

बहुत से वृक्षों से घिरे हुए शबरी के आश्रम में जा और वहाँ की रमणीयता देखते हुए, वे शबरी के निकट जा पहुँचे ॥ ५ ॥

तौ च दृष्ट्वा तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
रामस्य पादौ जग्राह लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ ६ ॥

वह सिद्धा शबरी इन दोनों भाइयों को देखते ही हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी। फिर उसने दोनों बुद्धिमान भाइयों के चरणों का स्पर्श किया ॥ ६ ॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ।
तामुवाच ततो रामः श्रमणीं शंसितव्रताम् ॥ ७ ॥

फिर उसने अर्घ्य, पाद्य, आचमन आदि यथाविधि अर्पण कर उनका आतिथ्य किया। तब श्रीरामचन्द्र जी ने धर्म निरता शबरी से पूछा ॥ ७ ॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः[1] कच्चित्ते वर्धते तपः ।
कच्चित्ते नियतः[2] क्रोध आहारश्च तपोधने ॥ ८ ॥

कामादि छः रिपुओं को जो तपस्या में विघ्न डाला करते हैं, तुमने जीत तो लिया है ? तुम्हारी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ती तो जाती है ? तुमने क्रोध को तो अपने वश में कर रखा है ? हे तपोधने ! तुम आहार में तो संभल कर रहती हो न ? ॥ ८ ॥

कच्चित्ते नियमाः[3] प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्[4] ।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ॥ ९ ॥

हे चारुभाषिणी ! तुम्हारे सब व्रत तो ठीक ठीक चले जाते हैं ? तुम्हारा मन सन्तुष्ट तो रहता है ? क्या तुम्हारी गुरु-शुश्रुषा सफल हुई ॥ ९ ॥

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्मता ।
शशंस शबरी वृद्धा रामाय प्रत्युपस्थिता ॥ १० ॥

---

१ विघ्ना—तपोविघ्नाः कामादयः। (गो) २ नियतः—निगृहीतः। (गो०)
३ नियमाः—व्रतानि। (गो०) ४ मनसः सुखं—मनः सन्तोषः। (गो०)

जब श्रीरामचन्द्र जी ने शबरी से ये प्रश्न किये, तब सिद्धपुरुषों की मान्य वह सिद्धा तपस्विनी श्रीराम से कहने लगी ॥ १० ॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं तप्तं गुरवश्च सुपूजिताः ॥ ११ ॥

आपके दर्शन करके मुझे आज तप करने का फल मिल गया। आज, मेरा तप करना और गुरु की सेवा करना सफल हुआ ॥११॥

अद्य मे सफलं जन्म स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥

यही क्यों, आज मेरा जन्म भी सफल हो गया। हे देवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र! आज आपका पूजन कर, मुझे स्वर्ग भी मिल जायगा ॥ १२ ॥

चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि रघुनन्दन।
गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम ॥ १३ ॥

हे श्रीराम! आपके निर्हेतुक कृपाकटाक्ष से आज मैं पवित्र हो गयी। हे अरिन्दम! आपकी कृपा से मुझे अब अक्षय्य लोकों की भी प्राप्ति होगी ॥ १३ ॥

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः।
इतस्ते दिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम् ॥ १४ ॥

हे श्रीराम! जब आप चित्रकूट में पधारे थे, तब वे ऋषिलोग जिनकी मैं सेवा किया करती थी, दिव्य विमानों में बैठ स्वर्ग को चले गये ॥ १४ ॥

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः।
आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम् ॥ १५ ॥

जाते समय वे महाभाग और धर्मज्ञ महर्षि मुझसे यह कह गये कि, श्रीरामचन्द्र तेरे इस पुण्यजनक आश्रम में आवेंगे ॥ १५ ॥

स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः ।
तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

उस समय तू उनका और उनके साथी लक्ष्मण का स्वागत कर आतिथ्य करना। उनके दर्शन करने से तुझे श्रेष्ठ अक्षय्य लोकों की प्राप्ति होगी ॥ १६ ॥

मया तु विविधं वन्यं सञ्चितं पुरुषर्षभ ।
तवार्थे पुरुषव्याघ्र पम्पायास्तीरसंभवम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषोत्तम ! मैंने आपके लिये पम्पा सरोवर के निकटवर्ती वन से अनेक वन में उत्पन्न होने वाले कन्दमूल फलों को इकट्ठा कर रखा है ॥ १७ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ।
राघवः प्राह विज्ञाने[1] तां नित्यमबहिष्कृताम् ॥ १८ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ये वचन सुन अति दुर्लभ परमात्मा का ज्ञान रखने वाली उस शबरी से बोले ॥ १८ ॥

दनोः सकाशात्तत्त्वेन प्रभावं ते महात्मनः ।
श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संद्रष्टुं यदि मन्यसे ॥ १९ ॥

हे तपस्विनी ! मैंने दनु के मुख से तुम्हारे महात्मा मुनियों के प्रभाव को भली भाँति से सुन रखा है। किन्तु यदि तुम्हें मेरी बात पसंद हो तो, मुझे प्रत्यक्ष उनका प्रभाव दिखला दो ॥ १९ ॥

---

१ विज्ञाने नित्यबहिष्कृताम्—अतिदुर्लभपरमात्मज्ञानेविज्ञानवतीं। (शि०)

एतत्तु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्राद्विनिःसृतम् ।
शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से निकले हुए ये वचन सुन, शबरी ने दोनों भाइयों को वह बड़ा वन दिखलाया ॥ २० ॥

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम् ।
मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ॥ २१ ॥

वह बोली—हे रघुनन्दन ! मृगों और पक्षियों से भरा पूरा और काले बादल की तरह श्याम रङ्ग का यह वन देखिये। यह मतङ्ग वन के नाम से प्रसिद्ध है ॥ २१ ॥

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महावने* ।
जुहवांचक्रिरे[1] तीर्थं[2] [3]मन्त्रवन्मन्त्रपूजितम् ॥ २२ ॥

इसी महावन में विशुद्धात्मा और मंत्रों को जानने वाले गुरु लोग वैदिक मंत्रों से यज्ञ किया करते थे और उन्होंने गङ्गादि पवित्र तीर्थों को मंत्रशक्ति से यहाँ बुलाया था ॥ २२ ॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदिर्यत्र ते मे सुसत्कृताः ।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः ॥ २३ ॥

यही वह प्रत्यक्स्थल नाम की वेदी है, जहाँ बैठ कर मेरे पूज्य गुरुलोग पुष्पाञ्जलि (वृद्धावस्था के कारण) थर थराते हुए हाथों से अर्पण किया करते थे ॥ २३ ॥

---

१ जुहवांचक्रिरे—आहूतवन्तः । (गो०) २ तीर्थं—गंगादिपुण्यसलिलं । (गो०) ३ मन्त्रवत्—मन्त्रवतां । (गो०) * पाठान्तरे—"महाद्युते," "महामते ।"

तेषां तपःप्रभावेण पश्याद्यापि रघूद्वह ।
द्योतयन्ति दिशः सर्वा श्रिया वेद्योऽतुलप्रभाः ॥ २४ ॥

हे रघुनन्दन! देखिये उनके तपोबल से आज भी यह वेदी अपनी अतुलित प्रभा से सब दिशाओं को प्रकाशित कर रही है ॥ २४ ॥

अशक्नुवद्भिस्तैर्गन्तुमुपवासश्रमालसैः ।
चिन्तितेऽभ्यागतान्पश्य सहितान्सप्त सागरान् ॥ २५ ॥

जब उपवास करते करते वे निर्बल हो गये, तब उनके चिन्तवन करते ही सातों समुद्र उनके स्नानार्थ यहाँ प्रकट हुए। सो इन सातों समुद्रों को देखिये ॥ २५ ॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता वल्कलाः पादपेष्विह ।
अद्यापि नावशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ॥ २६ ॥

इस जगह स्नान करके उन्होंने अपने जो गीले वल्कल वस्त्र इन वृक्षों पर सुखाये थे, वे आज तक नहीं सूखे ॥ २६ ॥

देवकार्याणि कुर्वद्भिर्यानीमानि कृतानि वै ।
पुष्पैः कुवलयैः सार्धं म्लानत्वं नोपयान्ति वै ॥ २७ ॥

देवताओं के पूजन में उन लोगों ने जो कोमल हाल की खिली कलियाँ चढ़ाई थीं, वे अब तक नहीं मुरझायी हैं ॥ २७ ॥

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया ।
तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्तुमेतत्कलेवरम् ॥ २८ ॥

उनके वन में जो सब वस्तुएं देखने योग्य थीं, वे सब आपने देखीं

और उनके सम्बन्ध में जो बातें सुनने योग्य थीं, वे सब आपने सुन लीं। अब मैं आपकी आज्ञा से चाहती हूँ कि, इस शरीर को त्याग दूँ ॥ २८ ॥

तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम्।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी ॥ २९ ॥

जिससे मैं उन धर्मात्मा महर्षियों के पास जा सकूँ, जिनकी मैं दासी हूँ और जिनका यह आश्रम है ॥ २९ ॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः।
प्रहर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति तत्त्वतः ॥ ३० ॥

उस धर्मिष्ठा शबरी के वचन सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे, सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ ३० ॥

तामुवाच ततो रामः श्रमणीं संशितव्रताम्।
अर्चितोऽहं त्वयाभक्त्या गच्छ कामं यथासुखम् ॥३१॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी दृढ़ व्रत धारिणी शबरी से बोले कि, हे भद्रे! तूने हमारा भली भाँति पूजन किया अब तू सुख पूर्वक जहाँ जाना चाहती हो वहाँ चली जा ॥ ३१ ॥

इत्युक्ता जटिला वृद्धा चीरकृष्णाजिनाम्बरा।
तस्मिन्मुहूर्ते शबरी देहं जीर्णं जिहासती ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र का यह वचन सुन उसी घड़ी वह जटाधारिणी तथा चीर एवं कृष्ण मृगचर्म को पहिरने वाली शबरी अपनी पुरानी देह को त्यागने की इच्छा से ॥ ३२ ॥

अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ।
ज्वलत्पावकसङ्काशा स्वर्गमेव जगाम सा ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की अनुमति ले, जलती हुई आग में कूद पड़ी। फिर उस अग्नि में से प्रज्वलित अग्नि की तरह चमचमाता रूप धारण कर, वह निकली और स्वर्ग को चली गयी ॥ ३३ ॥

दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना ।
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना ॥ ३४ ॥

उस समय वह बढ़िया आभूषण पहिने हुए थी। उसके शरीर में दिव्य चन्दन लगा हुआ था। वह सुन्दर वस्त्र पहिने हुए थी। आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित हो वह देखने में बड़ी सुन्दरी जान पड़ती थी ॥ ३४ ॥

विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामिनी यथा ।
यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तत्पुण्यं शवरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥ ३५ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

वह अपने शरीर की प्रभा से वहाँ ऐसा प्रकाश कर रही थी, जैसे बिजली अपने प्रकाश से चारों ओर प्रकाश कर दिया करती है। उसके गुरु धर्मात्मा महर्षि लोग जिन लोकों में विहार करते थे, वहीं वह शबरी भी अपने समाधिबल से जा पहुँची ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—:*:—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—:*:—

दिवं तु तस्यां यातायां शबर्यां स्वेन तेजसा।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयामास राघवः॥ १॥

जब शबरी अपने तेज के प्रभाव से स्वर्ग को चली गयी, तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण सहित सोचने लगे॥ १॥

स चिन्तयित्वा धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम्।

हितकारिणमेकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत्॥ २॥

और उन महात्माओं के प्रभाव को सोच एकमात्र परम हितैषी अपने भाई लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी बोले। २॥

दृष्टोऽयमाश्रमः सौम्य बह्वाश्चर्यः कृतात्मनाम्।

[1]विश्वस्तमृगशार्दूलो नानाविहगसेवितः॥ ३॥

हे सौम्य! मैंने उन महात्माओं का यह आश्रम देखा। यहाँ तो अनेक आश्चर्यमय वस्तुएं देख पड़ती हैं। देखो न यहाँ पर हिरन और सिंह तथा अनेक पक्षी आपस का वैरभाव त्याग कर बसे हुए हैं॥ ३॥

सप्तानां च समुद्राणामेषु तीर्थेषु लक्ष्मण।

उप[2]स्पृष्टं च विधिवत्पितरश्चापि तर्पिताः॥ ४॥

---

१ विश्वस्ताः—विश्वासं प्राप्ताः परस्परहिंसकत्वरहिताः। (गो०) २ उपस्पृष्टं—स्नातं। (गो०)

प्रनष्टमशुभं तत्तत्कल्याणं समुपस्थितम् ।
तेन तत्त्वेन हृष्टं मे मनो लक्ष्मण सम्प्रति ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैंने उनके इस सप्तसागर तीर्थ में स्नान कर विधि- वत् ;पितृतर्पण भी किया। इससे मेरा जो अशुभ था वह दूर हो गया और शुभ आकर अब उपस्थित हुआ। सो अशुभ के नष्ट होने और शुभ के प्राप्त होने से इस समय मेरा मन, हे लक्ष्मण ! अत्यन्त हर्षित है ॥ ४ ॥ ५ ॥

हृदये हि नरव्याघ्र शुभमाविर्भविष्यति ।
तदागच्छ गमिष्यावः पम्पां तां प्रियदर्शनाम् ॥ ६ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय मेरे हृदय में शुभ भावों का आविर्भाव होगा। सो अब आओ पम्पा सरोवर के तट पर चलें ॥ ६ ॥

ऋश्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते ।
यस्मिन्वसति धर्मात्मा सुग्रीवोंऽशुमतः सुतः ॥ ७ ॥

वहाँ से वह ऋष्यमूक पर्वत भी समीप ही देख पड़ता है, जिस पर सूर्य के पुत्र धर्मात्मा सुग्रीव रहते हैं ॥ ७ ॥

नित्यं वालिभयात्त्रस्तश्चतुर्भिः सह वानरैः ।
अभित्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ ८ ॥

सुग्रीव सदा वाली के भय से त्रस्त हो, चार वानरों सहित वहाँ पर रहते हैं। अतः मैं उन वानरश्रेष्ठ सुग्रीव को देखने के लिये शीघ्र ही चलूँगा ॥ ८ ॥

तदधीनं हि मे सौम्य सीतायाः परिमार्गणम् ।
एवं ब्रुवाणं तं धीरं रामं सौमित्रिरब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे सौम्य ! क्योंकि सीता जी की खोजना उसीके अधीन है। इस प्रकार कहते हुए वीर श्रीरामचन्द्र से लक्ष्मण जी बोले ॥ ९ ॥

गच्छावस्त्वरितं तत्र ममापि त्वरते मनः।
आश्रमात्तु ततस्तस्मान्निष्क्रम्य स विशांपतिः ॥ १० ॥

हाँ, वहाँ शीघ्र ही पहुँचना चाहिये। मेरा मन भी वहाँ पहुँचने के लिये जल्दी कर रहा है। यह सुन पृथ्वीश्वर दोनों भाई उस मातङ्गाश्रम से रवाना हुए ॥ १० ॥

आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सहप्रभुः* ।
स ददर्श ततः पुण्याम्[1] उदारजनसेविताम् ॥ ११ ॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी पम्पा के तट पर पहुँचे और उन्होंने उस झील को देखा जिसके तट पर तपस्या करने वाले ऋषि मुनि रहा करते थे ॥ ११ ॥

नानाद्रुमलताकीर्णां पम्पां पानीयवाहिनीम्[2] ।
पद्मैः सौगन्धिकैः[3] ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः ॥ १२ ॥

पम्पा नाम की झील के चारों ओर सघन वृक्ष और लताएँ लगी हुई थीं और इसका जल पीने में शीतल और स्वादिष्ट था। उसमें लाल लाल कमल और सफेद कुईं के फूल फूल रहे थे ॥ १२ ॥

नीलां कुवलयोद्‌धाटैर्बहुवर्णां[4] कुथामिव ।
स तामासाद्य वै रामो दूरादुदकवाहिनीम् ॥ १३ ॥

---

१ उदारजनाः—मुनिप्रभृतयः। (गो०) २ पानीयवाहिनीं—पानार्हशीतल स्वादु जलवतीमित्यर्थः। (गो०) ३ सौगन्धिकैः—कल्हारैः। (गो०) ४ कुवलयोद्धाटैः—कुवलयसमूहैः। (गो०) कुथा—चित्र कम्बलं। (गो०)

* पाठान्तरे—सहाभिभूः।

मतङ्गसरसं नाम ह्रदं समवगाहत ।
अरविन्दोत्पलवतीं पद्मसौगन्धिकायुताम् ॥ १४ ॥
पुष्पिताम्रवणोपेतां बर्हिणोद्घुष्टनादिताम् ।
तिलकैर्बीजपूरैश्च धवैः शुक्लद्रुमैस्तथा ॥ १५ ॥
पुष्पितैः करवीरैश्च पुंनागैश्च सुपुष्पितैः ।
मालतीकुन्दगुल्मैश्च भाण्डीरैर्निचुलैस्तथा ॥ १६ ॥
अशोकैः सप्तपर्णैश्च केतकैरतिमुक्तकैः ।
अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव भूषिताम् ॥ १७ ॥

सरोवर में नीले रङ्ग के कमल के फूल भी थे। इन सफेद, लाल और नीले कमलों से ऐसा ज्ञान पड़ता था, मानों रङ्ग विरङ्गा कंबल बिछा हो। फिर श्रीरामचन्द्र जी मतङ्गसर नाम के कुण्ड पर गये। इस कुण्ड का जल उत्तम था और दूर से बह कर वह उसमें गिरता था। श्रीरामचन्द्र जी ने इस ह्रद में स्नान किये। ह्रद में खुशबूदार लाल, नीले सफेद कमल खिले हुए थे। उसके चारोंओर पुष्पित आम का वन था और उस वन में मोर बोल रहे थे। तिलक, बीजपूरक, वट, लोध, फूली हुई कनैर और फूले हुए पुन्नाग, मालती, कुंद, गुल्म, भांडीर, निचुल, (हर्फारेवड़ी) अशोक, सप्तपर्ण, केतकि, नेमि आदि वृक्षों से वह वन शृङ्गार की हुई स्त्री की तरह भूषित देख पड़ता था ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

समीक्षमाणौ पुष्पाढ्यं सर्वतो विपुलद्रुमम् ।
कोयष्टिकैश्चार्जुनकैः शतपत्रैश्च कीचकैः ॥ १८ ॥

कोयष्टिका, अर्जुन, शतफ, लंबे बांस आदि के वृक्ष उस वन में फूलों से लदे हुए, दोनों राजकुमारों ने देखे ॥ १८ ॥

एतैश्चान्यैश्च विहगैर्नादितं तु वनं महत् ।
ततो जग्मतुरव्यग्रौ राघवौ सुसमाहितौ ॥ १९ ॥

इनके अतिरिक्त उस वन में और भी वृक्ष थे । वह महावन भाँति भाँति के पक्षियों की बोलियों से गूंज रहा था । दोनों पुरुष-श्रेष्ठ उस वन में अव्यग्र और सावधान हो विचरण करने लगे ॥ १९ ॥

तद्वनं चैव सरसः पश्यन्तौ शकुनैर्युतम् ।
स ददर्श ततः पम्पां शीतवारिनिधिं शुभाम् ॥ २० ॥

उस वन को तथा उस सरोवर को जो पक्षियों से सेवित था-दोनों भाइयों ने भली भाँति घूम फिर कर देखा । तदनन्तर पवित्र शीतल जल के भण्डार पम्पा नामक सरोवर को देखा ॥२०॥

प्रहृष्टनानाशकुनां पादपैरुपशोभिताम् ।
स रामो विविधान्वृक्षान्सरांसि विविधानि च ॥ २१ ॥
पश्यन्कामाभिसन्तप्तो जगाम परमं[1] ह्रदम् ।
पुष्पितोपवनोपेतां सालचम्पकशोभिताम् ॥ २२ ॥

वहाँ पर भाँति भाँति के पक्षी प्रसन्न हो बोल रहे थे और तरह तरह के वृक्षों से वह शोभित हो रहा था । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विविध वृक्षों और तालावों को देखते और कामपीड़ित हो, पम्पा सरोवर पर पहुँचे । वह पम्पा सरोवर फूले हुए साल, चम्पा आदि वृक्षों से युक्त उपवनों से घिरी हुई थी ॥ २१ ॥ २२ ॥

रम्योपवनसंबाधां रम्यां संपीडितोदकाम् ।
स्फटिकोपमतोयाढ्यां श्लक्ष्णवालुकसन्तताम् ॥ २३ ॥

---

1 परमंह्रदम्—पंम्पाख्यसरं । (गो०)

मनोहर वन उसके किनारे पर था वह कमलों से पूर्ण थी और उसका जल ऊपर से गिरने के कारण स्फटिक की तरह निर्मल था और उसकी सुन्दर चिकनी बालू थी ॥ २३ ॥

स तां दृष्ट्वा पुनः पम्पां पद्मसौगन्धिकैर्युताम् ।
इत्युवाच तदा वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः ॥ २४ ॥

तदनन्तर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने उस सुगन्धित कमल के फूलों से युक्त पम्पा सरोवर को पुनः देख लक्ष्मण से कहा ॥ २४ ॥

अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तः पर्वतो धातुमण्डितः ।
ऋश्यमूक इति ख्यातः पुण्यः पुष्पितपादपः ॥ २५ ॥

इसीके किनारे कबन्ध का बतलाया और धातुओं से मण्डित एवं विख्यात ऋष्यमूक पर्वत जिस पर पवित्र पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं, अवस्थित है ॥ २५ ॥

हरेर्ऋक्षरजोनाम्नः पुत्रस्तस्य महात्मनः ।
अध्यास्ते तं महावीर्यः सुग्रीव इति विश्रुतः ॥ २६ ॥

महात्मा वानर ऋक्षराज के पुत्र महाबलवान् सुग्रीव उसी पर रहते हैं ॥ २६ ॥

सुग्रीवमभिगच्छ त्वं वानरेन्द्रं नरर्षभ ।
इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमम् ॥ २७ ॥

सो हे नरश्रेष्ठ ! तुम वानरराज सुग्रीव के पास जाओ। यह कह, फिर श्रीरामचन्द्र जी सत्यपराक्रमी लक्ष्मण से कहने लगे ॥ २७ ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तस्यामासक्तचेतसा ।
कथं मया विना शक्यं सीतां लक्ष्मण जीवितुम् ॥२८॥

हे लक्ष्मण ! मैं राज्य से भ्रष्ट दीन और सीतागतप्राण हो रहा हूँ। विना मेरे सीता क्योंकर जी सकेगी ॥ २८ ।

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः
स लक्ष्मणं वाक्य मनन्यचेतसम्[1] ।
विवेश पम्पां नलिनीं[2] मनोहरां
रघूत्तमः शोकविषादयन्त्रितः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी काम से पीडित हो लक्ष्मण जी से, जो उनकी बात सुनने को सावधान थे इस प्रकार कह और शोक से पीडित हो, उस कमल से युक्त मनोहर पम्पासरोवर में स्नान करने के लिये घुसे ॥ २९ ॥

ततो महद्वर्त्म सुदूरसंक्रमः
क्रमेण गत्वा [3]प्रतिकूलधन्वनम् ।
ददर्श पम्पां शुभदर्शकानना-
मनेकनानाविधपक्षिजालकाम् ॥ ३० ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्

अरण्यकाण्डः समाप्तः ॥

---

१ अनन्यचेतसं—स्ववाक्यश्रवणैकावधानं । (गो०) २ नलिनीं—सरसीं । (गो०) ३ प्रतिकूलधन्वनम्—पथिकजनप्रतिकूलभूतमरुकान्तारं कबन्धवनमित्यर्थः । (गो०)

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, कवन्ध के अत्यन्त भयङ्कर वन को पार कर तथा बहुत दूर चल कर और रास्ते में अनेक दर्शनीय सुन्दर वनों से जो भाँति भाँति के पक्षियों से परिपूर्ण था, शोभित पम्पासरोवर को देखते हुए ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ।

अरण्यकाण्ड समाप्त हुआ ॥

Printed by RAMZAN ALI SHAH, at the National Press, Allahabad.